हिन्दी
11

बाबासाहेब डॉ. अम्बेडकर सम्पूर्ण वाड्मय

ईस्ट इंडिया कंपनी का प्रशासन और वित्त प्रबंध

बाबासाहेब डॉ. अम्बेडकर

सम्पूर्ण वाङ्मय

खंड–11

ईस्ट इंडिया कंपनी का प्रशासन और वित्त प्रबंध

बाबासाहेब डॉ. बी. आर. अम्बेडकर

जन्म : 14 अप्रैल, 1891 परिनिर्वाण 6 दिसंबर, 1956

बाबासाहेब

डॉ. अम्बेडकर

सम्पूर्ण वाङ्मय

खंड 11

डॉ. अम्बेडकर सम्पूर्ण वाङ्मय
खंड 11
ईस्ट इंडिया कंपनी का प्रशासन और वित्त प्रबंध

पहला संस्करण : 1997
दूसरा संस्करण : 2013 (जनवरी)
तृतीय संस्करण : 2013 (फरवरी)
चौथा संस्करण : 2013 (अप्रैल)
पांचवां संस्करण : 2013 (जुलाई)
छठा संस्करण : 2013 (अक्टूबर)
सातवां संस्करण : 2014 (फरवरी)
आठवां संस्करण : 2016
दसवां संस्करण : 2019 (जून)
ग्यारवां संस्करण : 2020 (अगस्त)

ISBN :978-93-5109-160-8

आवरण परिकल्पना : डॉ. देबेन्द्र प्रसाद माझी, पी.एच.डी.

पुस्तक के आवरण पर उपयोग किया गया मोनोग्राम बाबासाहेब डॉ. बी. आर. अम्बेडकर के लेटरहेड से साभार

ISBN (सेट) : **978-93-5109-149-3**

रियायत नीति के अनुसार सामान्य (पेपरबैक) 1 सेट (खंड 1–40) का मूल्यः रू 1073/-
रियायत नीति (Discount Policy) संलग्न है।

प्रकाशकः
डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान
सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्रालय,
भारत सरकार
15 जनपथ, नई दिल्ली – 110 001
फोन : 011–23320571
जनसंपर्क अधिकारी फोन : 011–23320588
वेबसाइट :http://drambedkarwritings.gov.in
Email-Id :cwbadaf17@gmail.com

मुद्रक : अरावली प्रिंटर्स एंड पब्लिशर्स प्रा. लिमि., W-30 ओखला, फेज–2, नई दिल्ली–20

परामर्श सहयोग

डॉ. थावरचन्द गेहलोत
सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्री भारत सरकार
एवं
अध्यक्ष, डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान

श्री रामदास अठावले
सामाजिक न्याय और अधिकारिता राज्य मंत्री

श्री कृष्णपाल गुर्जर
सामाजिक न्याय और अधिकारिता राज्य मंत्री

श्री रतनलाल कटारिया
सामाजिक न्याय और अधिकारिता राज्य मंत्री

श्री आर. सुब्रह्मण्यम
सचिव
सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्रालय भारत सरकार

सुश्री उपमा श्रीवास्तव
अतिरिक्त सचिव एवं सदस्य सचिव,
डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान
सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्रालय, भारत सरकार

डॉ. देबेन्द्र प्रसाद माझी, पी.एच.डी.
निदेशक
डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान

डॉ. बृजेश कुमार
संयोजक, सी.डब्ल्यू.बी.ए.
डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान

सकंलन (अंग्रेजी)
श्री वसंत मून

प्रभारी मुख्य संपादक
श्री कन्हैयालाल चंचरीक

संपादक
श्री जगन्नाथ प्रसाद

अनुवादक
डॉ. दिनेष चमोला
श्री रणवीर दिवेश
श्री कृष्ण गोपाल
श्री एच.डी. मदान

पुनरीक्षक
श्री उमराव सिंह

डॉ. थावरचन्द गेहलोत
DR. THAAWARCHAND GEHLOT
सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्री
भारत सरकार
MINISTER OF
SOCIAL JUSTICE AND EMPOWERMENT
GOVERNMENT OF INDIA

कार्यालयः 202, सी विंग, शास्त्री भवन,
नई दिल्ली–110115
Office : 202, 'C' Wing, Shastri Bhawan,
New Delhi-110115
Tel. : 011-23381001, 23381390, Fax : 011-23381902
E-mail : min-sje@nic.in
दूरभाषः 011-23381001, 23381390, फैक्सः 011-23381902
ई-मेलः min-sje@nic.in

संदेश

स्वतंत्र भारत के संविधान के निर्माता बाबासाहेब डॉ. भीमराव अम्बेडकर जी बहुआयामी प्रतिभा के धनी थे । बाबासाहेब डॉ. भीमराव अम्बेडकर जी एक उत्कृष्ट बुद्धिजीवी, प्रकाण्ड विद्वान, सफल राजनीतिज्ञ, कानूनविद, अर्थशास्त्री और जनप्रिय नायक थे । वे शोषितों, महिलाओं और गरीबों के मुक्तिदाता थे। बाबासाहेब डॉ. भीमराव अम्बेडकर जी सामाजिक न्याय के लिये संघर्ष के प्रतीक हैं । बाबासाहेब डॉ. भीमराव अम्बेडकर जी ने सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक सभी क्षेत्रों में लोकतंत्र की वकालत की । एक मजबूत राष्ट्र के निर्माण में बाबासाहेब डॉ. भीमराव अम्बेडकर जी का योगदान अतुलनीय है ।

बाबासाहेब डॉ. भीमराव अम्बेडकर जी के लेख एवं भाषण क्रांतिकारी वैचारिकता एवं नैतिकता के दर्शन-सूत्र हैं। भारतीय समाज के साथ-साथ सम्पूर्ण विश्व में जहां कहीं भी विषमतावादी भेदभाव या छुआछूत मौजूद है, ऐसे समस्त समाज को दमन, शोषण तथा अन्याय से मुक्त करने के लिये डॉ. अम्बेडकर जी का दृष्टिकोण और जीवन-संघर्ष एक उज्ज्वल पथ प्रशस्त करता है । समतामूलक, स्वतंत्रता की गरिमा से पूर्ण, बंधुता वाले एक समाज के निर्माण के लिये बाबासाहेब डॉ. भीमराव अम्बेडकर जी ने देश की जनता का आह्वान किया था ।

बाबासाहेब डॉ. भीमराव अम्बेडकर जी ने अस्पृश्यों, श्रमिकों, महिलाओं और युवाओं को जो महत्वपूर्ण संदेश दिये, वे एक प्रगतिशील राष्ट्र के निर्माण के लिये अनिवार्य दस्तावेज हैं । तत्कालीन विभिन्न विषयों पर डॉ. अम्बेडकर जी का चिंतन-मनन और निष्कर्ष जितना उस समय महत्वपूर्ण था, उससे कहीं अधिक आज प्रासंगिक हो गया है। बाबासाहेब की महत्तर मेधा के आलोक में हम अपने जीवन, समाज राष्ट्र और विश्व को प्रगति की राह पर आगे बढ़ा सकते हैं। समता, बंधुता और न्याय पर आधारित बाबासाहेब डॉ; भीमराव अम्बेडकर जी के स्वप्न का समाज-**"सबका साथ सबका विकास"** की अवधारणा को स्वीकार करके ही प्राप्त किया जा सकता है।

मुझे यह जानकर अत्यंत प्रसन्नता हो रही है, कि सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्रालय का स्वायत्तशासी संस्थान द्वारा, डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान, **"बाबासाहेब डॉ. अम्बेडकर : सम्पूर्ण वांग्मय"** के खण्ड 1 से 21 तक के संस्करणों को, बाबासाहेब डॉ. भीमराव अम्बेडकर जी के अनुयायियों और देश के आम जन-मानस की मांग को देखते हुये पुनर्मुद्रण किया जा रहा है ।

विद्वान पाठकगण इन खंडों के बारे में हमें अपने अमूल्य सुझाव से अवगत करायेंगे तो हिंदी में अनुदित इन खण्डों के आगामी संस्करणों को और बेहतर बनाने में सहयोग प्राप्त हो सकेगा।

9/7/19

(डॉ. थावरचन्द गेहलोत)

बाबासाहेब अम्बेडकर के सम्पूर्ण वाड्मय (Complete CWBA Vols.) का विमोचन
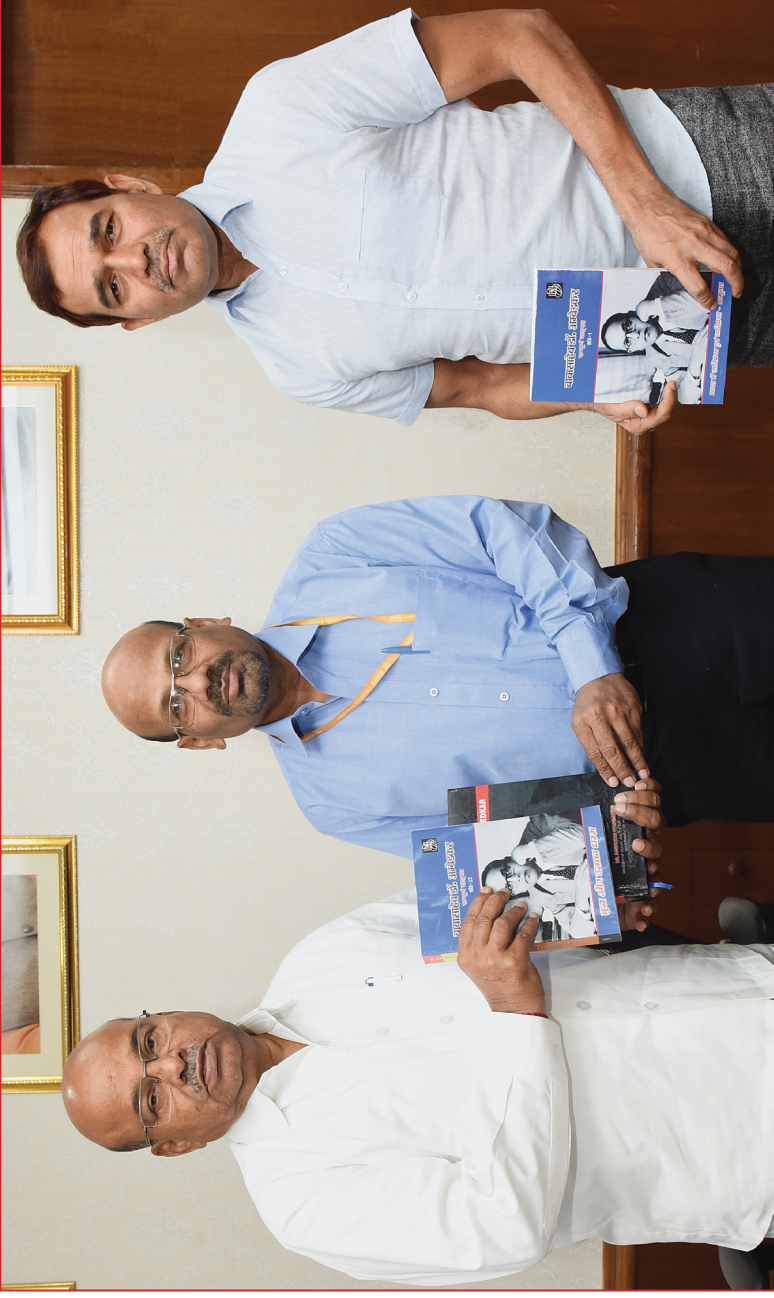
हिंदी और अंग्रेजी में CWBA / सम्पूर्ण वाड्मय, (Complete Volumes) बाबासाहेब डॉ. अम्बेडकर के संग्रहित कार्यों के संपूर्ण खण्ड, डॉ. थावरचंद गेहलोत, सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्री, और अध्यक्ष, डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान, भारत सरकार, नई दिल्ली द्वारा जारी किया गया है। साथ ही डॉ. देबेन्द्र प्रसाद माझी, निदेशक, डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान और श्री सुरेन्द्र सिंह, सदस्य सचिव भी इस अवसर पर उपस्थित थे। हिंदी के खंड 22 से खंड 40 तक 2019 में पहली बार प्रकाशित हुए है।

उपमा श्रीवास्तव, आई.ए.एस.
अपर सचिव
UPMA SRIVASTAVA, IAS
Additional Secretary

भारत सरकार
सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्रालय
शास्त्री भवन, नई दिल्ली-110001
Government of India
Ministry of Social Justice & Empowerment
Shastri Bhawan, New Delhi-110001
Tel. : 011-23383077 Fax : 011-23383956
E-mail : as-sje@nic.in

प्राक्कथन

भारतरत्न डॉ. बी.आर. अम्बेडकर भारतीय सामाजिक–राजनीतिक आंदोलन के ऐसे पुरोधा रहे हैं, जिन्होंने जीवनपर्यंत समाज के आख़िरी पायदान पर संघर्षरत् व्यक्तियों की बेहतरी के लिए कार्य किया। डॉ. अम्बेडकर बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे इसलिए उनके लेखों में विषय की दार्शनिक मीमांसा प्रस्फुटित होती है। बाबासाहेब का चिंतन एवं कार्य समाज को बौद्धिक, आर्थिक एवं राजनैतिक समृद्धि की ओर ले जाने वाला तो है ही, साथ ही मनुष्य को जागरूक मानवीय गरिमा की आध्यात्मिकता से सुसंस्कृत भी करता है।

बाबासाहेब का संपूर्ण जीवन दमन, शोषण और अन्याय के विरुद्ध अनवरत क्रांति की शौर्य–गाथा है। वे एक ऐसा समाज चाहते थे जिसमें वर्ण और जाति का आधार नहीं बल्कि समता व मानवीय गरिमा सर्वोपरि हो और समाज में जन्म, वंश और लिंग के आधार पर किसी प्रकार के भेदभाव की कोई गुंजाइश न हो। समता, स्वतंत्रता और बंधुत्व के प्रति कृतसंकल्प बाबासाहेब का लेखन प्रबुद्ध मेधा का प्रामाणिक दस्तावेज़ है।

भारतीय समाज में व्याप्त विषमतावादी वर्णव्यवस्था से डॉ. अम्बेडकर कई बार टकराए। इस टकराहट से डॉ. अम्बेडकर में ऐसा जज़्बा पैदा हुआ, जिसके कारण उन्होंने समतावादी समाज की संरचना को अपने जीवन का मिशन बना लिया।

समतावादी समाज के निर्माण की प्रतिबद्धता के कारण डॉ. अम्बेडकर ने विभिन्न धर्मों की सामाजिक, धार्मिक व्यवस्था का अध्ययन व तुलनात्मक चिंतन–मनन किया।

मैं प्रतिष्ठान की ओर से माननीय सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्री, भारत सरकार का आभार व्यक्त करती हूँ जिनके सद्परामर्श एवं प्रेरणा से प्रतिष्ठान के कार्यों में अपूर्व प्रगति आई है।

उपमा श्रीवास्तव

(उपमा श्रीवास्तव)
अतिरिक्त सचिव
सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्रालय,
भारत सरकार, एवं
सदस्य सचिव

प्रस्तावना

बाबासाहेब डॉ. भीमराव रामजी अम्बेडकर एक प्रखर व्यक्तित्व, ज्ञान के प्रतीक और भारत के सुपुत्र थे। वह एक सार्वजनिक बौद्धिक, सामाजिक क्रांतिकारी और एक विशाल क्षमता संपन्न विचारक थे। उन्होंने सामाजिक और राजनीतिक स्थितियों के व्यावहारिक विश्लेषण के साथ–साथ अंतःविषयक दृष्टिकोणों को अपने लेखन और भाषणों के माध्य से प्रभावित किया जो बौद्धिक विषयों और भावनाओं को अभिव्यक्त एवं आंदोलित किया। उनके लेखन में वंचित वर्ग के लोगों के लिए प्रकट न्याय और मुक्ति की गहरी भावना है। उन्होंने न केवल समाज के वंचित वर्गों की स्थितियों को सुधारने के लिए अपना जीवन समर्पित किया, बल्कि समन्वय और 'सामाजिक समरसता' पर उनके विचार राष्ट्रीय प्रयास को प्रेरित करते रहे। उम्मीद है कि ये खंड उनके विचारों को समकालीन प्रासंगिकता प्रदान कर सकते हैं और वर्तमान समय के संदर्भ में डॉ. अम्बेडकर के पुनःपाठ की संभावनाओं को उपस्थित कर सकते हैं।

डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान, भारत के साथ–साथ विदेशों में भी जनता के बीच बाबासाहेब डॉ. अंबेडकर की विचारधारा और संदेश के प्रचार–प्रसार हेतु स्थापित किया गया है। यह बहुत ख़ुशी की बात है कि सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्री के नेतृत्व में प्रतिष्ठान के शासी निकाय के एक निर्णय के परिणामस्वरूप, तथा पाठकों की लोकप्रिय माँग पर डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान, बाबासाहेब अम्बेडकर के हिंदी में संपूर्ण वांग्मय (Complete CWBA Volumes) का दूसरा संस्करण पुनर्मुद्रित कर रहा है।

मैं संयोजक, अनुवादकों, पुनरीक्षकों, आदि सभी सहयोगियों, एवं डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान में अपनी सहायक, कुमारी रेनू और लेखापाल, श्री नन्दू शॉ के प्रति आभार प्रकट करता हूँ, जिनकी निष्ठा एवं सतत् प्रयत्न से यह कार्य संपन्न किया जा सका है।

विद्वान एवं पाठकगण इन खंडों के बारे में सुझाव से डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान को उसकी वैधानिक ई–मेल आई.डी. **cwbadaf17@gmail.com** पर अवगत कराएं ताकि, अनुदित इन खंडों के आगामी संस्करणों को और बेहतर बनाने में सहयोग प्राप्त हो सकेगा।

डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान हमेशा पाठकों को रियायती कीमत पर खंड उपलब्ध कराने के लिए प्रयास करता रहा है, तदनुसार आगामी संस्करण का भी रियायत नीति (Discount Policy) के साथ बिक्री जारी रखने का निर्णय लिया गया है। अतः प्रत्येक खंड के साथ प्रतिष्ठान की छूट नीति को संलग्न कर दिया गया है। आशा है कि ये खंड पाठकों के लिए प्रेरणा का स्रोत बने रहेंगे।

(डॉ. देबेन्द्र प्रसाद माझी)
निदेशक, डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान
सामाजिक न्याय एवं अधिकारिता मंत्रालय, भारत सरकार,

15, जनपथ,
नई दिल्ली

...डॉ. अम्बेडकर ने गरीबी, असमानता और सामाजिक अन्याय के खिलाफ़ संघर्ष किया था। देश से गरीबी मिटे, असमानता मिटे और सबको सामाजिक न्याय सुलभ हो, डॉ. अम्बेडकर के प्रति यही सच्ची श्रद्धांजलि होगी।

— एच. डी. देवेगौड़ा
प्रधनमंत्री

(6 दिसम्बर, 1996 महापरिनिर्वाण दिवस पर संसद–भवन के लान में अर्पित श्रद्धासुमन के अंश से)

—डॉ. भीमराव अम्बेडकर

विषय सूची

पुस्तक 1

‘‘...यह मानना भूल होगी कि 1857 के गदर में परिलक्षित अकुशलता के कारण ईस्ट इंडिया कंपनी समाप्त कर दी गई। इसके विपरीत वास्तव में गदर की घटना के पूर्व सम्राट द्वारा भारत सरकार का कार्यभार ग्रहण करने के बारे में बातचीत चलती रही थी...।

‘‘1857 में क्रीमियन युद्ध में अपनी सफलता के परिणामस्वरूप लार्ड पामर्स्टन भारी बहुमत से सत्ता में आए और उन्होंने तुरंत कंपनी के निदेशकों को कंपनी की समाप्ति के लिए एक विधेयक लाने तथा सम्राट द्वारा सीधे भारत सरकार की पूर्ण अवधारणा के प्रस्ताव की अधिसूचना से सबको आश्चर्यचकित कर दिया।’’

–डॉ. भीमराव अम्बेडकर

ईस्ट इंडिया कंपनी
का
प्रशासन और वित्त प्रबंध

भीमराव रामजी अम्बेडकर

एम.ए. उपाधि हेतु
आंशिक आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु
प्रेषित
15 मई 1915

ईस्ट इंडिया कंपनी
का
प्रशासन और वित्त प्रबंध

अंग्रेजी में इस शोध प्रबंध की प्रति को वाशिंगटन विश्वविद्यालय के इतिहास विभाग के डॉ. फ्रैंक एफ. कौनलोन ने कोलम्बिया विश्वविद्यालय से प्राप्त किया था और डॉ. अम्बेडकर रिसर्च इंस्टीट्यूट, नागपुर के श्री वसंत मून को 1979 में भेंट किया था।

अंग्रेजी वाङ्मय के संपादकगण कोलम्बिया विश्वविद्यालय, यू.एस.ए. के आभारी हैं, जिसने अपने स्वामित्व और अधिकार से इस अप्रकाशित शोधप्रबंध को प्रकाशित करने की अनुमति दी। डॉ. कौनलोन के प्रति भी उनकी सहृदयता और डॉ. अम्बेडकर रिसर्च इंस्टीट्यूट, नागपुर की सहायता के लिए आभार प्रकट किया गया जिसकी वजह से प्रथमतः, महाराष्ट्र सरकार इसका अंग्रेजी में प्रकाशन कर सकी।

I

ईस्ट इंडिया कंपनी के ऐतिहासिक विकास में न जाते हुए इसकी प्रशासन व्यवस्था का सुविधापूर्वक इस प्रकार विवेचन किया जा सकता है:

I. स्वामी मंडल (कोर्ट)

''ईस्ट इंडिया कंपनी के शेयरधारी एक निश्चित संख्या में इसके सदस्य होते थे, जो परस्पर अपनी संस्था में से गुप्त मतदान द्वारा निश्चित (चौबीस) प्रतिनिधियों का चुनाव करते थे। जिन्हें स्वामित्व भरोसेमंद मानता था और योजना निर्धारण और भारत तथा इंग्लैंड के हितों के अनुकूल हर संभव कार्यवाही करने का जिनको उत्तरदायित्व सौंपा गया था, और स्वयं के लिए प्रत्यायोजित प्राधिकार की कार्यवाही पर सीमित निगरानी तथा नियंत्रण सुरक्षित रख लिया था।''

इस कोर्ट में स्थान प्राप्त करने तथा मतदान करने की पात्रता इस प्रकार थी:

- 500 पौंड स्टाक का मालिक इस कोर्ट में स्थान ग्रहण करने का पात्र था।
- 1,000 पौंड स्टाक का मालिक एक मत डालने का पात्र था।
- 3,000 पौंड स्टाक का मालिक दो मत डालने का पात्र था।
- 6,000 पौंड स्टाक का मालिक तीन मत डालने का पात्र था।
- 10,000 से 1,00,000 तथा अधिक पौंड की राशि के स्टाक का मालिक चार मत डालने का पात्र था।

इसके साथ-साथ, कम से कम एक वर्ष के लिए मतदान पूर्व स्टाक अधिकार में रखा गया हो। प्रतिनिधित्व मतदान की कोई व्यवस्था नहीं थी और अल्पवयस्क मतदान के पात्र नहीं थे। सम्राट और कंपनी दोनों पक्ष के मतदाताओं में लार्ड, कॉमनर्स, महिलाएं, पादरी और असैनिक एवं सैन्य अधिकारी होते थे।

कोर्ट के अधिवेशन त्रैमासिक – मार्च, जून, सितम्बर और दिसम्बर में होते थे। कोर्ट का विशेष अधिवेशन बुलाने के लिए नौ सक्षम स्वामी पर्याप्त थे। स्पीकर पदेन अध्यक्ष होता था जो अधिवेशन की अध्यक्षता करता था। कोर्ट की स्वीकृति हेतु सभी प्रस्ताव करता था और सदस्यों के समक्ष कंपनी के लेन-देन का विवरण रखता था।

कोर्ट को अधिकार था –

1. योग्य व्यक्तियों का चुनाव करना जिनसे निदेशक मंडल (कोर्ट) का गठन हो सके।
2. विशेष संसदीय सीमाओं के अंतर्गत कंपनी के पूंजीगत स्टाक पर लाभांश की घोषणा करना।
3. ईस्ट इंडिया कंपनी के शासन में अवरोध उत्पन्न करने वाले ऐसे नियमों को कार्यानुकूल बनाना अथवा निरस्त करना बशर्ते कि वे संसद के अधिनियमों के प्रतिकूल न हों।
4. सामान्यतया वेतन अथवा पेंशन में 200 पौंड से अधिक वृद्धि अथवा 600 पौंड से अधिक की किसी भी ग्रेच्युटी (उपदान) की वृद्धि पर नियंत्रण लगाना।
5. अच्छी सेवाओं के लिए आर्थिक पुरस्कार देना।

II. निदेशक मंडल (कोर्ट)

इसके 24 सदस्य होते थे। निदेशकों का निर्वाचन उन मालिकों द्वारा किया जाता था जो मत डालने के योग्य होते थे। कोर्ट के निदेशक के लिए उम्मीदवार की योग्यता (अर्हता) इस प्रकार थी :

1. वह मूल रूप से अथवा जन्म से ग्रेट ब्रिटेन का निवासी होना चाहिए।
2. वह 2,000 पौंड स्टाक का (चाहे पिछले कितने ही समय का हो) मालिक होना चाहिए।
3. वह साउथ सी कंपनी (दक्षिण समुद्र कंपनी) अथवा बैंक ऑफ इंग्लैंड का निदेशक नहीं होना चाहिए।
4. वह कोर्ट का पदाधिकारी होने के उपरांत दो वर्ष तक इंग्लैंड का निवासी होना चाहिए।
5. वह अपने प्रस्तावित चुनाव से दो वर्ष पूर्व तक कंपनी की समुद्र व्यापार सेवा में कहीं भी नियुक्त नहीं होना चाहिए।
6. उसने निदेशक पद के चुनाव में अपने लिए अथवा किसी अन्य व्यक्ति के लिए किसी भी बहाने अथवा तर्क से प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष मत प्राप्त नहीं किया हो।
7. वह यह शपथ लेगा :

   (क) वह कोई निजी व्यापार नहीं करेगा।

(ख) वह निजी व्यक्ति की हैसियत के अलावा कंपनी से किसी प्रकार का कोई संबंध नहीं रखेगा।

(ग) ब्रिटिश सम्राट के अधीन परिलब्धियों युक्त कोई पद या स्थान ग्रहण न किया हो।

विभिन्न उत्तरदायित्वों का पालन करने की दृष्टि से विभिन्न समितियों को कार्य भार सौंपा गया जिनमें कोर्ट उप-विभाजित की गई थी।

ये समितियां इस प्रकार थीं–

1. गुप्त समिति
2. पत्राचार समिति
3. कोष समिति
4. सरकारी लश्कर तथा भंडार समिति
5. वैधानिक कार्रवाई समिति
6. सैनिक कार्रवाई समिति
7. लेखा समिति
8. क्रय समिति
9. मालगोदाम (भंडारण) समिति
10. इंडिया हाउस समिति
11. पोत (परिवहन) समिति
12. निजी व्यापार समिति
13. सिविल कॉलेज
14. मिलिट्री कॉलेज

लेखक, कैडेट तथा सहायक शल्य चिकित्सक आदि सभी नियुक्तियां निदेशकों द्वारा की जाती थीं। असैनिक तथा सैन्य सेवाओं में दोनों कॉलेजों के स्नातकों की भर्ती की जाती थी जोकि कंपनी के राजस्व पर केवल भार समझे जाते थे।

III. भारत के मामलों के लिए आयुक्त बोर्ड (नियंत्रण बोर्ड)

बोर्ड की शक्तियां इस प्रकार हैं–

1. ईस्ट इंडीज क्षेत्र में सभी ब्रिटिश उपनिवेश तथा व्यापारियों की यूनाइटेड कंपनी के व्यापारिक मामलों का प्रबंध तथा उन पर नियंत्रण।
2. ईस्ट इंडीज के ब्रिटिश अधिकृत क्षेत्र (उपनिवेश) के असैनिक एवं सैनिक (सिविल तथा मिलिट्री) सरकार अथवा उसके राजस्व संबंधी समस्त क्रियाकलापों,

सैनिक कार्यवाही तथा कार्य व्यापार का जैसा कि उसके बाद निदेशित किया गया, की निगरानी, निर्देशन तथा नियंत्रण करना।

उक्त बोर्ड के सभी सदस्यों को जब भी वे समस्त सुविधाजनक समय में चाहें उपरोक्त यूनाइटेड कंपनी के सभी कागजात अथवा दस्तावेज को देखने का अधिकार और उनके द्वारा मांगे जाने पर उन दस्तावेजों की प्रक्रिया प्रस्तुत की जाती है। कोर्ट के निदेशकों और कंपनी के विशेष कोर्ट के मालिकों की सामान्य अथवा विशेष कोर्टों, तथा ईस्ट इंडीज में ब्रिटिश अधिकृत क्षेत्र (उपनिवेश) के असैनिक एवं सैनिक (सिविल तथा मिलिट्री) सरकार एवं उसके राजस्व संबंधी कोर्ट के निदेशकों की सभी कार्यवाही वृत्तान्त, आदेश, संकल्प तथा अन्य कार्यवाही की प्रतियां इन कोर्टों की बैठकों के 8 दिन के भीतर बोर्ड के सम्मुख प्रस्तुत करने का निदेश है तथा ईस्ट इंडीज में कंपनी के कर्मचारियों से निदेशकों को प्राप्त एवं प्रेषित पत्रों, आदेशों और अनुदेशों की प्रतियां तुरंत बोर्ड के सम्मुख प्रस्तुत की जाएंगी। कोर्ट के निदेशकों से अपेक्षा की जाती है कि वे बोर्ड से समय-समय पर प्राप्त ईस्ट इंडीज क्षेत्र में ब्रिटिश अधिकृत क्षेत्र के असैनिक एवं सैनिक (सिविल तथा मिलिट्री) सरकार अथवा राजस्व संबंधी आदेशों तथा निर्देशनों का विधिवत पालन करेंगे।''

''जब भी निदेशक मंडल (कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स) किसी भी विषय पर बोर्ड द्वारा प्रेषित अभीष्ट प्रेषण (डिसपैच) के अनुपालन की अवहेलना करता है तब मांगपत्रक के चौदह दिनों के अंतर्गत, बोर्ड के लिए यह वैध है कि वह निदेशकों को कोई आदेश अथवा अनुदेश उपरोक्त निदेशक मंडल (कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स) द्वारा प्रेषण की प्राप्ति की प्रतीक्षा किए बगैर ईस्ट इंडीज में ब्रिटिश भूभाग और अधिकृत क्षेत्र के अंतर्गत असैनिक अथवा सैनिक (सिविल अथवा मिलिट्री) सरकार विषयक पूर्वोक्त किसी भी सरकार अथवा प्रेसीडेंसी को अनुपालन हेतु तैयार करे और प्रेषित करे, निदेशकों से आशा की जाती है कि वे निर्धारित प्रपत्र में (उन तथाकथित आदेशों और अनुदेशों को जो उन्हें प्रेषित किए गए हैं उसकी अवधि के अंतर्गत) प्रेषण वापिस भेजें, भारत स्थित संबंधित सरकारों और प्रेसीडेंसियों को जब तक कि निदेशकों ने बोर्ड को कोई मांग पत्र प्रस्तुत न किया हो जो इन आदेशों या अनुदेशों से संबंधित हैं, तो ऐसी अवस्था में बोर्ड उनमें संशोधन कर सकेगा, और इन निर्देशों को निदेशक मंडल (कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स) मनाने के लिए बाध्य होगा।''

बोर्ड ऑफ कंट्रोल (नियंत्रण मंडल) छह विभागों में विभाजित था और इसके कार्यक्षेत्र में थे (i) लेखा (ii) राजस्व (iii) न्याय (iv) सैनिक (v) गोपनीय, और राजनीतिक (vi) विदेश और नागरिक विभाग।

भारत में स्थानीय प्रशासन शैली निम्न प्रकार थी–

देश को तीन प्रेसीडेंसियों में विभाजित किया गया था। यथा बंगाल, मद्रास और बंबई जिनकी क्रमश: राजधानियां थीं : फोर्ट विलियम, फोर्ट सेंट जार्ज और बंबई स्वयमेव।

प्रारंभ में भारत में सर्वोच्च स्थानीय प्रशासन इन तीन सरकारों में विभाजित किया गया था, प्रत्येक की हैसियत समान थी। केन्द्रीकरण की दृष्टि से भारत का सर्वोच्च प्रशासन तंत्र फोर्ट विलियम, बंगाल के गवर्नर के अधीन था। अन्य दो गवर्नर बंगाल के गवर्नर के अधीन थे जिसे भारत के गवर्नर जनरल की पदवी दी गई थी।

गवर्नर जनरल की नियुक्ति क्राउन (सम्राट) के अनुमोदन से निदेशक मंडल (कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स) द्वारा की जाती थी। गवर्नर जनरल की सहायता एक परिषद् करती थी, जिसे सर्वोच्च परिषद् (सुप्रीम काउंसिल) कहा जाता था। मूलत: इसमें चार सदस्य होते थे, जिनमें से तीन को आवश्यक रूप से दस वर्ष तक भारत में कंपनी के सेवक के रूप में काम करना अनिवार्य था। चौथे व्यक्ति को कंपनी की सेवा से संबंधित होना आवश्यक नहीं था। भारत में सेना का प्रधान सेनापति (कमांडर-इन-चीफ) गवर्नर जनरल के कार्यालय का पदेन सदस्य होता था। पांच सदस्यों की इस सर्वोच्च परिषद् का विस्तार 1853 में छ: विधायी सदस्यों को सम्मिलित कर किया गया जिन्हें परिषद् में उपस्थित होने और विधि एवं विनियमों की संरचना के बारे में अपना मत व्यक्त करने का ही अधिकार था। उन छ: विधायी सदस्यों में से चार सदस्यों को कंपनी की सेवा में बंबई, मद्रास, बंगाल तथा उत्तर पश्चिमी प्रांतों में दस वर्ष तक असैनिक कर्मचारी (सिविल सर्वेन्ट) के रूप में कार्य करना अनिवार्य होता था। शेष दो स्थानों पर कलकत्ता के सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश तथा एक अन्य न्यायाधीश नियुक्त किए जाते थे। गवर्नर जनरल को विक्टोरिया चेप्टर 95 की संविधि 16 और 17 की धारा 22 के अधीन ग्यारह सदस्यों की इस परिषद् में दो और सदस्य सम्मिलित करने का अधिकार प्राप्त था। लेकिन 1857 के विद्रोह के समय तक उस अधिकार का प्रयोग नहीं किया गया।

इस प्रकार गवर्नर जनरल तथा प्रधान सेनापति सहित भारत की सर्वोच्च परिषद् में छ: सदस्य होते थे जिनसे कार्यपालिका सरकार का उद्देश्य सिद्ध होता था और बारह सदस्यों से विधायिका (विधान-मंडल) का उद्देश्य पूरा होता था, सात सदस्यों से पर्याप्त गणपूर्ति (कोरम) हो जाती थी।

गवर्नर जनरल की शक्तियां इतनी अधिक थीं कि वह लगभग तानाशाह था। वह न केवल परिषद् में समस्त विधि निर्माण के लिए वीटो (निषेधाधिकार) का प्रयोग कर सकता था बल्कि परिषद् का स्वतंत्र रूप से संचालन और कार्यवहन भी कर

सकता था। वह देशी राज्यों के लिए रेजीडेंटों तथा गैर नियमित प्रांतों में कमिश्नरों की नियुक्ति सहित सभी राजनीतिक नियुक्तियां करता था। वह बंगाल तथा उत्तर पश्चिमी प्रांतों के लैफ्टिनेंट गवर्नर की नियुक्ति करता था तथा वह छोटी अदालतों के न्यायाधीशों की भी नियुक्ति करता था और बंगाल तथा उत्तर पश्चिमी प्रांतों में सैन्य संरक्षण को भी नियंत्रित कर सकता था।

वे सभी जिले जो अधीनस्थ चारों सरकारों की सीमाओं में नहीं आते थे, गवर्नर जनरल इन काउंसिल के सीधे अधिकार क्षेत्र में आते थे। गवर्नर जनरल इन काउंसिल अपनी उन सभी शक्तियों का प्रयोग देशी राज्यों पर भी कर सकता था जो उसे समझौते के तहत प्राप्त थे। गवर्नर जनरल का कार्यालय चार विभागों में विभक्त था। प्रत्येक विभाग का प्रभारी सचिव होता था। ये विभाग इस प्रकार थे–

1. विदेशी विभाग (देशी रियासतों के संबंध में विदेश)
2. गृह विभाग, न्यायिक तथा राजस्व पत्राचार का नियंत्रण
3. वित्त विभाग
4. सैन्य (मिलिट्री) विभाग

इसके अलावा राजनैतिक तथा वित्त सचिवों का अपना गोपनीय विभाग होता था जिनको गोपनीय संप्रेषण सौंपा गया था।

मद्रास तथा बंबई की अधीनस्थ सरकारों का प्रशासन इस प्रकार चलाया जाता था–प्रत्येक का एक गवर्नर होता था तथा तीन सदस्य वाली (प्रधान सेनापति सहित) परिषद् (काउंसिल) होती थी। गवर्नरों तथा पार्षदों (काउंसिलरों) की नियुक्ति निदेशकों की कोर्ट द्वारा की जाती थी। बंगाल तथा उत्तर पश्चिमी प्रांतों में लेफ्टिनेंट गवर्नरों का शासन होता था। जिनकी नियुक्ति गवर्नर जनरल द्वारा की जाती थी। अधीनस्थ सरकारों को विधान बनाने अथवा नए कार्यालयों का सृजन करने का अधिकार नहीं था और ना ही उन्हें काउंसिल में भारत के गवर्नर जनरल की पूर्व अनुमति बिना ''वेतन, उपदान अथवा भत्ते'' देने का अधिकार था। ऐसा कठोर नियम यद्यपि कानूनी तौर से अपेक्षित था लेकिन प्रथा से नहीं। गवर्नर जनरल पर अधिक भार न पड़े इसके लिए छोटे–छोटे मामले गवर्नर द्वारा ही निष्पादित किए जाते थे जो उसकी त्रैमासिक रिपोर्ट उच्च अधिकारियों को भेजते थे जो इनकी समीक्षा कर वास्तव में स्वीकृत करते थे। बंबई तथा मद्रास की सरकारों को कोर्ट के निदेशकों से सीधा पत्राचार करने का अधिकार था और वे अपनी कार्यवाही के सारांश कोर्ट तथा भारत सरकार को भेजते थे। भारत

सरकार के दस्तावेज सिविल (प्रतिज्ञाबद्ध तथा गैर-प्रतिज्ञाबद्ध), सैनिक (मिलिट्री), नौसेना तथा धार्मिक सेवाओं द्वारा प्रस्तुत किए जाते थे। राजस्व का संग्रह तथा न्यायिक प्रशासन का भार सिविल सेवाओं को सौंपा गया था।

सिविल तथा मिलिट्री में भर्ती करने के लिए इंग्लैंड में कंपनी ने हैलवर्ग कॉलेज तथा ऐडिस्कोम्बे अकेडेमी नामक दो कॉलेज चला रखे थे। कंपनी प्रत्येक विद्यार्थी पर प्रशिक्षण अवधि के दौरान, प्रति वर्ष लगभग 96 पौंड खर्च करती थी।

सर्वोच्च भारत सरकार के नाम पर यह सारा राजस्व एकत्रित किया जाता था और इसे सर्वोच्च कोष में जमा कर दिया जाता था और यही कोष इसका नियंत्रण करता था।

स्थानीय राजस्व स्वायत्तता का पूर्णतः अभाव था। एक प्रांत का घाटा दूसरे की बेशी से पूरा किया जाता था और समस्त भारत के राजस्व को एक विशेष प्रांत में लड़ाई के लिए उधार लिए कर्जे के प्रति उत्तरदायी माना जाता था; संक्षेप में वित्त और प्रशासन दोनों पूरी तरह केन्द्रीकृत थे जैसा कि प्राचीन फ्रांस के शासन में होता था।

विशुद्ध शासन प्रणाली के विषय में इतना पर्याप्त है। इसकी विवेचना हम यहीं स्थगित करते हैं और दूसरे अध्याय पर आते हैं।

अंतिम अध्याय में यह बात स्पष्ट उभर कर आती है कि पश्चिम यूरोप किस प्रकार और क्यों भारत पर नियंत्रण के लिए जीजान से जुटा हुआ था। विभिन्न राष्ट्रों के विभिन्न सेनापतियों (नायकों) की सेनाओं ने एक देश के निवासियों पर आधिपत्य जमाने के लिए जिन्हें अपनी अंतिम नियति चुनने का अधिकार प्राप्त नहीं था—कामा, एलबुकर्कों, बसियों, लल्लीयों, क्लाइवों और मैलकामों, झीलों और समुद्र तटों को लांघती हुई जैसे भूतों की एक रेलगाड़ी बैन्कुओ की पटरी पर दौड़ रही हो जिसने शेक्सपीयर की कल्पना के मैकबैथ को भयभीत कर दिया था उसका हमें आभास होता था।

II

इस अध्याय में हम विशेषतया ईस्ट इंडिया कंपनी का बतौर सर्वोच्च राजनीतिक प्रभुसत्ता और उसकी वित्तीय व्यवस्था का अध्ययन करेंगे इस विशद् व्याख्या को अलग रखते हुए कि वह एक व्यापारिक संस्थान से राजनीतिक प्रभुसत्ता कैसे बन गई। इस तथ्य में यह कोई आश्चर्य की बात नहीं कि ईस्ट इंडिया कंपनी भारत में साम्राज्यवाद स्थापित करने में सफल हो गई थी जिसका कि पहले वर्णन किया जा चुका है। विभिन्न प्रांतों में अपनी जड़ जमाने के पश्चात् इसने पूरे प्रायद्वीप (पेनिनसुला) में अपना राज्य कायम कर लिया और कानूनन जिसे भारत में ब्रिटिश राज की संज्ञा दी गईः दूसरे शब्दों में इसने एक राज्य स्थापित कर

लिया और राजनीतिक तथा व्यापारिक गतिविधियां साथ-साथ जारी रखीं। इस संयुक्त कार्यवाही के फलस्वरूप भारत में कंपनी का राजस्व संबंधी प्रशासन एक जटिल क्रिया बन गया। व्यापारिक और राजस्व वसूली को परस्पर मिला दिया गया और उनमें भेद करने का कोई प्रयास नहीं किया गया। वित्त का कोई भी अध्येता, इसलिए, पूरी अवधि को जो 1814 में समाप्त होती है जबकि संसद के एक अधिनियम द्वारा कंपनी को मजबूर किया गया कि वह वित्त और व्यापार का लेखा अलग-अलग रखे अनदेखा कर देगा। इस सावधानी के साथ अब हम राजस्व शीर्षों का अध्ययन करेंगे।

1. भू-राजस्व (मालगुजारी)

भारत के कुछ भागों में आरंभ में औद्योगीकरण के बावजूद संपूर्ण देश को पहले की तरह आज भी कृषि देश के रूप में वर्गीकृत किया जा सकता है तथा इसका अधिकतर राजस्व भूमि से ही प्राप्त होता रहा है।

ब्रिटिश सरकार ने सही अथवा गलत तरीके से भूस्वामी पद्धति बनाम निजी संपत्ति का सिद्धांत स्थापित किया तथा इसी नीति के अनुरूप अपनी भू-राजस्व पद्धति नियमित की।

भारत में भू-राजस्व की विभिन्न पद्धतियां हैं। प्रिवी काउंसिल के विवरणों के अनुसार इसकी व्याख्या करना अधिक उपयुक्त होगा।

I. कार्नवालिस की जमींदारी व्यवस्था

इस पद्धति का अत्यंत महत्त्वपूर्ण लाभ संग्रहण की सुविधा है, क्योंकि सरकार के अधिकारियों द्वारा पूरे विवरण के रखरखाव के साथ राजस्व प्राप्त करने की तुलना में एक बड़े जिले के कुछ निश्चित जमींदारों अथवा अंशदाताओं से राजस्व प्राप्त करना अधिक सरल है। इसका दूसरा लाभ निःसंदेह 1831 के परिणाम की अधिक सुनिश्चित सीमा है (सी. 3339)।

अतः भूमि काश्तकारी की प्रथा इस प्रकार स्थापित हुई– जब ईस्ट इंडिया कंपनी ने बंगाल, बिहार एवं उड़ीसा की दीवानी की राजस्व वसूली का अधिकार हासिल किया तो उन्होंने यह पाया कि मुसलमान शासन के अधीन राजस्व अधिकारियों (सूबेदारों) की मध्यस्थता से भू-राजस्व एकत्रित किया जाता है जिनका जिले की विभिन्न पद्धतियों के आधार पर राजस्व कभी कम व कभी अधिक होता था अथवा जैसे विभिन्न ओहदेदारों तथा जमींदारों और तालुकदारों जो राजस्व को खजाने में एक ही बार जमा करते थे, और इसके लिए वे जिलों का अधिकांशतः प्रबंध करते पाए गए थे और बदले में उनका उत्तरदायित्व सरकार को एक निश्चित धनराशि वार्षिक तौर पर अदा करनी

होती थी। उनमें से बहुतों ने इस शर्त के अधीन अपने जिलों अथवा सम्पत्तियों को पुश्तैनी बना लिया था (2 सी.एफ. 1831 सी. 3114, 3115, 3215)। ईस्ट इंडिया कंपनी का बंगाल पर आधिपत्य होने से राजस्व एकत्र करने वाले विभिन्न प्रकार के कर्मचारियों को बहुत अपमान सहने पड़े। व्यापार का ब्यौरा इतना विस्तृत था कि इससे लार्ड कार्नवालिस तथा तत्कालीन सरकार सहम गई तथा छोटे काश्तकारों तथा छोटे किसानों के संरक्षण के लिए कोई उपाय नहीं ढूंढ़ा गया, सिवाए इसके कि भू-स्वामियों की श्रेणियां बनाई गईं जिनसे अत्यधिक लाभ अपेक्षित था। इसका मुख्यतः आधार यह था कि उन जमींदारों को जिन्हें जमीन से स्थान लगाव था, उनको वह भूमि सौंपी जाए जिससे कि छोटे किसानों की समृद्धि में वे दिलचस्पी लें। जिस प्रकार कि इंग्लैंड के जमींदार अपने काश्तकारों की समृद्धि के बारे में सोचते हैं। इससे दो लाभ सोचे गए। पहला, देश में भूमि की जागीरदारी उत्पन्न हुई तथा इससे भी अधिक छोटे काश्तकारों व किसानों के हितों को जमींदारों की पैतृक भावनाओं से सुरक्षा प्रदान करना संभव हुआ (1 सी.एफ. 1831 सी. 3136)।

संपूर्ण कृषक जनसंख्या की सुरक्षा एवं उत्तम उद्देश्य की दृष्टि से 1793 में जमींदारों को चाहे वे खेतिहार हों या जिले के संबंधित अधिकारी, वंशानुगत हों या विशेष नियुक्ति द्वारा, भू-सम्पत्ति का उन्हें स्वामी लगभग उसी तरह बनाया गया जिस तरह इंग्लैंड में साधारण शुल्क देकर भू-मालिक होते थे। जो राशि जमींदार परंपरागत रूप में दे दिया करते थे उसे गत वर्षों के निरीक्षण से तय कर सदा के लिए कर निश्चित कर लिया गया। एक प्रतिबंध बनाया गया कि भू-राजस्व की यह राशि उस से कभी भी बढ़ाकर वसूल न की जाए। इस प्रकार की जमींदारी अथवा भूमि व्यवस्था स्थायी बंदोबस्ती (परमानेंट सैटिलमेंट) के नाम से जानी जाती है– (2, सी. एफ. 1831 सी. 3115, 3116, 3136, 3215, 1832 आर.सी. पृष्ठ 21)।

II. ग्राम मालगुजारी पद्धति

ग्राम समुदाय व्यवस्था मुख्यतया उत्तर भारत में पाई जाती थी और अब भी विद्यमान है। भू-स्वामित्व अधिकार संपूर्ण ग्रामवासी समुदाय को प्राप्त हैं। गांव का प्रशासन ग्रामीण जनता द्वारा चुने गए मुखिया को सौंपा गया है जो उन्हीं के द्वारा हटाया जा सकता है। इस पद्धति के अधीन कभी-कभी भूमि उसी गांव के निवासियों को आध-बटाई पर दे दी जाती है और कभी पड़ोसी ग्रामवासियों को, यद्यपि भूमि का कुछ भाग और उसका कुछ अधिकार गांव के विभिन्न कारीगरों व शिल्पकारों जैसे विद्यालयाध्यापक, धोबी, नाई, बढ़ई, लोहार, चौकीदार, गांव के मुनीम आदि को दिया जाता है और प्रत्येक समुदाय के लोग इससे प्राप्त होने वाले काम का कुछ भाग गांव के स्वीकृत खर्च तथा अतिथि सत्कार के लिए रखते हैं (1 सी.एफ. 1830, एल. 398, 399, 405, 406, 529)। ये ग्रामीण समुदाय लघु

गणतंत्र सदृश्य हैं और कृषि आय से अपना गुजारा करते हैं और विदेशी संबंधों में लगभग स्वतंत्र होते हैं। एक के बाद दूसरे राजवंशों का पतन और इसी क्रम में राज्य क्रांतियां होती गयीं। हिंदू, पठान, मुगल, मराठा, सिख, अंग्रेज क्रमशः मालिक बने लेकिन ग्रामीण समुदाय वहीं का वहीं रहा और विपत्ति के समय शस्त्र उठाकर अपनी सुरक्षा करता रहा है; (2 सी.एफ. 1832 कॉमन्स रिव्यू कमेटी, पृ. 29)। गांव के उत्पाद का सरकार को दिये जाने वाले अंश को बताना कठिन है। किसी भी भू-स्वामी की यथार्थ सम्पत्ति के बारे में संबंधित विभागों को बहुत कम जानकारी होती थी। यह गांव की इच्छा या रुचि के बिना सरकार उनकी सम्पत्ति के बारे में जांच और इसकी जानकारी प्राप्त नहीं कर पाती थी। इसलिए अगर भाईचारे से कोई अपने ही हिस्से की मालगुजारी देने में असफल रहता है तो इस मामले का निपटारा स्वतंत्र रूप से ग्रामीणों द्वारा सफलतापूर्वक किया जाता है और वे ही उसका भुगतान करते हैं लेकिन ये सब उनके लिये संरक्षित निजी प्रबंध हैं। मुकदम को सरकार की ओर से इस निर्धारण को लागू करने का कोई अधिकार नहीं है। गांव के प्रत्येक व्यक्ति को कितनी राशि का भुगतान करना है इसका निर्धारण करना उनका अतिरिक्त मामला है। सरकार का हस्तक्षेप इसमें अवांछनीय है। ग्रामवासियों द्वारा की जाने वाली अदायगी का निर्धारण करना उनका पारस्परिक मामला है। जिसका निर्णय ग्राम की सम्पन्नता के आधार पर किया जाता है। उस कर में यह भी देखा जाता है कि अब तक कितनी अदायगी हो चुकी है और कितनी अदायगी अभी करनी है और कितनी की जा सकती है। यह सब गांव की भूमि की स्थिति पर निर्भर करता है। (3 सी.एफ. 1830 एल. 401, 402, 404, 528, 583, 585)।

प्रत्येक गांव की कृषि भूमि के पूरे लेखे जोखे के बारे में सरकार द्वारा सर्वेक्षण कराया गया है। अधिकारियों की उपस्थिति में न केवल विभागीय कर्मचारियों बल्कि संपूर्ण इच्छुक ग्रामीण समुदाय (रैयत) एवं आमंत्रित पड़ोसी ग्रामवासियों की सहायता से खेतों का निरीक्षण कराया गया है। गांव की सीमाएं ठीक से दर्ज की गईं और गांव की भूमि, कृषि उत्पादन, आवासों, फलदार वृक्षों और पुत्रों का ब्यौरा रखा जाता है। (1 सी.एफ. 1831 सी. 3492)।

III. रैयतवारी प्रथा

तीसरी तरह के मालगुजारी निर्धारण को रैयतवारी प्रथा कहते हैं। इसके अनुसार देश की संपूर्ण भूमि पर अधिकतम लगान लगाया जाता है (2 सी.एफ. 1831 सी. 45, 65)। प्रत्येक किसान की कृषि-भूमि पर जो लगान लगाया जाता है वह यथासंभव स्थाई होता है। लगान की यह राशि प्रतिवर्ष कृषि उपज के अनुसार घटती-बढ़ती

रहती है। इस प्रथा का दूसरा मुख्य सिद्धांत सभी रैयतवारों या खेतिहरों जो अब प्रत्येक गांव में मौजूद हैं के अधिकारों को सुरक्षित रखना है। उनके अधिकारों का उल्लंघन और अतिक्रमण रोकना है (3 सी.एफ. 1831 सी. 5156)। इस तरह रैयतवारी पद्धति में रैयतों को उनके हितों की पूरी जानकारी होती है जो जमींदारी पद्धति में नहीं है। जमींदारी पद्धति में तो प्रस्ताव ही किया जाता है जैसे देश की संपूर्ण भूमि पर लगान का निर्धारण कर दिया जाए लेकिन उस पर कभी कार्यवाही नहीं होती, किंतु लगान का निर्धारण भूमि पर कर दिया जाता है। इस पद्धति से सभी वर्गों के बड़े व छोटे भू-स्वामियों की सम्पत्ति का आदर किया जाता है और जायदाद के प्रत्येक हिस्से की पैमायश की जाती है और लगान का निर्धारण किया जाता है और इस तरह भू-सम्पत्ति के हस्तांतरण में मदद मिलती है। भू-सम्पत्ति का जब बाजार भाव आंका जाता है तो प्रथम प्रश्न यह उठता है कि भूमि की सार्वजनिक मांग के अनुसार उसका मूल्य कितना है (4 सी.एफ. 1831 सी. 4565, 4567, 4568)। रैयतवारी प्रथा प्रत्येक अवस्था या स्थिति में लागू होती है जहां उसके अनुसार भू-स्वामी किसानों के साथ इकरारनामा करते हैं। चाहे भूमि का क्षेत्रफल छोटा है अथवा बड़ा। यह समझौता समान रूप से लागू किया जा सकता है। खेत का यह मालिक सीधे सरकार से समझौता कर उस पर खेती करना आरंभ कर सकता है और वह यह भी जानता है कि एक निश्चित राशि से अधिक की अदायगी भूमि का मूल्य, मिट्टी के किस्म, जनसंख्या, स्थान और अन्य स्थितियों के आधार पर बदलती रहती है। लेकिन यथेष्ट रूप से भूमि की दशा सुधारने पर अधिक लगान भी निर्धारित किया जा सकता है तथापि उत्तम भूमि के लिए लगान की एक अधिकतम सीमा है जिससे लगान बढ़ने पर उसके सभी उत्पाद का लाभ-भू-स्वामी को जाता है। गंभीर विपदा के समय इसमें छूट है (1 सी.एफ. 1832 सी.आर.पी. 20)। जमींदारी पद्धति की तुलना में रैयतवारी प्रथा का दूसरा लाभ यह है कि लोगों को स्वतंत्र रूप से भूमि के मालिकाना अधिकार प्राप्त हो जाते हैं। वे केवल नाम मात्र के मालिक नहीं होते हैं और इससे बहुत लोगों को लाभ पहुंचा है लेकिन जमींदारी पद्धति में बहुत कम लोगों को लाभ होता है। जबकि रैयतवारी प्रथा में भी कुछ विचारणीय अवस्था तक पूंजी संचय की प्रवृत्ति होती है (2 सी. एफ. 1831 सी. 4577, 4578, 4579)।

ईस्ट इंडिया कंपनी के शासनकाल में भारत में मालगुजारी प्रथा ऐसी होती थी। जो अब भी विद्यमान है। इस प्रथा का आलोचनात्मक विश्लेषण हम आगे करेंगे।

राजस्व प्राप्ति का दूसरा महत्त्वपूर्ण शीर्ष अफीम राजस्व है। मालगुजारी राजस्व के बाद सर्वाधिक राजस्व अफीम की खेती पर लगने वाले लगान से मिलता है जो दो भिन्न प्रकार से लगाया जाता है:

(1) ''सरकार द्वारा बंगाल में अफीम की खेती और उसकी बिक्री की विशिष्ट पद्धति द्वारा''

(2) ''मालवा के राज्यों में की जाने वाली अफीम की खेती और बंबई से जहाजों द्वारा भेजी जाने वाली अफीम पर बंबई में लगाए गए अत्यधिक निर्यात शुल्क द्वारा''

1799 के अधिनियम छः की धारा 3 द्वारा बंगाल में और 1803 के अधिनियम 41 की धारा 2 के द्वारा उत्तर-पश्चिमी प्रांतों में पोस्त की खेती पर प्रतिबंध लगा था।

''सरकार द्वारा रैयतों के साथ कुछ चुने हुए जिलों में भूमि के कुछ भाग में सफेद पोस्त बोने के वार्षिक अनुबंध किए गए। आर्थिक पेशगी की पद्धति के अंतर्गत पोस्त के उत्पाद को अफीम के रूप में सरकार को एक निश्चित दर पर बेचा जाता था। बंगाल के अफीम की एकाधिकार खेती से 1856 में कुल 2,767,136 रुपये की आय हुई।''

अफीम के पारगमन से प्राप्त होने वाले राजस्व का एक अपना खूबसूरत छोटा सा इतिहास है। 1831 से पहले ब्रिटिश अफीम पर पूर्ण एकाधिकार बनाए रखने के लिए देशी रियासतों से रेजीडेंट के माध्यम से अफीम खरीदा करते थे और इसे बंबई और कलकत्ता में भेजते थे। लेकिन पुर्तगाल उपनिवेश में इसकी अधिक तस्करी को रोकने के लिए एकाधिकार नीति त्याग दी गई और इसके बदले दरों के मार्ग पर विशेष दर से परिवहन कर लगा कर बंबई तक की परिवहन लागत को पूरा किया गया। परिवहन कर सर्वप्रथम 140 पौंड वजन की प्रत्येक पेटी पर 175 रु. निश्चित किया गया। इस प्रक्रिया से आय में कमी थमी।

सिंध पर विजय से पुर्तगाली क्षेत्र में अफीम की तस्करी के अतिरिक्त मार्ग भी बंद हो गए। फलस्वरूप यह ठीक ही आशा की गई कि ऊंचे परिवहन कर से अधिक लाभ मिलेगा क्योंकि व्यापार की दिशा बदलना असंभव था। इसलिए अक्तूबर 1843 में यह दर बढ़ाकर 200 रु. प्रति पेटी की गई तथा 1845 में 300 रु. प्रति पेटी और 1847 में 400 रु. प्रति पेटी कर दी गई।

IV. नमक कर

भारत में नमक विभिन्न प्रकार से तैयार किया जाता है और देश के विभिन्न भागों में इस पर अलग-अलग प्रकार से कर लगाया जाता है।

यह या तो समुद्र के जल को उबालकर तैयार किया जाता है जैसे बंगाल में या

सूर्य के वाष्पीकरण से जैसे बंबई और मद्रास में या प्राकृतिक संसाधनों जैसे नमक की खानों से पंजाब में और नमक की झील से राजपूताना में।

बंगाल में कंपनी का नमक पर एकाधिकार था। यह स्वदेशी लोगों द्वारा बनाया जाता था जिन्होंने संपूर्ण नमक को एक निश्चित न्यूनतम मूल्य पर सरकार को देने को ठेका कर रखा था। सरकार तब इस नमक को छ: विभिन्न एजेंसियों हिजेली, तामलुक, चिटगांव, हिराकेन, कटक, बालासोर और खोरदाह से उस मूल्य पर बेचती थी जो आयातित नमक पर लगने वाले शुल्क तथा वास्तविक लागत को मिला कर बनता था। इसके परिणामस्वरूप ''इसका औसत उपभोक्ता फुटकर मूल्य'' एक पैनी प्रति पौंड था।

आयात शुल्क के बराबर उत्पाद शुल्क की पद्धति के अंतर्गत कलकत्ता में निजी तौर पर नमक के उत्पादन की अनुमति थी।

लेकिन 1836 में हाउस ऑफ कॉमन्स की अवर समिति की सिफारिश के आधार पर निश्चित मूल्य पद्धति आरंभ की गई और खुले गोदामों पर पहले की सामयिक बिक्री के बजाए नियमित बिक्री की जाने लगी।

मद्रास में नमक सरकार की ओर से बनाया जाता था और आंतरिक खपत के लिए बेचा जाता था। विदेशी आयातित नमक पर शुल्क के 3 रुपया प्रति पौंड से घटाकर लागत मूल्य और विक्रय मूल्य के अंतर के बराबर कर दिया गया।

बंबई में आयात शुल्क के बराबर उत्पाद शुल्क के आधार पर व्यक्तिगत तौर पर नमक का उत्पादन किया जाता था। पंजाब की नमक की खानें सरकार द्वारा चलाई जाती थीं और नमक उसी स्थान पर बेचा जाता था।

उत्तर-पश्चिम प्रांत में नमक की आपूर्ति बंगाल के निचले प्रांतों, राजपूताना की सांभर झील और पश्चिमी भारत के भागों से जाती थी। इन सभी से उत्तर पश्चिम प्रांतों में ले जाने वाले नमक पर शुल्क इस प्रकार लगाया जाता था ताकि यहां का मूल्य समान हो।

v. चुंगी (सीमा शुल्क)

प्रत्येक नगर और सड़क मार्ग पर असंख्य परिवहन या अंतर्देशीय कर, मार्ग-कर के रूप में लगाए जाते थे। लेकिन इन मार्ग-करों को बंगाल में 1836 के अधिनियम 14 द्वारा, बंबई में 1838 के अधिनियम 1, एवं मद्रास में 1844 के अधिनियम 6 द्वारा समाप्त कर दिया गया और संपूर्ण ब्रिटिश भारत में एक समान सीमा शुल्क पद्धति स्थापित की गई। अंतर्देशीय परिवहन करों के दुष्प्रभावों का बाद में वर्णन किया जाएगा।

सीमा–शुल्क राजस्व के दो स्रोत रह गए :

1. निर्यात और आयात पर समुद्री सीमा कर, नमक और नील के निर्यात पर समुद्रीय सीमा–शुल्क लगाया गया।
2. स्थल सीमा–शुल्क, मुख्यतया स्वदेशी और ब्रिटिश भारत की सीमाओं के पार जाने ले जाने वाली वस्तुओं पर लगाया जाता था।

VI. ***नमक और अफीम*** पर एकाधिकार जमाने के अलावा ईस्ट इंडिया कंपनी ने तम्बाकू पर भी एकाधिकार कर लिया जो राजस्व प्राप्ति का एक दूसरा साधन बन गए।

VII. ***स्प्रिट और शराब*** की एकाधिकार बिक्री से आबकारी या राजस्व प्राप्त होता था। अधिकतम बोली लगाने वालों को लाइसेंस बेचे जाते थे जिन्हें मनमर्जी के मूल्य पर बेचने का ठेका दिया गया था। कार्य करने के समय और दुकान के स्थान को सरकार द्वारा नियंत्रित किया जाता था।

VIII. ठेलों, बैल–गाड़ियों, बघ्घियों आदि पर पहिया–कर वसूल किया जाता था।

IX. अवर्गीकृत करों को ''सेयर–शुल्क'' कहा जाता था। देश के विभिन्न भागों में अलग–अलग प्रकार के कर लगे थे। कभी–कभी स्वदेशी राजस्व अधिकारियों द्वारा अनियमित रूप से की गई वसूली को इसमें शामिल किया जाता था। मद्रास में परिवहन कर और बंगाल में तीर्थयात्रा कर इसमें सम्मिलित थे। दक्षिण में ''यह राजस्व साधन'' दो मुख्य शीर्षों में विभक्त था, पहला, जिससे दुकानों, व्यापारों आदि पर कर लगा था, ''मोहतुरफा'' के नाम से पुकारा जाता था और दूसरा बलूता, जो ग्रामीण दस्तकारों द्वारा खेतिहारों से प्राप्त की गई ''फीस'' पर और उनकी इनामी (किराया मुक्त) भूमि जब वे इसे रखते थे, पर कर के रूप में लगाया जाता था। एक बार, खोटे सिक्कों पर कुछ प्रतिशत कर भी ''सेयर–शुल्क'' शीर्ष से सम्मिलित किया गया।

X. न्यायिक प्रभार वसूल करने की दृष्टि से विभिन्न मामलों में अलग–अलग मूल्य की टिकट (स्टाम्प) लगाने के रूप में *न्यायिक शुल्क* वसूल किया जाता था। टिकटों का मूल्य बाद के मूल्य के अनुसार होता था जैसे–

16 रु. तक के मुकद्मे (वाद)	टिकट का मूल्य 1 रु.
16 रु. से 32 रु. तक	2 रु.
32 रु. से 64 रु. तक	4 रु.
64 रु. से 150 रु. तक	8 रु.

150 रु. से 300 रु. तक	16 रु.
300 रु. से 800 रु. तक	32 रु.
800 रु. से 1,600 रु. तक	50 रु.
1,600 रु. से 3,000 रु. तक	100 रु.
5,000 रु. से 10,000 रु. तक	250 रु.
10,000 रु. से 25,000 रु. तक	500 रु.
25,000 रु. से 50,000 रु. तक	750 रु.
50,000 रु. से 1,00,000 रु. तक	1,000 रु.
1,00,000 रु. से अधिक पर	2,000 रु.

इसके अतिरिक्त प्रदर्शित लिखित पत्र, सम्मन, उत्तर, प्रत्युत्तरवादी का प्रतिवादी को उत्तर, पूरक अदालती बहस, वकीलों की अदालती बहस का प्रमाण–पत्र (सनद) सभी पर टिकटों की आवश्यकता होती है। ये टिकटें अदालत की अवस्था के अनुरूप बदलती हैं।

XI. *टिकट (स्टाम्प)* **:** शुल्क पहली बार बंगाल में 1797 में शुरू किया गया जो सभी लिखित दस्तावेजों, जैसे ठेके, विलेखों, हस्तान्तरण पत्रों, पट्टों, मुख्तारनामों, बीमा पालिसियों, वचन पत्रों, रसीदों, जमानतनामों और सामान्य कानूनी कार्यवाही पर लगाया जाता था। (25 रु. से कम के विनिमय पत्रों एवं 50 रु. से कम की रसीदों पर इनकी छूट थी)।

मद्रास में स्टाम्प पेपर व्यवस्था सर्वप्रथम 1808 में मुख्यतया कानूनी कार्यवाही के लिए आरंभ की गयी और 1816 में अनुबंध पत्र, विलेख, पट्टे, बंधक पत्र, विनिमय पत्र एवं रसीदें इसके अंतर्गत लायी गई थीं।

बंबई में यह कर सर्वप्रथम 1815 में आरंभ किया गया। स्टाम्प वितरण की अंग्रेजी विधि भारत में अपनाई गयी थी।

टिकट विक्रेता टिकट जिलाधीश से प्राप्त करते हैं। टिकट विक्रेता टिकटों के लिए जमानत देते हैं और टिकटें जरूरतमंद लोगों को बेचकर बिक्री पर कुछ प्रतिशत प्राप्त करते हैं।''

XII. *टकसाल राजस्व* **:** सिक्के की ढलाई पर 2 प्रतिशत की दर से सिक्का ढलाई मुनाफा के रूप में टकसाल राजस्व प्राप्त किया जाता था।

XIII. *जहाज रानी राजस्व* **:** कलकत्ता, मद्रास और बंबई के प्रतिष्ठानों के साधन रख-रखाव के लिए पोत और लंगर शुल्क के रूप में जहाजरानी राजस्व प्राप्त किया जाता था।

XIV. समझौते के अंतर्गत देशी राज्यों से लगभग 5 लाख पौंड की आर्थिक सहायता प्राप्त होती थी।

ईस्ट इंडिया कंपनी के अंतर्गत राजस्व प्राप्ति के ये चौदह स्रोत थे जिनमें से कई आज भी लागू हैं। (अंग्रेजी खंड में त्रुटि से तेरह स्रोत मुद्रित हैं–संपा)

III.

विभिन्न स्रोतों से प्राप्त कुल राजस्व और उसके प्रतिशत के अनुपात का विवरण इस प्रकार है–

भूमि कर **:** इसकी प्राप्ति और ब्रिटिश भारत के कुल राजस्व का अनुपात **:**

अवधि	भूमि कर औसत वार्षिक राजस्व	राजस्व से भूमि कर का अनुपात (प्रतिशत)
1	2	3
1792-93 से 1796-97	4,068,000	50.33
1797-98 से 1801-02	4,126,600	42.02
1802-03 से 1806-07	4,582,000	31.99
1807-08 से 1811-12	5,078,000	31.68
1812-13 से 1816-17	9,018,000	52.33
1817-18 से 1821-22	13,263,000	66.17
1822-23 से 1826-27	13,567,000	61.83
1827-28 से 1831-32	13,112,000	60.90
1832-33 से 1836-37	11,942,000	57.00
1837-38 से 1841-42	12,380,000	59.05
1842-43 से 1846-47	13,432,000	55.85
1847-48 से 1851-52	14,947,000	56.06
1852-53 से 1855-56	16,183,000	55.40
1792-93 से 1855-56	10,349,000	54.07

अफीम राजस्व : इसकी प्राप्ति और ब्रिटिश भारत के कुल राजस्व का अनुपात

अवधि	औसत वार्षिक राजस्व	कुल राजस्व से इसका अनुपात (प्रतिशत)
1	2	3
1792-93 से 1796-97	264,000	3.27
1797-98 से 1881-82	312,000	3.18
1802-03 से 1806-07	579,000	4.04
1807-08 से 1811-12	767,000	4.79
1812-13 से 1816-17	958,000	5.56
1817-18 से 1821-22	1,090,000	5.44
1822-23 से 1826-27	1,641,000	7.47
1827-28 से 1831-32	1,747,000	8.12
1832-33 से 1836-37	1,677,000	8.00
1837-38 से 1841-42	1,547,000	7.38
1842-43 से 1846-47	2,965,000	12.33
1847-48 से 1851-52	3,840,000	14.50
1852-53 से 1855-56	4,943,000	16.91
1792-93 से 1855-56	1,667,000	8.71

नमक कर : इसकी प्राप्ति और ब्रिटिश भारत के राजस्व का अनुपात

अवधि	औसत वार्षिक राजस्व	कुल राजस्व से इसका अनुपात (प्रतिशत)
1	2	3
1792-93 से 1796-97	1,207,000	14.93
1797-98 से 1801-02	1,188,000	12.10
1802-03 से 1806-07	1,589,000	11.09
1807-08 से 1811-12	1,785,000	11.14

1	2	3
1812-13 से 1816-17	1,882,000	10.92
1817-18 से 1821-22	2,256,000	11.25
1822-23 से 1826-27	2,603,000	11.87
1827-28 से 1831-32	2,590,000	12.03
1832-33 से 1836-37	2,036,000	9.72
1837-38 से 1841-42	2,593,000	12.37
1842-43 से 1846-47	2,798,000	11.65
1847-48 से 1851-52	2,438,000	9.14
1852-53 से 1855-56	2,677,000	9.17
1792-93 से 1855-56	2,118,000	11.07

सीमा-शुल्क राजस्व : इसकी प्राप्ति और ब्रिटिश राजस्व का अनुपात

अवधि	औसत वार्षिक राजस्व	कुल राजस्व से इसका अनुपात (प्रतिशत)
1	2	3
1792-93 से 1796-97	192,000	2.38
1797-98 से 1881-82	304,000	3.10
1802-03 से 1806-07	596,000	4.16
1807-08 से 1811-12	807,000	5.04
1812-13 से 1816-17	1,159,000	6.68
1817-18 से 1821-22	1,667,000	8.32
1822-23 से 1826-27	1,663,000	7.58
1827-28 से 1831-32	1,747,000	8.12
1832-33 से 1836-37	1,506,000	7.19
1837-38 से 1841-42	1,418,000	6.76
1842-43 से 1846-47	1,449,000	6.02
1847-48 से 1851-52	1,439,000	5.40
1852-53 से 1855-56	1,611,000	5.52
1792-93 से 1855-56	1,190,000	6.22

विविध राजस्व : इसकी प्राप्ति और ब्रिटिश भारत के कुल राजस्व का अनुपात

अवधि	औसत वार्षिक राजस्व	कुल राजस्व से इसका अनुपात (प्रतिशत)
1	2	3
1792-93 से 1796-97	2,315,000	28.64
1797-98 से 1801-02	3,809,000	38.79
1802-03 से 1806-07	6,857,000	47.87
1807-08 से 1811-12	7,452,000	46.49
1812-13 से 1816-17	3,990,000	23.16
1817-18 से 1821-22	1,392,000	6.94
1822-23 से 1826-27	1,986,000	9.05
1827-28 से 1831-32	1,789,000	8.31
1832-33 से 1836-37	3,059,000	14.60
1837-38 से 1841-42	1,434,000	6.84
1842-43 से 1846-47	1,636,000	6.80
1847-48 से 1851-52	1,977,000	7.40
1852-53 से 1855-56	1,575,000	5.39
1792-93 से 1855-56	3,043,000	15.90

राजस्व प्राप्ति के स्रोत और प्रत्येक से प्राप्त धन और संपूर्ण राजस्व से इनका अनुपात का यह विवरण था।

परिव्यय के प्रमुख शीर्ष निम्नलिखित हैं : –

1. राजस्व की वसूली पर होने वाला व्यय।

2. सेना एवं नौसेना पर व्यय।

3. असैनिक, न्यायिक और पुलिस पर व्यय।

4. लोक निर्माण कार्यों पर व्यय।

5. भारत के ऋण पत्रों पर ब्याज।

6. समझौतों तथा उनके अनुबंधों के अंतर्गत देशी राजाओं को भत्ते एवं उनके कार्यक्रमों पर व्यय।

7. गृह (आंतरिक) व्यय, जिसमें निम्न मदें शामिल थीं–

क. गृह ऋण पत्रों पर ब्याज।

ख. ईस्ट इंडिया भंडार के मालिकों को लाभांश।

ग. महारानी की सेना और स्थापना पर व्यय।

घ. ईस्ट इंडिया हाउस एवं नियंत्रण बोर्ड के सदस्यों का खर्च।

व्यय का कालक्रमानुसार तालिकाबद्ध विवरण कुछ महत्त्व का हो सकता है। सन् 1800 से 1857 की अवधि का चयन कर हम प्रत्येक दस वर्ष की अवधि को प्रतिनिधि वर्ष मान कर और उस वर्ष विशेष राजस्व प्राप्ति पर हुए व्यय के प्रतिशत के अनुपात को अंकित कर सकते हैं जो इस प्रकार है :

वर्ष	शुद्ध राजस्व	परिव्यय	सैनिक व्यय	ऋण का ब्याज	असैनिक व राजनैतिक व्यय	न्यायिक व्यय	प्रांतीय पुलिस	भवन एवं किलेबंदी
	पौंड स्टर्लिंग	पौंड स्टर्लिंग	%	%	%	%	%	%
1809–10	11,238,000	11,076,000	58,877	18.010	7.221	7.525	1.931	1.639
1819–20	13,016,000	12,934,000	64,290	12.805	8.900	6.800	2.093	1,756
1820–30	14,200,000	13,107,000	53,754	12.124	9.275	7.107	1.535	2.000
1830–40	13,742,000	13,004,000	57,721	9.756	12.296	9.525	2.062	1.428
1840–50	19,510,000	16,404,000	51,662	10.512	8.902	7.100	2.062	1665
1857	33,303,000	28,079,000	45,55	7.19	9.62	9.38	–	–

लोक निर्माण

प्रोफेसर एडम्स के अनुसार एक देश की वित्त व्यवस्था उसके विकासात्मक व्यय के दृष्टिकोण से आंकी जाती है और एक देश के विकासात्मक व्यय में लोक निर्माण का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसी मानदंड को अपनाते हुए हम ईस्ट इंडिया कंपनी की संपूर्ण वित्त–व्यवस्था को दोषी ठहराने के लिए विवश हो जाते हैं।

1853 से पूर्व प्रशासन युद्ध संचालन में व्यस्त था अतः यह न केवल लोक निर्माण कार्यों के लिए कोई नई योजना कार्यान्वित कर सका, बल्कि पुरानी योजनाएं भी तेजी से क्षीण होने लगीं।

डॉ. स्प्रे अपनी पुस्तक ''माडर्न इंडिया'' (1837) में कहते हैं ''केवल स्वतंत्र देशी राजाओं और राजकुमारों के राज्य क्षेत्रों में ही बड़े और लाभदायक निर्माण ही सुरक्षित पाये गये और उनका रखरखाव होता था हमारे राज्य क्षेत्रों में नहरें, पुल, जलाशय, कुंए, कुंज (बाग) जिनका हमारे पूर्वजों के राजकोष से निर्माण संभव हुआ था वे अब बहुत तीव्र गति से नष्ट हो रहे हैं।''

भारत में लोक निर्माण का वर्णन करते हुए श्री जॉन ब्राइट ने कहा–''यदि भारत के निवासियों के लिए लोक निर्माण कार्यों के संबंध में कोई बात कहूं तो मैं तथ्यतः यह कह सकता हूं कि पूरे भारत की सड़कों, यात्रा योग्य सड़कों की तुलना में एक अकेले अंग्रेजी देश में कहीं ज्यादा सड़कें हैं, मैं यह भी कहूंगा कि अकेले मानचेस्टर शहर में निवासियों के लिए पानी की आपूर्ति पर ही इतनी अधिक धनराशि व्यय की गई है जो कि ईस्ट इंडिया कंपनी द्वारा 14 वर्षों–1834 से 1848 में खर्च की गई राशि से अधिक है। यह संपूर्ण कार्य उनके निवासियों के लिए सार्वजनिक रूप में किया गया। मैं कहना चाहूंगा कि भारत सरकार का मुख्य कार्यकलाप विजय प्राप्त करने और विजित क्षेत्रों को अपने राज्य में मिलाने का रहा है।''

भारत की सभी प्रेसीडेंसियों के लिए लोक निर्माण विभाग में एकरूपता बनाने से पूर्व प्रशासन के इस महत्त्वपूर्ण विभाग को विभिन्न तरीकों से चलाया गया।

बंबई में इसे अधीनस्थ विभाग के रूप में मिलिट्री बोर्ड द्वारा चलाया गया : सड़कों एवं टैंकों के अधीक्षक को मिलिट्री बोर्ड से बाहर रखा गया।

बंगाल में मिलिट्री बोर्ड का पूर्ण नियंत्रण था। मद्रास में इस विभाग का प्रशासन तिहरा था, जो इस प्रकार था :

1. राजस्व बोर्ड का लोक निर्माण विभाग।
2. सड़क अधीक्षक।
3. मिलिट्री बोर्ड।

लार्ड डलहौजी ने इस प्रशासन व्यवस्था में एक समानता लाकर परिवर्तन कर दिया जिन्होंने लोक निर्माण कार्यों से संबंधित मामलों के लिए राज्य के अलग विभाग का सृजन किया।

हम ईस्ट इंडिया कंपनी के शासनाधीन निष्पादित किये गये लोक निर्माण कार्यों की संक्षिप्त रूप में समीक्षा करेंगे।

1. *नहरें*

गंगा नहर– 449½ मील।

पूर्व तथा पश्चिम यमुना नहर–पश्चिमी यमुना नहर का 445 मील लंबा भाग पूरा किया गया।

पंजाब की नहरें – पंजाब में बारी दोआब नहर का 425 मील लंबा भाग मई 1856 को पूरा कर दिया गया। मद्रास सिंचाई कार्य – कावेरी, गोदावारी तथा कृष्णा नदियों पर टैंक, जलाशय, बांध बनाए गए।

2. ट्रकों के लिए सड़कें	मील	लागत
कलकत्ता से पेशावर तक	1,423	1,423,000
कलकत्ता से बंबई तक	1,002	500,000
मद्रास से बंगलौर तक	200	37,121
बंबई से आगरा तक	734	243,676
रंगून से प्रोम तक	200	160,000
3. रेलवे लाइनें		
कलकत्ता से बर्दवान तक	120	
बंबई से वास्सिंद तक	50	
बंबई से कोम्पी तक	10	
मद्रास से वेलूर तक	81	

4. *इलैक्ट्रिक टैलीग्राफ*

कलकत्ता से पेशावर तक — सभी की लंबाई लगभग 400 मील
आगरा से बंबई तक
बंबई से मद्रास तक

श्री हैंडरिक्स कहते हैं : ''क्षेत्र तथा जनसंख्या की तुलना में इन कार्यों का विस्तार या तो इतना अधिक अथवा नियमित रूप से नहीं हो सका जितना अपेक्षित था। यदि हम पूर्ण रूप से सैनिक महत्त्व के कार्यों को इसमें से निकाल दें तथा उन मदों पर विचार करें जो संचार तथा सिंचाई कार्यों के भूमि तथा जल मार्गों के अधीन आते हैं अथवा दूसरे शब्दों में–राजस्व की दृष्टि से लाभदायक लोक निर्माण कार्यों की समीक्षा करें तो हम पाएंगे कि हाल ही के वर्षों में एक वर्ष में कुल डेढ़ लाख पौंड खर्च हुए। यदि हम अत्यावश्यक उत्पादक कार्यों जैसे जलमार्ग का निर्माण, सिंचाई कार्यों को लें तो हम पाते हैं कि वर्ष 1853-54 में 738,015 तथा 1854-55 में 543,333 से अधिक इनका विस्तार नहीं हुआ।

''राजस्व की स्थिति अति तीव्र तथा गहन लागत पर रोक लगाते हुए और जनसंख्या को दृष्टि में रखते हुए यह बहुत महत्त्वहीन नहीं जबकि 837,000 वर्ग मील में फैले ब्रिटिश भारतीय-राजक्षेत्र तथा इसके 132,000,000 प्राणियों की बात आती है। इसमें एक कठिनाई सामने आती है। यह कठिनाई स्पष्ट है जिसका निराकरण किया जा सकता है। ऐसे खर्च के उत्तम परिणाम व्यावहारिक, संक्षिप्त में यह कठिनाई न केवल स्पष्ट है बल्कि इस देश के औपनिवेशिक साम्राज्य की अन्य शाखाओं के इतिहास तथा नीति में भी यह स्पष्ट है। तथा ईस्ट इंडिया कंपनी अथवा अन्य देशों की व्यापारिक कंपनियों के इतिहास ने यह स्पष्ट कर दिया है कि सामान्य नियम का कोई अपवाद नहीं है कि सावधानीपूर्वक चुनी गई कार्य की मदों पर किया खर्च प्रायः अपव्यय और निरुद्देश्य सिद्ध हो सकता है जबकि इससे स्पष्ट हो जाता है कि यह ऐसा खेत है जिसकी फसल व्यय के निपुण आर्थिक पहलू का प्रमाण है।''

राजस्व के प्रभाव (दबाव)

अब हम जिस मुद्दे पर विचार करेंगे वह विषय से हटकर है, इसलिए नहीं कि हमारे क्षेत्र से बाहर है बल्कि इसलिए कि हमारे मार्ग में बहुत सी बाधाएं हैं। सर्वप्रथम तो यह है कि हमारे पास जनसंख्या के संबंध में सही आंकड़े उपलब्ध नहीं हैं। उस समय जनगणना के बारे में कोई जानकारी नहीं थी तथा जनसंख्या के आंकड़े केवल अनुमान पर ही आधारित होते थे और इतने अस्पष्ट होते थे कि इसका कोई ठोस वैज्ञानिक आधार नहीं होता था।

ऐसे अध्ययन में दूसरी मुख्य बाधा यह थी कि प्रत्येक वर्ष ईस्ट इंडिया कंपनी की सीमाओं का अनेक मीलों में विस्तार हो जाता था तथा आश्चर्य की बात तो यह थी कि क्या राजस्व में वृद्धि, करों की दरों में वृद्धि के कारण अथवा क्षेत्र विस्तार के कारण होती थी।

तीसरा कारण यह था कि ईस्ट इंडिया कंपनी के लेखे-जोखे बिल्कुल सही और त्रुटिरहित थे जैसे कि पूर्व में कहा गया है कि सन् 1813 तक के लेखे व्यावसायिक खातों के साथ मिले थे और बाद में संसद द्वारा इन लेखों को अलग कर दिया गया तब से मुश्किल से ही सुबोध रहे।

परिणामस्वरूप इन गंभीर बाधाओं से हमें अध्ययन के इस महत्त्वपूर्ण पक्ष को त्यागना पड़ा। यदि अलग-अलग विवरणों को एक साथ जोड़ दिया जाए तो इस सबसे हमें राजस्व के प्रभाव पर पहले वाले प्रभाव के बारे में कुछ जानकारी मिलेगी। केवल भूमि कर के बारे में श्री आर.सी. दत्त जो विषय के अद्वितीय विद्वान हैं, कहते हैं ''ब्रिटिश सरकार द्वारा लगाया गया भूमि कर केवल अधिक ही नहीं बल्कि इसमें जो बुरी बात

है वह यह कि यह बहुत से प्रांतों में इसकी दर अनिश्चित तथा अलग-अलग थी। इंग्लैंड में भूमि कर पौंड में एक शिलिंग से चार शिलिंग के बीच था अर्थात् 1798 के पूर्व सौ साल तक किराये के 5 से 20 प्रतिशत के बीच था जबकि इसे विलियम पिट द्वारा चिरस्थाई एवं शोधनीय बनाया गया था, बंगाल में भूमि कर किराये का 90 प्रतिशत निर्धारित किया गया था तथा उत्तर भारत में 1793 तथा 1822 के बीच यह किराये का 80 प्रतिशत था। यह सत्य है कि ब्रिटिश सरकार ने अपने पूर्ववर्ती मुस्लिम शासकों का अनुसरण किया जो भारी मात्रा में भूमि कर वसूल किया करते थे। लेकिन इनमें अंतर केवल यह था कि जो मुस्लिम शासक जितना कर निर्धारित करते थे वे उतना वसूल नहीं कर पाते थे, लेकिन ब्रिटिश शासक जितना कर निध ीरित करते वे उसे कठोरता से वसूल भी करते थे। बंगाल के अंतिम मुस्लिम शासक ने अपने शासन के अंतिम वर्ष (1764) के दौरान 817,553 पौंड भूमि कर वसूल किया। जबकि ब्रिटिश शासकों इसी प्रांत में 30 वर्षों में 2,680,000 पौंड भूमि कर वसूल किया। 1802 में अवध के नवाब ने इलाहाबाद तथा उत्तर भारत के कुछ समृद्ध जिले ब्रिटिश सरकार को समर्पित कर दिये। ब्रिटिश शासकों द्वारा विजित किए गए इन जिलों से तीन वर्षों के दौरान कर 1,682,306 पौंड भूमि कर के रूप में वसूल किया। मद्रास में ईस्ट इंडिया कंपनी द्वारा पहली बार लगाया गया भूमि कर कुल भूमि उत्पाद का आधा था। बंबई में 1817 में मराठों से जीते गये क्षेत्र में विजय के वर्ष के दौरान लगाया गया भूमि राजस्व 800,000 पौंड था, ब्रिटिश शासन के कुछ ही दिनों में बढ़ाकर यह कर 1,500,000 पौंड कर दिया गया तथा यह तब से लगातार बढ़ता गया।

''विशॅप हेबर ने ब्रिटिश भारत तथा देशी राज्यों (रजवाड़ों) की यात्रा करने के बाद 1826 में लिखा कि ''कोई भी भारतीय शासक इतना किराया नहीं मांगता जितना हम वसूल करते हैं।'' भारत में इस समय विद्यमान भूमि कर के विषय में सन् 1830 में कर्नल ब्रिग्स ने लिखा ''भू स्वामी के संपूर्ण कर को आत्मसात घोषित करने की बात के बारे में यूरोप व एशिया की किसी सरकार को जानकारी नहीं है।''

''बंगाल तथा उत्तर भारत के लोगों ने ब्रिटिश शासन के प्रारंभिक वर्षों में भारी भूमि करों में धीरे-धीरे कुछ राहत प्राप्त की, बंगाल में इन करों को स्थाई बना दिया गया तथा इसे खेती के विस्तार के साथ बढ़ाया नहीं गया। अब यह (सड़क तथा लोक निर्माण कार्यों पर लगाए गए करों सहित जो इस बीच किराये पर लगाया गया है) किराये पर 35 प्रतिशत के अनुपात में लगाया गया है। उत्तर भारत में इसको स्थाई नहीं बनाया गया लेकिन 1855 में सभी करों सहित इसे घटाकर 50 प्रतिशत से भी कम कर दिया गया। लेकिन नये कर शामिल कर दिए गए। कर निर्धारण की गणना

केवल वर्तमान किराये पर ही नहीं की गई बल्कि प्रमाणित किराये पर बढ़कर 60 प्रतिशत तक की गई।

बंबई व मद्रास में स्थिति कुछ-कुछ सीमा तक पूर्ववत रही। इन दोनों प्रेसीडेंसियों में रैयतवारी व्यवस्था ही विद्यमान रही। ईस्ट इंडिया कंपनी के शासन के दौरान रैयतवारी प्रथा की भूमि काश्तकारी को श्री फुलर्टन सदस्य मद्रास सरकार ने बहुत अच्छे तरीके से इस प्रकार स्पष्ट किया – ''कल्पना करें कि सभी भू-स्वामियों अर्थात् ग्रेट ब्रिटेन के सभी प्रमुख किसानों के संपूर्ण भूमि-हित भूमि से समाप्त हो गए। राज्य के प्रत्येक खेत पर निर्धारित कर की कल्पना कीजिए, सामान्यतया इसके भुगतान के तरीकों के अधीन किराये वाली भूमि को जोत तथा मवेशियों की संख्या के अनुसार 40 से 50 एकड़ की सीमा तक प्रत्येक गांव वासी को बांटी गई। कल्पना करें उपरोक्त रूप में निर्धारित राजस्व जो एक लाख राजस्व अधिकारियों की एजेंसी के माध्यम से वसूल किया जाता था, जिसे उनकी इच्छानुसार संकलित अथवा वितरित किया जाता था, यह व्यवसायी के भुगतान के तरीके पर निर्भर करता था कि यह उसके उत्पादन से दिया जाए अथवा अलग संपत्ति से। प्रत्येक व्यक्ति को पड़ौसी पर खुफिया नजर रखने के लिए प्रोत्साहित करने के उद्देश्य से तथा उसके भुगतान माध्यम की सूचना देने कि क्या वह अन्ततः स्वयं को अतिरिक्त मांग से बचा सकता है। कल्पना करें गांव के सभी किसानों पर किसी भी समय अलग कर लगाया जा सकता है। ताकि दूसरी बस्ती के एक या अधिक व्यक्तियों की असफलता को पूरा किया जाए। कल्पना करें बोर्ड के आदेशों के अधीन काम कर रहे प्रत्येक प्रदेश के समाहर्ता, श्रम के सभी प्रलोभन को समाप्त करने का स्पष्ट सिद्धांत पर निर्धारण की सामान्य समानता द्वारा, भगोडों को आपस में पकड़ने तथा उन्हें वापस भेजने और अंत में कल्पना करें कि समाहर्ता जो एकमात्र मजिस्ट्रेट अथवा प्रदेश का शांति-दण्डाधिकारी होता है, की सहायता से व्यक्ति द्वारा की गई व्यक्तिगत आपराधिक शिकायत बड़े न्यायालयों में पहुंचायी जा सकती है। कल्पना करें कि इसी प्रकार प्रत्येक अधीनस्थ अधिकारी जो भू-राजस्व एकत्र करने का कार्य करता है और जिसे पुलिस अधिकारी भी कहा जाता है तथा जिसे हिरासत में बंद करने, जुर्माना करने, पद से च्युत करने, दंडित करने, दोषी की शपथ लिए बिना, लिखित में गवाही लेने का अधिकार है।''

इस संबंध में श्री मार्टिन लिखते हैं, ''यदि मद्रास में रैयतवारी पद्धति का समर्थन करने वालों की यदि किसी तरह आंखें खुल सकती हैं तो उन यातनाओं के रहस्योद्घाटन से ही खुल सकती हैं। स्वर्गीय श्री सुल्लीवन, मद्रास परिषद् के सदस्य ने लेखक को बताया कि जब उन्होंने अपनी कचहरी (ट्रैजरी) से चांदी से भरी गाड़ी को मद्रास के लिए रवाना होते देखा तथा उन लोगों की गरीबी की याद आई जिनसे यह चांदी

एकत्रित की गई थी तो उनकी आगामी वर्ष के दौरान होने वाली दयनीय स्थिति को ध्यान कर वह कांप उठे क्योंकि सरकार की मांग बहुत कठोर थी कि कुछ निश्चित धनराशि वसूल करनी ही चाहिए।''

अन्तर्देशीय परिवहन करों पर विचार बाद में तब किया जाएगा जब हम कंपनी शासन के दौरान भारतीय अर्थव्यवस्था पर विचार करेंगे।

कराधान के दबाव के प्रभाव की तुलना में लोगों की आय के बारे में हमारे पास बहुत कम जानकारी है।

कराधान से आय की तुलना करने के अलावा कराधान के दबाव या प्रभाव का कोई स्पष्ट विवेचन प्रस्तुत नहीं किया जा सकता लेकिन लोगों की आय के बारे में हमारी जानकारी बहुत कम है। मुनरो के अनुसार एक कृषि मजदूर की औसत आय 4 शिलिंग से 6 शिलिंग मासिक के बीच थी, जबकि प्रति व्यक्ति जीवन निर्वाह लागत 18 शिलिंग से 27 शिलिंग प्रति वर्ष थी। कर का क्या प्रभाव था इसके बारे में हमें जानकारी नहीं है। परिस्थिति साक्ष्यों के आधार पर यह स्पष्ट होता है कि यह बहुत अधिक था।

IV

श्री मार्टिन संपूर्ण वित्तीय इतिहास को अत्यंत प्रभावपूर्ण ढंग से इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं–

''क्लाइव द्वारा समृद्धि की आकांक्षाएं, जिनमें कंपनी का राजक्षेत्र हस्तगत (वृद्धि) करना भी सन्निहित है पूरी नहीं हो पाई और उस समय जब बिहार व बंगाल की दीवानी कंपनी को दी गई तथा बाद के अवसरों पर भी यह देखा गया कि राजस्व में वृद्धि व्यय के अनुपात में बहुत अधिक थी अर्थात् यूरोपियनों द्वारा सरकारी खर्चे, प्रत्येक प्रेसीडेंसी में मौजूदा सेना में वृद्धि व अवैध खर्चो के स्रोत, पूर्वानुमानित अधिशेष को समाप्त कर देना तथा देश के साधनों के विकास के लिए भी अधिशेष को छोड़ना अथवा सड़कों, नहरों के रखरखाव तथा देशी शासकों द्वारा निर्मित अन्य सार्वजनिक निर्माणों के लिए भी शेष न छोड़ना मुख्य थे।''

बड़ा आश्चर्य है कि कंपनी के वित्तीय मामलों का बड़े गलत तरीके से प्रबंध किया गया। उस समय के एक लेखक का कहना है कि ''सेना के सभी अधिकारी ब्रिटिश सैनिक थे जो यूरोपीय रणनीति के अनुसार सेना का कपट पूर्ण प्रबंध करते थे। अंग्रेजी कानून की भावना हमारे न्याय क्षेत्र में भी फैल गई, हमारे राजस्व पर कर निर्धारण की व्यवस्था एडम स्मिथ तथा उसके अनुयाइयों द्वारा निर्धारित सिद्धांतों पर आधारित है। केवल हमारी वित्त व्यवस्था ही भारतीय है। हमारे सैनिक जॉमिनी की रणनीति का अध्ययन करते हैं। हमारे नागरिक भी ब्लैकस्टोन एवं बेनथम तथा

मिल और रिकार्डों की पुस्तकों का अध्ययन करते हैं। लेकिन हमारे वित्त ग्राहियों की पद्धति लगभग तीन सौ साल पुरानी अर्थात् अकबर के मंत्री अबुल फजल की प्रणाली के आधार पर ही है।''

सकल राजस्व (आय)/सकल व्यय

वर्ष (1)	पौंड (2)	पौंड (3)
1792-93	5,512,761	3,873,859
1793-94	8,276,770	6,593,129
1794-95	8,026,193	6,564,808
1795-96	7,866,094	6,888,997
1796-97	8,018,171	7,508,038
1797-98	8,059,880	8,015,327
1798-99	8,652,033	9,139,363
1799-1800	9,736,672	9,955,390
1800-01	10,485,059	11,468,185
1801-02	12,163,589	12,410,045
1802-03	13,464,537	12,326,880
1803-04	13,271,385	14,395,405
1804-05	14,949,395	16,115,183
1805-06	15,403,409	17,421,418
1806-07	14,535,379	17,508,864
1807-08	15,669,905	15,850,290
1808-09	15,525,055	15,392,889
1809-10	15,655,985	15,534,711
1810-11	16,679,197	13,909,981
1811-12	16,605,615	13,220,966
1812-13	16,336,290	13,515,828
1813-14	14,228,711	13,617,725
1814-15	17,297,280	15,955,006
1815-16	17,237,819	17,059,968
1816-17	18,094,578	17,304,162
1817-18	18,375,820	18,046,194
1818-19	19,459,017	20,396,587
1819-20	19,230,462	19,689,107

वर्ष	पौंड	पौंड
(1)	(2)	(3)
1820–21	21,352,241	20,057,252
1821–22	21,803,108	19,856,489
1822–23	21,171,701	20,083,741
1823–24	21,280,384	20,835,997
1824–25	20,750,183	22,504,156
1825–26	21,128,388	24,168,013
1826–27	22,383,497	23,312,295
1827–28	22,863,263	24,053,837
1828–29	22,740,691	21,718,560
1829–30	21,695,208	20,568,358
1830–31	22,019,310	20,233,890
1831–32	18,317,237	17,048,173
1832–33	18,477,924	17,514,720
1833–34	18,267,368	16,924,332
1834–35	28,856,647	16,684,496
1835–36	20,148,125	15,994,804
1836–37	20,999,130	17,363,368
1837–38	20,858,820	17,553,525
1838–39	21,158,099	21,306,232
1839–40	20,124,038	22,228,011
1840–41	20,851,073	22,546,430
1841–42	21,837,823	23,534,446
1842–43	22,616,487	23,888,526
1843–44	23,586,573	24,925,371
1844–45	23,666,246	24,293,647
1845–46	24,270,608	25,662,738
1846–47	26,084,681	26,916,188
1847–48	24,908,302	26,747,474
1848–49	25,396,386	26,766,848
1849–50	27,522,344	26,960,988
1850–51	27,625,360	27,000,624
1851–52	27,832,237	27,098,462

वर्ष	पौंड	पौंड
(1)	(2)	(3)
1852–53	28,609,109	27,976,735
1853–54	28,277,530	30,240,435
1854–55	29,133,050	30,753,456
1855–56	30,817,528	37,637,530
1856–57	31,691,015	31,608,875
1857–58	31,706,776	41,240,571

1792 से 1857 के बीच के समय का उल्लेख करते हुए श्री आर.सी. दत्त कहते हैं ''यह देखा गया है कि यदि चौदह वर्ष तक घाटा हुआ तो 32 वर्ष लाभ के रहे। घाटा लगभग एक करोड़ 70 लाख का हुआ तो लाभ लगभग 4 करोड़ 90 लाख का। अतः भारतीय प्रशासन का कुल वित्तीय लाभ छियालीस वर्षों के दौरान 3 करोड़ 20 लाख का हुआ लेकिन भारत में इस धन की बचत नहीं हुई और ना ही इनका सिंचाई अथवा सुधार के अन्य कार्यों पर उपयोग किया गया। यह सारा धन कंपनी के शेयरधारकों को लाभांश का भुगतान करने के लिए इंग्लैंड भेज दिया गया और चूंकि भारत से धन का यह प्रवाह लाभांश का भुगतान करने में पर्याप्त नहीं था, अतः ऋण का योग बढ़ता गया जिसे भारत का सार्वजनिक ऋण कहा गया।'' (1. आर.सी. दत्त, इंडिया अंडर अरली ब्रिटिश रूल, पृष्ठ 408)।

इंग्लैंड और भारत में दो विभिन्न तरीकों से ऋण लिया गया।

भारत में जब सरकार को धन की आवश्यकता पड़ती तो वह विज्ञापन निकालती कि निश्चित ब्याज दरों पर तथा निर्धारित शर्तों पर खजाने में ऋण के रूप में धन जमा कराया जा सकता है। जब तक इस प्रकार ऋण खुले रहे तो पार्टियां खुशी से धन जमा करती रहीं तथा पावती में ऋण-पत्र प्राप्त करते रहे। ऋण पर यह धन केवल भारत में ही लिया गया।

इंग्लैंड में अलग प्रणाली प्रचलित की गई, यह प्रणाली केवल संसद द्वारा इस प्रकार निर्धारित की गई थी जिसके द्वारा ईस्ट इंडिया कंपनी ने ही ऋण प्राप्त किया। अन्य निर्गतों के लिए बॉण्ड आदि प्रणाली निर्धारित की गई जिसके माध्यम से निगम ऋण प्राप्त करते थे तथा यह सभी गृह-ऋण-बॉण्डों के माध्यम से प्राप्त किया गया।

कंपनी के नियमों के अधीन भारत के सार्वजनिक ऋण से ही पूर्णतः युद्ध का व्यय-भार वहन हुआ।

हम इन दोनों ऋणों की प्रगति का उल्लेख अलग से करेंगे।

भारतीय ऋण

1792 में भारतीय ऋण 7,000,000 पौंड से कुछ अधिक था जो कि सात वर्षों में बढ़कर 10,000,000 पौंड हो गया। 1800 में यह ऋण कुल 1,342,854 पौंड ब्याज सहित 14,625,384 पौंड था। जब मराठों के साथ वैलेजली का युद्ध हुआ जिसमें यह ऋण एकदम बढ़कर 30,098,857 पौंड हो गया जिसमें 1807-8 में 2,339,087 पौंड ब्याज की राशि भी शामिल थी। शांति स्थापित होने के साथ ऋण की अदायगी के द्वारा ऋण को कम करने के प्रयास किये गये। इसी नीति के कारण 1810-11 में भारतीय ऋण घटाकर 1,503,434 पौंड के ब्याज सहित 22,545,843 पौंड कर दिया गया। लेकिन युद्ध नियम तथा शांति अपवाद हो गए और 1819-20 में नेपाल युद्ध तथा प्रथम मराठा युद्ध के कारण भारतीय ऋण बढ़कर 31,338,855 पौंड हो गया। 1823-24 में मध्यवर्ती शांति होने के परिणाम स्वरूप ऋण घट गया। लेकिन अगले वर्ष 1824-25 के प्रथम बर्मी युद्ध से यह ऋण बढ़कर 38,316,486 पौंड हो गया। 1835-36 में ऋण घटकर 3,18,21,118 पौंड हो गया। लेकिन भारत में सैनिक कार्यवाही की श्रृंखला जारी रही। अफगान युद्ध, दो सिख युद्ध, बर्मा के दूसरे युद्ध से यह ऋण बढ़ गया। जो बढ़कर 1852-53 में 52,313,094 पौंड तथा ब्याज 2,479,133 पौंड हो गया। 1853-54 में यद्यपि भारतीय ऋण घटकर 49,762,876 पौंड हो गया। 1853-54 में लोक निर्माण कार्य नीति प्रारंभ की गई जिसके परिणामस्वरूप 1855-56 में भारतीय ऋण बढ़कर 55,546,650 पौंड हो गया। 1857-58 में भारत में गदर मच गया अथवा स्वतंत्रता संग्राम हुआ जिससे यह ऋण बढ़कर 60,704,084 पौंड हो गया।

गृह बॉड ऋण (इंग्लैंड में)

1800 में 5 प्रतिशत ब्याज की दर से गृह बॉड ऋण की राशि 1,487,112 पौंड थी। वैलेजली के युद्धों से भी गृह ऋण पर प्रभाव पड़ा तथा 1807-08 में यह बढ़कर 4,205,275 पौंड हो गया, 1807-12 में गृह ऋण बढ़कर सबसे अधिक 5 प्रतिशत की दर से ब्याज सहित 6,565,900 पौंड हो गया। 1816-17 में ब्याज दर घटकर 4 प्रतिशत हो गई तथा इसमें और वृद्धि नहीं हुई। 1814-15 में यह ऋण घटकर 4,376,976 पौंड हो गया, ऋण के यदा-कदा कमी किए जाने के कारण 1840-41 में यह ऋण घटकर 1,734,300 पौंड हो गया। अफगान युद्ध तथा गदर के परिण ामस्वरूप गृह बॉण्ड ऋण बढ़कर 3,894,400 हो गया। गदर की लागत 40,000,000 पौंड अतिरिक्त थी।

यह अत्यंत आश्चर्यपूर्ण बात है कि भारतीय ऋण की तुलना में भारतीय गृह बॉण्ड ऋण अत्यंत कम है लेकिन जब हमें यह ज्ञात होता है कि ईस्ट इंडिया

कंपनी की इंग्लैंड में ऋण प्राप्त करने की क्षमता को संसदीय विनियमों द्वारा कठोरता से प्रतिबंधित किया गया तो हमारा आश्चर्य एकदम विलुप्त हो जाता है। संसद को कंपनी के शासन के लाभ में अधिक रुचि थी न कि उसकी होने वाली हानि में। इसे भारतीय साम्राज्य पर नियंत्रण पाने की बहुत उत्सुकता थी। लेकिन लक्ष्य प्राप्त करने तक यह सदैव समस्यामूलक ही बना रहा तथा परियोजना में देश की अभिरुचि को जोखिम में नहीं डालना चाहते जिसमें सफलता के बावजूद इसके लाभदायक परिणाम भी निहित थे। अतः संसद ने कंपनी के द्वारा एक सीमा से अधिक ऋण प्राप्त करने पर कठोर नियंत्रण लगा दिया ताकि कंपनी भारत पर से अपना आधिपत्य न खो दे जिससे अंग्रेजी पूंजी को खतरे में डालकर इंग्लैंड के लिए तबाही का कारण न बने।

V
भारत तथा 1858 का अधिनियम

इस तथ्य के बावजूद कि ईस्ट कंपनी इंग्लैंड की समृद्धि का स्रोत नहीं, इसे ब्रिटिश संसद तथा वहां के लोगों के हाथों बहुत अपमान सहना पड़ा।

ईस्ट इंडिया कंपनी को भारतीय व्यापार के एकाधिकार के प्रति ईर्ष्या थी तथा ब्रिटिश शासन कंपनी को यह विशेषाधिकार सौंप कर इससे अब यथासंभव लाभ प्राप्त करने के लिए कटिबद्ध था। कंपनी के प्रशासन की प्रत्येक कमजोरी धन ऐंठने तथा बाधा उत्पन्न करने का बहाना बन गया था।

भारतीय व्यापार के एकाधिकार से प्राप्त धन को कंपनी से छीनने के लिए चार्टर (राजपत्र) का बार-बार नवीकरण किया जाता था।

कंपनी के इतिहास के आरंभ में ही व्यापार के एकाधिकार के संबंध में विवाद उठ गया तथा इसके पक्ष-विपक्ष में बहुत तीक्ष्णता से वाद-विवाद हुआ। 1833 तक कंपनी ने अपने एकाधिकार को बनाए रखने के लिए अंग्रेजी राजसत्ता पर विजय प्राप्त करने के लिए हर तरीका अपनाया। लेकिन उसी वर्ष एकाधिकार के विरुद्ध प्रचार इतना तीव्र हो गया कि कंपनी तथा मंत्रियों दोनों को हार माननी पड़ी तथा संपूर्ण इंग्लिश जनता के लिए ईस्ट इंडिया व्यापार खोल दिया गया।

1834 के अधिनियम के द्वारा कंपनी वाणिज्यिक निगम नहीं रही। कंपनी के दायित्व किस प्रकार पूरे किये गये इसका विवरण इस प्रकार है–

"1834 के अधिनियम के अधीन बेची गई वास्तविक व्यावसायिक सम्पत्ति से 15,223,480 पौंड प्राप्त हुए जिसका निपटान इस प्रकार किया गया: 8,191,366 पौंड भारतीय ऋण की अदायगी के रूप में, 2,218,831 पौंड इंग्लैंड में राजक्षेत्रीय प्रभार

के रूप में अदा किये गये, 1,788,525 पौंड गृह ऋण की अदायगी के रूप में दिये गये। 1874 में कंपनी के पूंजी स्टाक 6,000,000 के अंतिम शोधन हेतु चक्रवृद्धि ब्याज पर ''प्रतिभूति बॉण्ड उपलब्ध कराने हेतु 2,000,000 पौंड बैंक ऑफ इंग्लैंड को निधियों के निवेश हेतु जमा कराये गए, जहाज मालिकों तथा अन्य व्यक्तियों पर क्षतिपूर्ति के रूप में 561,600 पौंड खर्च किए गये, तथा भारत सरकार के लिए उपलब्ध बकाया रोकड़ के उद्देश्य से बाकी 463,135 पौंड इंग्लैंड में रख लिये गये। कंपनी द्वारा घोषित व्यावसायिक अनुपलब्ध परिसम्पत्तियों जैसे इंडिया हाउस, लीडन हाल स्ट्रीट, मिलिट्री भंडार विभाग के लिए प्रतिधारित एक भंडार, भारत में भवन सम्पत्ति जिसका कुल मूल्य 635,445 पौंड था कंपनी के कब्जे में रहा लेकिन इसका उपयोग भारत सरकार द्वारा किया गया था।

यद्यपि कंपनी व्यापार निकाय नहीं रही लेकिन उसने भारत में अपने राजक्षेत्रों की राजनैतिक प्रभुसत्ता के अस्तित्व को बराबर बनाए रखा। दुर्भाग्य से कंपनी तेजी से अपना अस्तित्व खो रही थी।

यह मानना भूल होगा कि 1857 के गदर में परिलक्षित अकुशलता के कारण ईस्ट इंडिया कंपनी समाप्त कर दी गई। इसके विपरीत वास्तव में गदर की घटना के पूर्व सम्राट द्वारा भारत सरकार का कार्यभार ग्रहण करने के बारे में बातचीत चलती रही थी जो इस तथ्य की प्रतीक है कि गदर के कारण अन्यथा ब्रिटिश राजनेता जो कुछ भी उपलब्ध था उस पर सीधा नियंत्रण रखने के लिए आतुर थे, लेकिन भारत में एक निगम की स्थापना कर जो उनका अच्छी तरह से भरण पोषण करे उसके माध्यम से परोक्ष रूप से भारत में शासन करना चाहते थे। कुल मिलाकर यह प्रक्रिया बहुत श्रम साध्य थी। 1857 में क्रीमियन युद्ध में अपनी सफलता के परिणामस्वरूप लार्ड पामर्स्टन भारी बहुमत से सत्ता में आए और उन्होंने तुरंत कंपनी के निदेशकों को कंपनी की समाप्ति के लिए एक विधेयक लाने तथा सम्राट द्वारा सीधे भारत सरकार की पूर्ण अवधारणा के प्रस्ताव की अधिसूचना से आश्चर्यचकित कर दिया।

दुर्भाग्य से 1857 में गदर हुआ जिसने जोरों पर चल रहे समापन आंदोलन में और अधिक तेजी ला दी।

31 दिसम्बर 1857 को कंपनी के अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष ने पामर्स्टन की अधिसूचना का यह जवाब दिया कि ''कंपनी के समान भारतीय प्रशासन को चलाने के लिए एक मध्यवर्ती, गैर-राजनैतिक तथा स्वतंत्र निकाय की आवश्यकता है।''

इसके अतिरिक्त कंपनी ने संसद के दोनों सदनों को औपचारिक याचिका भेजी। जान स्टुआर्ट मिल ने याचिका का मसौदा बनाते हुए कंपनी के समापन हेतु विधेयक को प्रस्तुत करने वाले प्रस्तावक के दोष दर्शाए। सम्राट ने तर्कों में प्रारंभ से ही नियंत्रण

बोर्ड के प्रभारी मंत्री के माध्यम से भारत सरकार पर अपना नियंत्रण बनाए रखा। भारत सरकार तथा सम्राट के मंत्री के मध्य एक निदेशकों का कोर्ट था जो नये विधेयक को विकसित करना चाहता था। मिल ने अपना तर्क दिया कि निदेशकों का कोर्ट (ईस्ट इंडिया कंपनी का एक अंग), अनुभव का मूर्त रूप भारत के प्रशासन पर वास्तविक नियंत्रण करने वाले सम्राट के मंत्री का एक अच्छा मार्गदर्शक था और यह भी कहा कि प्रशासन व्यवस्था में यदि कोई खामी आ गई है इसके निराकरण के रूप में जो उपाय सोचे गये हैं अर्थात् निदेशकों के कोर्ट को समाप्त करना तथा सम्राट के मंत्री को निरंकुश शासक बनाना कहीं अधिक भयावह है।

''यह विश्वास करना कि निदेशकों की कोर्ट की सहायता के बिना यदि सम्राट का मंत्री भारत का प्रशासन चलाएगा तो वह त्रुटि रहित होगा तो यह मानना होगा कि मंत्री अपनी इच्छा के अनुसार पूरी शक्ति से भारत का प्रशासन चलाएगा क्योंकि उसे अनुभवी और उत्तरदायी परामर्शदाताओं की सहायता प्राप्त है।

भारत के इंग्लैंड से भावी संबंधों के बारे में मत वैभिन्न्य उत्पन्न हो गए।

इंग्लैंड के महत्त्वपूर्ण समाचार-पत्र *'स्टेनले रिव्यू'* ने तर्क दिया कि भारत को अंग्रेजी राजनीति से दूर रखने के लिए ईस्ट इंडिया कंपनी बरकरार रखी जाए। इससे यह तथ्य स्पष्ट हो गया कि जो अंग्रेज भारत में आए वे निरंकुश हो गए। जिससे प्रजातंत्र को खतरा उत्पन्न हो गया। इसने स्पष्ट रूप से यह घोषणा की कि ''एक विशाल टारपीडो की तरह भारत इंग्लैंड के लाभदायक क्रियाकलापों को नष्ट कर देगा। तथा इंग्लैंड का स्वतंत्र नैतिक जीवन शक्तिहीन हो जाएगा।'' ...और यदि इंग्लैंड के पूर्ण नियंत्रण में लाया गया तो यह विचारधारा के रूप में कार्य करेगा जिससे उसे नेपल्स के राजा के सिद्धांतों तथा मैडम स्टोव लैग्री की प्रक्रिया के बारे में जानकारी प्राप्त होगी।''

कोंटे के शिष्य रिचर्ड कांग्रीव जैसे अन्य लोगों ने कहा कि भारत को स्वयं अपने भाग्य का निर्णय करने के लिए छोड़ देना चाहिए। उन्होंने बताया कि एक व्यक्ति का दूसरे पर शासन करना नैतिक पतन करना है तथा मानवता के बेहतर विकास के लिए भी उपयुक्त नहीं है। अंग्रेजों द्वारा भारत छोड़ देने के पश्चात् वहां किसी दूसरे देश को पदार्पण न करने देने के लिए उसने यह प्रस्तावित किया कि भारत को उत्तराधि कार के रूप में सौंपे गए प्रशासन को नियमित करने के लिए एक अंतर्राष्ट्रीय बोर्ड का गठन किया जाए जिसका उद्देश्य भारतीयों को अपनी स्वतंत्र सरकार बनाने में सक्षम करना होगा।

लेकिन ब्रिटिश सांसदों को इनमें से कोई भी विचार रुचिकर नहीं लगा क्योंकि उन्होंने अलग ही निर्णय किया था। वे ईस्ट कंपनी को समाप्त करने का इरादा कर

चुके थे तथा तत्काल भारत सरकार को सम्राट के अधीन लाना चाहते थे और इस दोहरी सरकार के लिए एक प्रत्यक्ष सरकार प्रतिस्थापित करना चाहते थे। इसके परिणामस्वरूप न तो याचिका और न ही स्वतंत्र सार्वजनिक विचार का ही कोई प्रभाव पड़ा तथा भारत की भावी सरकार के लिए और पामर्स्टन ने कंपनी की समाप्ति के लिए अपना विधेयक प्रस्तुत किया, किन्तु इस विधेयक के पारित होने से पूर्व षड्यंत्र से पामर्स्टन की सरकार का तख्ता पलट गया। फलस्वरूप लार्ड डर्बी के नेतृत्व में कंजरवेटिव सरकार बनी। लार्ड पामर्स्टन के विधेयक के विफल होने के बाद लार्ड डर्बी के अधीन चांसलर बेंजामिन डिजराइली ने अपना ''इंडिया बिल'' प्रस्तुत किया। जॉन स्टुआर्ट मिल का इन दोनों विधेयकों का तुलनात्मक अध्ययन शिक्षात्मक है और बाद की घटनाओं से उनका मतभेद उभर कर आया।

इन विधेयकों में (एक राष्ट्र की दूसरे राष्ट्र की सरकार द्वारा) कठिनाइयों को दूर करने का जो प्रावधान है इसमें प्रस्तावित साधनों में एक मंत्री की अनियंत्रित शक्तियां निहित हैं। इन दोनों विधेयकों में लेशमात्र भी अंतर नहीं है। यह सत्य है कि मंत्री को परिषद् रखनी होती है, लेकिन अत्यंत तानाशाह की भी परिषदें होती हैं। एक तानाशाह की परिषद् तथा एक गैर-तानाशाह की परिषद् में इतना ही अंतर होता है कि एक परिषद् तानाशाह से स्वतंत्र है जबकि दूसरी उस पर आश्रित होती है। पहले विधेयक (लार्ड पामर्स्टन विधेयक) से पूरी परिषद् मंत्री द्वारा नाम-निर्देशित की जाती है। दूसरे विधेयक (डिजराइली) द्वारा आधे सदस्य इसके द्वारा नाम-निर्देशित किये जाते हैं। सौंपे गये कार्यों को कुछ अपवादों सहित मंत्री के अपने स्वविवेक पर छोड़ दिया गया है।''

लार्ड पामर्स्टन के विधेयक से अधिक बुरी स्थिति डिजराइली के विधेयक की हुई। यह विफल हो गया। अतः अगस्त 1858 में एक नया विधेयक प्रस्तुत किया गया तथा उसे भारत में बेहतर सरकार के अधिनियम के रूप में पारित किया गया।

भारत के इस अधिनियम की (धारा 75) के उपबंध जो भारत के प्रशासन को नियंत्रित करते हैं, उनको प्रवृत्ति के अनुसार श्रेणियों में बांटा जा सकता है–

1. अतीत के मामलों से संबंध रखने वाले।

2. भावी मामलों से संबंध रखने वाले।

हम पहले अतीत के मामलों से संबंध रखने वाले मामलों पर विचार करेंगे, जिसमें कंपनी के मुख्यतः वित्तीय एवं व्यावसायिक दायित्वों का निपटारा होता था। ''इस अधिनियम की धारा 42 में यह प्रावधान था कि ईस्ट इंडिया कंपनी के पूंजीगत स्टाक

पर लाभांश केवल भारत के राजस्व से ही पारित किया जाना चाहिए।''

भारत तथा इंग्लैंड के बीच समानता के आधार पर तय किये जाने वाले मामलों में केवल भारतीय ऋण का मामला ही महत्त्वपूर्ण था। इस समय केवल एक ही ज्वलंत प्रश्न था कि भारतीय ऋण का भार कौन वहन करेगा।

''प्रश्न यह था कि इसके लिए कौन जिम्मेदार है तथा इसका उद्देश्य क्या था?'' तथा भारत के उत्तरदायित्वों से हम संभवतया किस प्रकार उऋण हो सकते हैं।

इस समस्या पर अत्यंत महत्वपूर्ण टिप्पणी मेजर विनगेट ने गदर के तुरंत बाद की थी :

''क्या भारत के लोगों को अपने मामलों का स्वयं प्रबंध करने का अधिकार था और क्या इस देश की सरकार के हस्तक्षेप किए बिना केवल भारत के कल्याण की दृष्टि से भारत सरकार के कराधान तथा व्यय को विनियमित किया गया है? भारत सरकार प्रारंभ से अब तक अपनी शक्तियों अथवा स्वरूप के संदर्भ में ब्रिटिश सरकार की रचना रही है। ऋण प्राप्त करने हेतु अनुबंध करने के लिए भारत सरकार में निहित शक्तियां ब्रिटिश संसद द्वारा प्रत्यायोजित की गई थीं जो अब तक अपने हस्तक्षेप करने के अधिकार का प्रयोग करती है जैसा कि अंतिम ऋण पत्र के मामले में देखा गया। ईस्ट इंडिया कंपनी को संसद द्वारा ब्रिटिश राष्ट्र के साधारण ट्रस्टी के रूप में घोषित किया गया। इसके अनुसार उसने समय-समय पर अपने ट्रस्ट की शर्तें बदली और अंततः सभी दृष्टियों से न्यासियों को अपने अधिकार प्रयोग से मुक्त कर दिया। विषय का गंभीरता से अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि भारत सरकार एक देश की सरकार नहीं थी बल्कि सामान्यतः ब्रिटिश सरकार का एक विभाग रही है। ब्रिटिश मंत्रालय ने नियंत्रण बोर्ड के अध्यक्ष के माध्यम से कार्य करते हुए मूल प्रेरक शक्ति निर्धारित की जिससे अनुवर्ती भारतीय प्रशासन की नीति निर्धारित करने पर निर्णय लिया गया तथा ईस्ट इंडिया कंपनी आम तौर पर एक सुविधाजनक पर्दा बना गई। यदि तथ्य ऐसे होते और जिनका खंडन नहीं किया जा सकता तो हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि सरकार के कार्य आद्योपांत ब्रिटिश राष्ट्र के कार्य कर रहे हैं। भारत का न तो कोई संविधान था और न ही कोई राष्ट्रीय सरकार थी। उस पर तो केवल विजित देश के रूप में राज्य किया गया है, यह विचार ब्रिटिश संसद तथा ब्रिटिश प्रशासन के हैं। भारतीय ऋण को इस देश की सरकार द्वारा खर्च किया गया तो फिर हम किस प्रकार अपने को भारतीय दायित्वों से स्वतंत्र मान सकते हैं?''

श्री विनगेट ने इंग्लैंड को हुए लाभ तथा भारत को हुई हानि का जिक्र करते हुए ब्रिटिश जनता से अपना मानवीय पक्ष उजागर करने की अपील की:

''इन लाभों पर विचार करते हुए एक महत्त्वपूर्ण तथ्य जो कि सदैव पाठक

के मन में निरंतर उपस्थित रहना चाहिए, वह यह है कि वे लाभ चाहे वे छोटे हैं अथवा बड़े इस देश को कुछ प्राप्त नहीं हुआ है। यह इस पीढ़ी के अंग्रेजों के लिए चौंकाने वाला दावा हो सकता है, जिसे कनाडा की बगावत, कैफरे युद्ध, लंका के राजद्रोह तथा वैस्ट इंडियन गुलामों की दास्य मुक्ति के लिए भारी कीमत चुकानी पड़ी है और जिन्हें अपनी कालोनियों तथा अधीनस्थ क्षेत्रों की सुरक्षा के लिए संसद के समक्ष वित्तीय प्रस्ताव प्रस्तुत कर प्रति वर्ष भारी धन खर्च करना पड़ता है। यह दावा किसी भी रूप में सही नहीं है। यह बड़े आश्चर्य की बात है कि हमने उपनिवेशों पर इतना अधिक धन खर्च किया है तथा कृतघ्न विदेशियों के लिए किए गए युद्धों पर व्यय किया है, लेकिन हमने अपने महान भारतीय साम्राज्य के अधिग्रहण अथवा सुधार पर इतना कुछ नहीं किया। यह विस्मयकारी ही नहीं बल्कि आश्चर्यजनक तथ्य है। एक पैसा खर्च किए बिना भारत पर कब्जा कर लिया गया और यह भी सत्य है कि भारत पर एक पैसा भी कम नहीं किया गया लेकिन भारत ने नियमित रूप से ग्रेट ब्रिटेन को भारी मात्रा में धन का भुगतान किया है जो कि वर्तमान सदी की मुद्रा में एक सौ करोड़ पौंड से भी अधिक होंगे। भारतीय कर को चाहे न्याय के तराजू में तोला जाए अथवा अपने सच्ची आस्था के प्रकाश से देखा जाए तो भी मानवता से सामान्यतः भिन्न ही पाया जाएगा तथा अर्थशास्त्र के सूत्रों के भी अनुरूप।'' भारत की शिकायतों का उल्लेख करते हुए विनगेट ने अंग्रेजों से जानना चाहा–

''क्या भारत में हमारी नीति उस देश के लोगों के कल्याण हेतु विशुद्ध निस्वार्थ एवं परोपकार के लिए निर्धारित थी तथा हमने अपनी पद्धति को प्रभावित किए बिना न्यूनतम आदर भी न दिया हो? क्या यह वही सिद्धांत था जिसने हमारे देश में आयातित भारतीय उत्पादों पर प्रतिरोधात्मक कर थोपे तथा भारत में आयात की गई ब्रिटिश वस्तुओं पर नाम मात्र के कर लगाए गए? क्या यह भारत के प्रति आदर सूचक है कि भारत से ग्रेट ब्रिटेन को निर्यात की गई कपास पर कोई शुल्क नहीं लगाया है जबकि विश्व के अन्य भागों में निर्यात की जाने वाली कपास पर कर लगाया गया? क्या यह भारत के हित के बात थी कि ब्रिटिश जहाजों द्वारा भारत में लाया गया शुल्क अन्य देश को जहाज द्वारा भेजे गए उसी माल पर लगाए गए शुल्क से दुगुना था? क्या अपराधी मामलों के साधारण न्यायालयों के न्यायाधीश से भारत में यूरोप-निवासियों को छूट प्रदान करने में भारत का कोई हित जुड़ा था, जिससे ब्रिटिश अपराधियों को देश के न्याय की तराजू में तोलना असंभव हो गया था और 99 प्रतिशत ब्रिटिश अपराधियों को दंड नहीं दिया जा सकता था? क्या हिंदू व मुसलमान करदाताओं के लिए विचार से बाहर की बात थी कि भारत में कार्य कर

रहे यूरोपियन को उसकी शिक्षा आदि के लिए कुछ किए बिना उसे बहुमूल्य धार्मिक स्थापना दी गई? क्या यह देशवासियों के निस्वार्थ आदर की भावना थी जिससे अन्य ब्रिटिश अधिकार वाले क्षेत्रों में लागू नियमों के विरुद्ध ब्रिटिश राजकोष से उनकी सैनिक सुरक्षा का खर्च वहन करने के लिए भारत में भारी कर लगा कर धन एकत्र किया गया और ब्रिटिश आधिपत्य वाले राजक्षेत्रों का विकास और विस्तार करने की नीति को अधिप्रेरित किया? और अंत में शुल्क चुकाने की व्यवस्था आती है, जिसे गृह कर कहा जाता है। ''भारतीय राजस्व जिसके अंतर्गत भारत में लगभग 10 करोड़ पौंड स्टर्लिंग कर के रूप में एकत्रित किए गए उसे वर्तमान सदी में ग्रेट ब्रिटेन को स्थानांतरित कर दिया गया जो केवल भारतीय लोगों के लाभ के उद्देश्य से ही एकत्र किए गए। निष्पक्ष पाठकों को इन प्रश्नों के विचारपूर्वक तथा विवेकपूर्वक उत्तर देने चाहिए और फिर वे यह बताएं कि क्या भारतीय नीति के निर्धारण में ब्रिटिश तथा भारतीय हितों का कोई हिस्सा है अथवा नहीं है?''

सभी प्रकार के विधिक व मानवीय तर्क असफल हो गये। ब्रिटिश संसद ने भारतीय ऋण में अपनी भागीदारी से स्पष्ट इंकार कर दिया, जिससे साम्राज्य का अधिग्रहण किया गया था। ईस्ट इंडिया कंपनी का संपूर्ण ऋण जो 9,473,484 पौंड था और अधिकांश अनुत्पादक था उन गरीब देशवासियों के कंधों पर डाला गया जिनका कंपनी के क्रियाकलापों में हस्तक्षेप करने का कोई अधिकार नहीं था। इतना ही नहीं, इस दुर्भाग्यपूर्ण गदर से 40,000,000 पौंड का भार भी पड़ा जोकि साम्राज्य के अधि ग्रहण के लिए वैध खर्च था। गदर की यह कीमत उचित रूप से इंग्लैंड को ही देनी चाहिए थी। जान ब्राइट ने जो अक्सर भारतीय कर दाताओं के पक्ष की हिमायतें करते थे संसद में यह कहते हुए अपील की कि ''4 करोड़ पौंड क्रांति की कीमत भारत के लोगों पर गंभीर भार है। यह इंग्लैंड की संसद तथा यहां के लोगों के कुप्रबंध के कारण है। यदि प्रत्येक व्यक्ति न्यायोचित रूप से भागीदार बनता तो निस्संदेह ही 4 करोड़ का भुगतान इंग्लैंड के लोगों पर कर लगा कर उनसे वसूल कर लिया जाता।''

इन अनुचित व्यवस्थाओं का व्यावहारिक निचोड़ यह है कि भारतीय लोगों ने ऋण के रूप में करोड़ों पौंड खर्च किए हैं, यह साम्राज्य खरीदा और एक अंश था जिसे ब्रिटिश सम्राट को भेंट किया। दूसरे शब्दों में यह तो साम्राज्य था या फिर उपहार था अथवा न्यास था। ईस्ट इंडिया कंपनी के स्टाक की व्यवस्था भी बहुत अधिक दबाव और दोषपूर्ण स्थिति में थी। कंपनी के स्टाक को ऋण लेकर चुकाया गया जिस पर पहले ही भारी ऋण लिया हुआ था तथा जिसे भारत सरकार ऋण के रूप में जाना जाता है।

इस अधिनियम से वास्तव में नियंत्रण बोर्ड को समाप्त करना था। यद्यपि कंपनी वैधानिक रूप से समाप्त हो गई फिर भी यह सभी व्यावहारिक उद्देश्यों के लिए

विद्यमान है और आज भी भारतीय राजस्व में से ब्याज के भुगतान के रूप में लाभांश, प्राप्त कर रही है। इस नीति का आश्चर्यजनक परिणाम इंग्लैंड को लाभ व भारत को कीमत चुकाना था। जब ब्रिटिश संसद में भारत को न्याय देने के सभी प्रयास असफल हो गए तो लार्ड डर्बी ने प्रस्ताव किया कि भारत के इस भारी ऋण की संसद को गारंटी लेनी चाहिए ताकि इसकी गारंटी पर ब्याज की दर कम की जा सके तथा भारतीय करदाताओं को राहत मिले। उन्होंने कहा :

''मुझे ज्ञात है कि इस देश की संसद तथा सरकार की संयुक्त नीति का उद्देश्य भारत के ऋण के संबंध में सभी जिम्मेदारियों को नकारना है जिसे भारतीय राजकोष पर केवल प्रभार के रूप में माना गया है। वर्तमान परिस्थितियों पर विचार करते हुए मैं यही कह सकता हूं कि मैं उस नीति में किसी परिवर्तन की सिफारिश नहीं कर रहा हूं। मैं इस चेतावनी को समझता हूं जिससे ऐसी स्थिति उत्पन्न हो सकी है और मैं इसके दुष्परिणामों को भी भली-भांति जानता हूं लेकिन यह ऐसा प्रश्न है जो बार-बार उठेगा तथा जिस पर वर्तमान में तथा भविष्य में भी विचार किया जाएगा।

इसी तरह मैं सदन में यह पूछना चाहता हूं कि क्या कभी ऐसा समय आएगा जब इस संबंध में स्थापित नीति का परिवर्तन होगा तथा जब उन देयताओं के लिए राष्ट्रीय गारंटी दी जाएगी, इस गारंटी से भारतीय ऋण पर दिये गये ब्याज को 750,000 पौंड अथवा 1,000,000 पौंड कम कर दिया जाएगा जो निक्षेप निधि के रूप में बन गई है जिसे चुकता करना कठिन हो जाएगा।''

जॉन ब्राइट ने अपनी अदूरदर्शिता से इसका विरोध करते हुए कहा-

''इस आधार पर मैं साम्राज्यिक गारंटी का विरोध करता हूं यदि हम भारत के संसाधनों को समाप्त कर भारत की सेवाएं छोड़ दें उनके हाथ अंग्रेजों की जेबों में डलवा दें, इंग्लैंड के लोगों का भारतीय खर्च पर नियंत्रण न होने पर यह कहना असंभव होगा कि वे कितना अधिक फिजूलखर्ची करने लगेंगे तथा हम भारत को बचाने के प्रयास में क्या इंग्लैंड को नष्ट नहीं करने लगेंगे?''

इस खतरे को इतना अधिक उजागर करने हेतु श्री ब्राइट ने बहुत प्रयास किया लेकिन वह ''यह समझने में असफल रहे। यदि भारतीय ऋण के दायित्व के भार की कुछ भागीदारी उन पर लाद दी जाए तो इंग्लैंड के लोग जल्दी ही भारतीय मामलों की अवहेलना करनी समाप्त कर देंगे, और भारतीय खर्च पर अपना नियंत्रण करेंगे।''

इस चर्चा का कुछ हल नहीं निकला और देशवासियों को अनगिनत कष्टों और दुखों से कोई राहत भी नहीं मिली।

अब हमें यह देखना है कि अधिनियम का भविष्य में क्या प्रभाव पड़ेगा। इसकी

धारा 55 के अनुसार ''महारानी के आधिपत्य वाले भारतीय क्षेत्रों पर वास्तविक आक्रमण को रोकने अथवा अन्य अनिवार्य आवश्यकताओं के अतिरिक्त संसद के दोनों सदनों की सहमति के बिना सैनिक कार्यवाही के लिए धन नहीं लिया जाएगा। केवल महारानी की सेना तथा बाहरी सीमाओं पर खर्च के लिए ही राजस्व से धन लिया जाएगा।''

श्री आर.सी. दत्त बहुत बड़े विद्वान हैं और आदरणीय हैं लेकिन उनकी यह बात समझ से बाहर है कि उन्होंने किस आधार पर इस धारा को एक प्रशंसनीय वित्तीय प्रावधान बताया है। इस बात में कोई शक नहीं कि ईस्ट इंडिया कंपनी के वित्तीय प्रशासन में सुधार हुआ है। लेकिन इस रूप में प्रशंसनीय नहीं है कि अधिनियम के बाद भी भारत का राजस्व भारत के गैर भारतीय मामलों पर खर्च किया गया है। इसमें भयावह खामियां हैं कि उपरोक्त धारा के अतिरिक्त खंड जिसमें भारत के राजस्व से भारत के बाहर खर्च करने की स्वीकृति प्रदान करता है, जिसमें से पूर्ववर्ती शब्द का लोप कर दिया गया है। इस खंड को हितकारी बनाने के लिए इस प्रकार पढ़ा जाना चाहिए था, ''भारत के राजस्व आदि संसद के दोनों सदनों की पूर्व सहमति के बिना नहीं होगा।'' और इस प्रकार नहीं जैसा कि यह अब है। एक अज्ञात लेखक का कहना है ''हर संभावना में अनिवार्य प्रावधान मूल मसौदे में निहित था लेकिन बाद में ऐसे ही धूर्तता से इसे निकाल दिया गया जिसके कारण भारत सचिव की उन्मुक्ति, गैर जिम्मेदारी तथा व्यक्तिगत निरंकुशता सुरक्षित करने के लिए धारा 26, 27, 28 बनाई गई।

यह दिखाने के बाद कि लार्ड स्टैनले तथा अर्ल ऑफ डर्बी जिनका इस विधि के निर्माण में बहुत अधिक योगदान था इन उपेक्षित प्रावधानों को शामिल करने में एक थे। लेखक धारा 55 के संबंध में श्री ग्लैडस्टोन का मत इस प्रकार व्यक्त करते हैं–

''मेरे विचार में इस खंड का उद्देश्य कुछ विशेष मामलों को छोड़कर भारतीय सीमा के बाहर भारत पर किये गये सेनाओं के संचालनों के उद्देश्यों से भारतीय धन को खर्च करने की संसद की पूर्व सहमति चाहिए थी जिसे सावधानी से परिभाषित किया गया था। वास्तव में इससे सैनिक संचालनों के लिए भारतीय धन के प्रयोग को रोकना था। मुझे यह याद है कि क्योंकि मैं इस धारा का लेखक था तथा वर्तमान लार्ड डर्बी जो उस समय भारत के लिए भारत सचिव (सेक्रेटरी ऑफ स्टेट) थे इस खंड के उद्देश्यों के बारे में मुझ से सहमत थे।''

वही लेखक फिर कहता है–

''कुछ ऐसे कारण हैं जिससे अधिनियम के इन उपेक्षित एवं तिरस्कृत प्रावधानों के अधीन प्रत्यक्ष रूप से निर्दिष्ट सुरक्षात्मक उपायों की घोर अवहेलना की तुलना

में ''महारानी के भारत'' को अधिक हानि एवं वित्तीय क्षति पहुंची है। हमें यह भली-भांति ज्ञात है कि यदि ''पूर्ववर्ती'' शब्द भी इस धारा में शामिल कर लिया गया होता तो छद्म साम्राज्यिक हितों का विरोध अथवा दलीय योजनाओं की अनिवार्यताएं भारतीय लोगों के दावों और अधिकारों का दमन करने में पर्याप्त होतीं। लेकिन इस शब्द से कम से कम यह तो राहत मिलती जिससे तर्क की आवाज तो सुनाई देती।'' इस अधिनियम की गैर राजकोषीय धाराएं इस प्रकार थीं–

1. ईस्ट इंडिया कंपनी के राजक्षेत्र महारानी में निहित थे, तथा ईस्ट इंडिया कंपनी एवं नियंत्रण बोर्ड द्वारा प्रयोग की गई शक्तियां भारत सचिव में निहित थीं। उसकी 15 सदस्यों की एक परिषद् होती थी जिनका कार्यकाल सद्व्यवहार के अनुरूप होता था तथा प्रत्येक सदस्य को भारतीय राजस्व में से 1200 पौंड प्रति वर्ष वेतन के रूप में प्राप्त होते थे। भारत सचिव के वेतन तथा उसकी स्थापना (परिषद्) का खर्च भी भारत के राजस्व से ही वसूल किया जाता था।

2. कुछ विशेष मामलों को छोड़कर भारत सचिव को परिषद् के बहुमत के विरुद्ध कार्य करने के अधिकार प्राप्त थे तथा शांति एवं युद्ध के समय में जिनका संचालन निदेशकों के कोर्ट की गोपनीय समिति के माध्यम से नियंत्रण बोर्ड द्वारा किया जाता था। भारत सचिव को अपनी परिषद् से परामर्श किए बिना अपने आदेशों की सूचना सदस्यों को देने तथा भारत को आदेश भेजने के अधिकार प्राप्त थे।

3. भारत का गवर्नर जनरल तथा मद्रास एवं बंबई के गवर्नरों की नियुक्ति अब महारानी द्वारा की जाती थी तथा लेफ्टिनेंट गवर्नर की नियुक्ति महारानी की अनुमति से गवर्नर जनरल द्वारा की जाती थी। भारत की सिविल सेवाओं में प्रतियोगिता के माध्यम से प्रवेश के नियम भारत सचिव द्वारा निर्धारित किए जाते थे।

उपरोक्त संदर्भित प्रशासनिक धाराओं की कुटिल प्रवृत्तियां 1. निरंकुशता 2. गोपनीयता तथा 3. गैर जिम्मेदारी के रूप में निरूपित की गई हैं। ये सभी देश के अच्छे प्रशासन के प्रतिकूल मानी गई हैं। यह अत्यंत खेद का विषय है कि अधिनियम में देशवासियों की अपने देश के प्रशासन में अपनी आवाज उठाने के लिए कोई प्रावधान नहीं है। इस संबंध में क्या कोई यह कह सकता है कि कंपनी का प्रशासन सम्राट के प्रशासन से भिन्न है? इस अधिनियम के प्रावधानों का प्रचार करने के लिए महारानी विक्टोरिया ने लार्ड डर्बी (जो इसके पहले मसौदे से बिल्कुल संतुष्ट नहीं थे) से घोषणापत्र जारी करने के लिए

कहा कि ''दया, परोपकार, धार्मिक सहनशीलता तथा लाभ की भावना जागृत हो और उन विशेषाधिकारों की जानकारी भारतवासियों को दी जाए जिन्हें वे अंग्रेजों के समान प्राप्त करने के हकदार होंगे तथा सभ्यता के साथ-साथ समृद्धि भी प्राप्त करेंगे।''

यह घोषणापत्र भारत में पढ़ा गया तथा इसे भारत का मैग्ना कार्टा समझा गया, मैग्ना कार्टा इसलिए नहीं कि इसमें जनता को प्रदत्त अधिकार निहित थे वरन वह एक महान दस्तावेज था।

फिर भी, इससे इंग्लैंड का भारत को दिये गये योगदान का अनुमान लगता है। इसी रूप में इंग्लैंड के भारत को शून्य योगदान की तुलना में भारत का इंग्लैंड को अत्यंत अधिक योगदान विस्मयकारी है। यदि इन्हें आर्थिक दृष्टि से देखा जाए तो दोनों ही सच्चे वक्तव्य हैं। लेकिन दूसरी दृष्टि से यदि भारत का योगदान न्याय एवं मानवता के रूप में नहीं मापा जा सकता तो इंग्लैंड के योगदान को अपार धन (सोने एवं चांदी) के पैमाने से नहीं मापा जा सकता। अंतिम वक्तव्य शब्दश: एवं आदर्श रूप में सत्य है। भारत के सोने एवं चांदी के भंडार में इंग्लैंड ने कुछ भी योगदान नहीं दिया है जबकि इसके विपरीत भारत को खाली कर दिया है। ''दुनिया का ह्रास'' किया है।''

उसका योगदान अलाभकर राज्य के रूप में है– लेकिन ठीक इसी प्रकार सिक्कों के रूप में इसे तोलना (माप करना) अत्यंत कठिन है।

''अंग्रेज भारत में अपने विगत कार्यों को देख सकते हैं। यदि गैर संयत संतुष्टि से नहीं तो कम से कम सांविधिक गौरव से अवश्य। उन्होंने भारत के लोगों को मानवता का महान वरदान ''शांति'' दी है, उन्होंने प्राचीन सभ्यता वाले राष्ट्र को आधुनिक संस्थानों तथा जीवनचर्या के साथ लाकर पश्चिमी सभ्यता एवं शिक्षा आरंभ की। उन्होंने ऐसी प्रशासन व्यवस्था बनाई जिसमें समय के साथ-साथ सुधार और प्रगति की अपेक्षा है, जो प्रभावी एवं मजबूत है। उन्होंने अच्छे नियम व कानून बनाए तथा न्यायालयों की स्थापना की जिनकी पवित्रता आज धरती के किसी भी कोने में पूर्ण है। ये ऐसे परिणाम हैं जिनका कि भारत में ब्रिटिश कार्यों का कोई भी ईमानदार आलोचक प्रशंसा किये बिना नहीं रह सकता।''

लेकिन क्या आर्थिक अभाव के लिए केवल पाशविक शांति पसंद की जाती है। इसका निर्णय प्रत्येक को स्वयं ही करना है।

पुस्तक 2

ब्रिटिश भारत में प्रांतीय वित्त व्यवस्था का विकास

साम्राज्यवादी वित्त व्यवस्था

के

प्रांतीय विकेन्द्रीकरण का अध्ययन

भीमराव रामजी अम्बेडकर

प्राक्कथन

एडविन आर.ए. सेलिगमैन

प्राध्यापक अर्थशास्त्र, कोलम्बिया विश्वविद्यालय, न्यूयार्क

(पी.एस. किंग एंड सन लि., वैस्टमिनस्टर, ग्रेट ब्रिटेन, 1925 द्वारा प्रकाशित संस्करण का पुनर्मुद्रण)

महाराजा बड़ौदा

हिज हाईनेस श्री सयाजीराव गायकवाड़

को समर्पित

भूमिका

आने वाले लंबे समय तक अध्येता (विद्यार्थी) भारतीय वित्त अथवा अर्थशास्त्र का अध्ययन प्रस्तुत करने के लिए क्षमा-याचना करने की पारंपरिक प्रताड़ना से बचे रहेंगे। लेकिन दूसरी ओर मुझे भय है कि उतने ही लंबे समय तक उन्हें अपने अन्वेषणों की कमियों के लिए क्षमा याचना करनी होगी। विषय का प्रतिपादन विश्लेषणात्मक होने पर भी समुचित विश्लेषाणत्मक अध्ययन के लिए बहुधा ऐतिहासिक परिवेश की आवश्यकता होती है। दुर्भाग्य से भारतीय वित्त व्यवस्था के क्षेत्र में आरंभिक परिश्रम नहीं किया गया। परिणामस्वरूप इस क्षेत्र के अगुआ की राह में अनेक कठिनाइयां हैं। कभी-कभी पहलुओं की पूर्ण व्याख्या करने के कारण परेशानी पैदा हो जाती है। अक्सर किसी त्रुटि के अचानक उत्पन्न हो जाने की आशंका पैदा हो जाती है। और ऐसी स्थिति में जब अध्येता को बचाने वाला कोई नहीं होता तो झुंझलाहट होने के सिवाय कुछ हाथ नहीं लगता। यह स्वाभाविक ही है कि जब योग्य अध्येता को उसके विषय से संबंधित सामग्री प्राप्त होती है तो वह खुशी से झूम उठता है। लेकिन लंबी और थकाऊ खोज के पश्चात् ही वह भूसे में से दाना बीन पाने के समान सफल होता है। फिर भी कभी-कभी सामग्री के स्रोत ही मिथ्या मार्गदर्शक सिद्ध हो जाते हैं और इस प्रकार पर्याप्त समय और ऊर्जा का ह्रास होता है।

वास्तव में वर्तमान अध्ययन कार्य को करते समय यही कठिनाइयां सामने आई हैं। अध्येता को अध्ययन कार्य तैयार करने के लिए कोई भी पुस्तक उपलब्ध नहीं है और उसका सही मार्गदर्शन करने वाला भी कोई नहीं है। इन कठिनाइयों के बावजूद इस अध्ययन को सम्यक और सारगर्भित बनाने का प्रयास किया गया है। फलस्वरूप यह प्रयास अत्यंत श्रमसाध्य रहा है; लेकिन मैं इस मेहनत के बारे में कहना नहीं चाहता और न ही मैं विद्यार्थी को उन पुस्तकों और दस्तावेज, जिनका मैंने इस ग्रंथ की रचना के दौरान अध्ययन किया है, की लंबी सूची का ब्यौरा देकर उन्हें आश्चर्यचकित करना चाहूंगा। बल्कि मैं तो इसकी कमियों की ओर इशारा करना चाहता हूं। इसमें अनेक कमियां हो सकती हैं जिन्हें एक जानकार समीक्षक ही बता सकता है। मैं आशा करता हूं कि ये कमियां ऐसी गंभीर नहीं हैं जो इस ग्रंथ के महत्त्व को कम करती हों। उनमें से कुछ के लिए मैंने उस तिथि का उल्लेख किया है जब से भारत में वित्त का स्थानीय विकेन्द्रीकरण आरंभ हुआ, लेकिन मैं महसूस करता हूं कि वह सबसे पहली तिथि नहीं है और संभव है कि मेरे द्वारा दी गई तिथि के पहले ही वित्त का स्थानीय

विकेन्द्रीकरण आरंभ हो गया हो। लेकिन तिथि की सही–सही जानकारी हासिल करना घास के ढेर में से सुई खोज निकालने के समान होगा और यह संदेहजनक है कि उस प्रयास का परिणाम की गई मेहनत के अनुरूप होगा। इसके अतिरिक्त, यद्यपि मुझे स्वयं अपने द्वारा बताई तिथि के बारे में पूरा विश्वास नहीं है लेकिन मैं महसूस करता हूं कि बाद के अनुसंधानकर्ता मेरे वक्तव्य की पुष्टि ही करेंगे। एक अन्य विषय जिसकी चर्चा मैं नहीं कर पाया, लेकिन जिसकी चर्चा मैं करना चाहता हूं, वह प्रांतीय और स्थानीय वित्त का अंत:संबंध है। मूलत: मेरी योजना इसकी चर्चा करने की थी, लेकिन मैंने इसे छोड़ दिया। क्योंकि मैंने पाया कि मेरा विषय 'साम्राज्यवादी वित्त का प्रांतीय विकेन्द्रीकरण' उन तथ्यों और तर्कों से आच्छादित होने लगा जो विषय के अनुरूप नहीं थे। हालांकि ये कमियां मेरे पूरक ग्रंथ 'ब्रिटिश भारत में स्थानीय वित्त' से दूर हो जाएंगी जिस पर मैं कार्य कर रहा हूं और मुझे उम्मीद है कि यह ग्रंथ शीघ्र ही प्रकाशित हो जाएगा। तथ्यों की पुनरावृत्ति इस ग्रंथ की कमियां हो सकती हैं लेकिन उन्हें नजरअंदाज करना उचित होगा। लेकिन जब शुद्ध संचय में बरती गई कंजूसी विषय को अस्पष्ट बना सकती है वहां पुनरावृत्ति अनिवार्य और न्यायसंगत हो जाती है क्योंकि विषय का स्पष्टीकरण अनिवार्य होना चाहिए।

इस भूमिका को मैं भारत कार्यालय में कार्यरत वित्त सचिव श्री रॉबिन्सन को धन्यवाद दिए बिना पूर्ण नहीं कर सकता। श्री रॉबिन्सन द्वारा दिए गए अनेक सुझाव और विषय से संबंधित महत्त्वपूर्ण दस्तावेजों के लिए मैं उनका आभारी हूं। साथ ही मैं लंदन विश्वविद्यालय के प्रो. कैनन का भी आभारी हूं, जिन्होंने पांडुलिपि के एक भाग का कच्चा प्रारूप पढ़ा। कोलम्बिया विश्वविद्यालय में मेरे शिक्षक प्रो. सेलिगमैन का मैं अत्यधिक आभारी हूं क्योंकि लोक वित्त के सिद्धांत का पहला पाठ मैंने उन्हीं से पढ़ा। प्रूफ पढ़ने के जबाऊ कार्य में मेरी मदद करने के लिए मैं अपने मित्र श्री सी.एस.देओले का आभारी हूं।

–भीमराव अम्बेडकर

प्राक्कथन

डॉ. अम्बेडकर ने अपने उत्कृष्ट शोध प्रबंध में जिस समस्या पर चर्चा की है वह विश्व के हर हिस्से में रुचि का विषय बनती जा रही है। आरंभ से ही हम पाते हैं कि केन्द्रीय और स्थानीय सरकारें बहुत अधिक वित्तीय बोझ लाद देती हैं। जैसे ही राजनीतिक संगठन का जन्म हुआ, एक ओर युद्ध के संचालन और दूसरी ओर स्थानीय सुरक्षा तथा सुविधा की जरूरत ने राज्य तथा स्थानीय अधिकारियों पर खर्चे का बोझ लाद दिया। बाद के स्थानीय और केन्द्रीय राजनीतिक संगठनों में अन्तर्विष्ट हो कर माध्यमिक संगठन उभर कर आया जिसे डॉ. अम्बेडकर प्रांतीय सरकार कहते हैं। परिव्यय की इन विभिन्न श्रेणियों को दी गई संज्ञा के बारे में स्वयं अधिकारियों में मतभेद है। भारत में हम स्थानीय, प्रांतीय और केन्द्रीय साम्राज्यिक परिव्यय कहते हैं, जर्मनी में ये स्थानीय राज्य के और साम्राज्यिक परिव्यय कहलाते हैं, अमरीका व स्विटजरलैंड में स्थानीय, राज्य और संघीय परिव्यय, आस्ट्रेलिया में स्थानीय, राज्य और राष्ट्रमंडलीय परिव्यय कहते हैं, दक्षिणी अफ्रीका तथा कन्नाडा में स्थानीय, प्रांतीय तथा संघीय परिव्यय और फ्रांस में ये स्थानीय, विभागीय तथा सामान्य परिव्यय कहलाते हैं। कुछ मामलों में जैसे कि ब्रिटिश साम्राज्य के अंतर्गत परिव्यय से कहीं अधिक व्यापक श्रेणी का विकास किया जा रहा है जिसका वहन साम्राज्य ही करेगा।

सरकार के कार्यों में बदलाव की वजह से परिव्यय की विभिन्न श्रेणियों के स्वरूप, महत्त्व और उनके परस्पर संबंधों में लगातार परिवर्तन हो रहा है। यह परिवर्तन सामान्य आर्थिक स्थितियों में बदलाव के कारण है, परिणामस्वरूप राजनीतिक संरचना अथवा प्रशासकीय क्रियाकलापों में भी धीरे-धीरे बदलाव हो रहा है। कनाडा, अर्जेन्टीना और ब्राजील जैसे कुछ देशों में प्रांत वास्तव में केन्द्र सरकार द्वारा बनाए गए हैं। अमरीका, जर्मनी तथा स्विटजरलैंड जैसे दूसरे देशों में संघीय सरकार का निर्माण मूलतः प्रभुसत्तासंपन्न राज्यों द्वारा किया गया है। कुछ देशों में मध्यवर्ती (प्रांतीय अथवा राज्य) सरकार स्थानीय अथवा केन्द्रीय सरकार की तुलना में महत्त्व खो रही है जबकि कुछ अन्य देशों में वस्तुस्थिति इसके प्रतिकूल है।

आधुनिक लोकतंत्र के तहत बढ़े हुए सरकारी क्रियाकलापों के अंतर्गत कराधान के बढ़ते बोझ और विकास इन विभिन्न प्रकार की सरकारों में बोझ को समान रूप में बांटने की समस्या बलवती होती जा रही है। माननीय अम्बेडकर जिसे निर्देशन,

निर्दिष्ट राजस्व तथा आंशिक राजस्व कहते हैं वह सभी देशों द्वारा अपनाए गए तरीकों की पसंद को लक्षित करते हैं। तीन मूल योजनाओं में से एक का निर्वाह करना आवश्यक है। शक्ति को सापेक्ष स्तर के आधार पर केन्द्रीय प्रांतीय सरकार द्वारा या प्रांतीय सरकार केन्द्रीय सरकार द्वारा चलाई जाएगी। पुराने समय में संयुक्त राज्य अमरीका में और जर्मनी में राज्य पूरी तौर पर या बड़ी मात्रा में केन्द्र समर्थक माने जाते थे, आधुनिक समय में कनाडा तथा आस्ट्रेलिया में व्यवस्था इसके विपरीत है अथवा दूसरे अलग-अलग सरकारों को पृथक राजस्व आबंटित किया जाए। अभी हाल तक अमरीका, जर्मनी और स्विटजरलैंड की संघीय सरकारों को प्रत्यक्ष करों की सहायता मिलती थी। अथवा तीसरे, राजस्व एक सरकार द्वारा एकत्रित किया जाएगा और इस तरह एकत्रित राशि का एक भाग दूसरी सरकार को आबंटित किया जाएगा। राज्य अथवा, प्रांतीय करों का एक भाग संघीय सरकार को दिये जाने के अनेक उदाहरण मौजूद हैं। केन्द्रीय संघीय सरकारों के करों में राज्य अथवा प्रांतीय सरकारों की भागीदारी के भी अनेक उदाहरण मौजूद हैं। आजकल अमरीका में राज्य और संघीय सरकारों के बीच उत्तराधिकार कर का बराबर बंटवारा बहस का मुद्दा बना हुआ है। जर्मनी में राज्य और संघीय सरकारों के वित्तीय संबंध राजनीतिक बहस का मुद्दा बने हुए हैं।

इस चर्चा में माननीय अम्बेडकर के योगदान का महत्त्व उनके अपने देश के तथ्यों के वस्तुपरक वर्णन और मनोरंजक विकास के निष्पक्ष विश्लेषण में निहित है। यह शिक्षा दूसरे देशों में भी लागू होती है। मेरी जानकारी में इन सिद्धांतों का इतना विस्तृत अध्ययन कहीं नहीं किया गया है।

यह सच है कि अब तक केवल अधूरी तस्वीर ही पेश की गई है। क्योंकि इस क्षेत्र में स्थानीय सरकारों के प्रवेश और राज्य (प्रांतीय) तथा साम्राज्य (संघीय) दोनों मार्गों की तुलना में वित्तीय महत्त्व के उनके दावे से हर जगह स्थिति जटिल हो गई है। उदाहरणस्वरूप, अमरीका में स्कूलों को दी जा रही वित्तीय सहायता की समस्या पर चल रही व्यापक बहस का समाधान वित्तीय अंत:संबंधों के प्रश्नों के सही उत्तरों पर निर्भर है। माननीय अम्बेडकर इस मुद्दे पर आगे विचार करेंगे। यदि वे उस स्थिति पर भी ऐसा ही प्रकाश डालेंगे जैसा उन्होंने इस अध्ययन पर डाला है तो हम उनके और अधिक आभारी रहेंगे।

कोलम्बिया विश्वविद्यालय, न्यूयार्क **एडविन आर.ए. सेलिगमैन**

अक्टूबर, 1924

परिचय

विषय की परिभाषा और रूपरेखा

भारतीय वित्त के अध्येता की जानकारी और मार्गदर्शन के केवल दो प्रमुख स्रोत हैं। पहला स्रोत वार्षिक बजट वक्तव्य है और दूसरा वित्त तथा राजस्व लेखा का वार्षिक अंक (ग्रंथ) है। हालांकि दोनों अलग-अलग जारी किए जाते हैं लेकिन वास्तव में वित्तीय वक्तव्य के संदर्भ में दोनों एक दूसरे के सहयोगी अंक हैं अर्थात् वार्षिक वित्तीय लेन-देन का विस्तृत व्याख्यात्मक ज्ञापन जिसका विवरण वित्त तथा राजस्व लेखा के अंक में उल्लिखित होता है।

ये स्रोत सहायक तो हैं लेकिन साथ ही क्लिष्ट भी हैं। वित्त तथा राजस्व लेखा के नवीन अंक से पता चलता है कि उसमें लेखा-जोखा चार विभिन्न वर्गों में बांटा गया है : (1) साम्राज्यवादी अथवा केन्द्रीय, (2) प्रांतीय, (3) समाविष्ट स्थानीय तथा (4) अपवर्जित स्थानीय। लेकिन किसी भी तरह से यह वर्गीकरण समरूपेण नहीं है। उदाहरणस्वरूप 1870 ई. से पहले के इस ग्रंथमाला के किसी अंक में लेखा के लिए ''प्रांतीय'' शब्द नहीं मिलेगा और न ही 1863 के पूर्व के अंकों में ''स्थानीय'' नाम से लेखा-जोखा का विवरण मिलेगा। इसी तरह 1870 के पहले के वित्तीय वक्तव्य के अंक में वित्तीय लेन-देन को केवल ''केन्द्रीय'' तथा ''स्थानीय'' वर्गों में विभाजित किया गया है। लेकिन 1908 के बाद के इस ग्रंथमाला के एक अंक में लेखा-जोखा

---

1. यह आश्चर्यजनक है कि ''अपवर्जित स्थानीय'' वर्ग से पुकारे जाने वाले खाते का जिक्र वित्त तथा राजस्व लेखा के अंक (खंड) में तो है लेकिन वित्तीय वक्तव्य में नहीं है। लेखक उसके न रखे जाने का कारण नहीं ढूंढ पाया है। मद्रास मैनुअल (अंक 1, अध्याय पांच, पृ. 467-9) में कहा गया है कि अपवर्जन का कारण तकनीकी है। चूंकि अपवर्जित निधियां केन्द्रीय सरकार की राजस्व एकत्रित करने वाली सामान्य एजेंसी द्वारा एकत्रित नहीं की जातीं और केन्द्र सरकार के हस्तक्षेप के अधिकार से बाहर हैं। एक अन्य तकनीकी कारण अपवर्जित सिविल एकाउंट कोड के तीसरे अंक (पृ. 137) में दिया गया है जिसके अनुसार निधियों को अपवर्जित कहा गया है अर्थात् वित्तीय वक्तव्य से क्योंकि उन्हें सरकारी कोष में जमा करना जरूरी नहीं था। लेकिन उसी के सातवें तथा नए अंक (पृ. 122) में उसी विषय पर दी गई टिप्पणी का यह अर्थ है कि जनता के लिए सभी निधियों को सरकारी खजाने में जमा करना आवश्यक है। 1882-83 के लिए जारी ''मौरल एंड मेटिरियल प्रोग्रेस रिपोर्ट'' (भाग 1, पृ. 107) में दी गई दलील कुछ हद तक सही लगती है। इसमें कहा गया है कि सामान्य वित्त व्यवस्था में इन निधियों के लिए कोई स्थान नहीं है क्योंकि ये मुख्यत: ''विशेष न्यासों और धर्मदायों के लिए हैं।''

को ''केन्द्रीय'' तथा ''स्थानीय'' वर्गो के तहत नहीं बल्कि (1) केन्द्रीय (2) प्रांतीय वर्गो के अंतर्गत रखा गया है जबकि 1921 के बाद के वित्तीय वक्तव्य केवल केन्द्रीय लेन-देन का ही जायजा लेते हैं। नौसिखिया के लिए लेख की नई श्रेणियों के आगमन और पुरानी श्रेणियों के निर्गमन से अधिक भ्रामक और कुछ नहीं है।[1] वह यह स्वाभाविक प्रश्न कर सकता है कि ये विभिन्न वर्ग कैसे उत्पन्न हुए और इनका एक दूसरे से क्या संबंध है?

वर्तमान अध्ययन में इनमें से एक श्रेणी ''प्रांतीय'' की उत्पत्ति और विकास को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है। लेकिन प्रस्तुत तर्कों को स्पष्ट करने में कोई कठिनाई न हो इसलिए यह उचित समझा गया कि इस अध्ययन के पहले भूमिका के रूप में एक खाका खींचा जाए जो विषय-वस्तु को परिभाषित करने के साथ-साथ विभाजित किए गए हिस्सों के अंत:संबंधों की भी जानकारी दे। विषय की गहन जानकारी के लिए इस अध्ययन को चार भागों में विभाजित किया गया है। प्रत्येक भाग प्रांतीय वित्त व्यवस्था की व्युत्पत्ति विकास, संगठन तथा 1919 के संवैधानिक परिवर्तनों द्वारा इसको दिए गए अंतिम रूप की चर्चा करता है। प्रांतीय वित्त व्यवस्था की व्युत्पत्ति के बारे में पूरी जानकारी देने की दृष्टि से पहले भाग में कुछ कठिन, अछूते, लेकिन जरूरी पहलुओं को उठाया गया है। जहां ''वर्तमान को जानने के लिए अध्येता को अतीत की जानकारी आवश्यक है'' उक्ति को पूरा सम्मान दिया गया है वहीं वर्तमान के अतीत से अधिक की चर्चा नहीं की गई है। पहले अध्याय के प्रथम भाग में प्रांतीय वित्त व्यवस्था के शुरू होने से पहले विद्यमान वित्त व्यवस्था की तस्वीर खींचने की कोशिश की गई है और इसके संगठन में बदलाव लाने वाले कारणों की भी चर्चा की गई है। दूसरे अध्याय में पुनर्रचना के काल के दौरान प्रस्तुत की गई वैकल्पिक व्यवस्था पर प्रकाश डाला गया है, और यह भी दर्शाया गया है कि इसे सामान्य मान्यता क्यों नहीं मिल पाई। तीसरे अध्याय में उस योजना की चर्चा की गई है जिससे वर्तमान व्यवस्था और इसकी विरोधी व्यवस्था के बीच समझौता नहीं हुआ और उन परिस्थितियों की भी चर्चा की गई है जिनसे इसको सम्मान मिला।

प्रथम भाग में प्रांतीय वित्त व्यवस्था की व्युत्पत्ति का वर्णन करने के बाद इसको विकास के दूसरे भाग का विषय बनाया गया है। प्रथम भाग का विन्यास कितना सहायक है, तुलनात्मक अध्ययन के अभाव में, इसे पाठक पर ही छोड़ दिया जाना चाहिए। हालांकि दूसरे भाग के संबंध में यह उललेखनीय है कि इसमें किया गया विन्यास प्रांतीय वित्त के विषय पर स्वर्गीय जस्टिस रानाडे द्वारा लिखित और 1887 ई. में प्रकाशित आंशिक खाके से अलग है। दूसरे भाग पर नजर डालने से स्पष्ट है कि प्रांतीय वित्त की एक विशेषता यह थी कि प्रांतीय बजटों में शामिल राजस्व और खर्चे पांच वर्ष के पश्चात् संशोधित किए जाते

थे। अपने प्रालेख में, जो इस अध्ययन के दूसरे भाग में उल्लिखित वर्णन का ही उल्लेख करता है और वह भी 1882 ई. तक ही, जस्टिस रानाडे ने इसी विशेषता को आधार बनाकर प्रांतीय वित्त के विकास की विभिन्न अवस्थाओं को एक-दूसरे से अलग दिखाया है। परिणामस्वरूप उनके लिए प्रत्येक पांच वर्ष की अवधि एक चरण बन जाती है। और उनके हाथों प्रांतीय वित्त का इतिहास उतने ही चरणों में विभाजित हो जाता है, जितने पांच वर्ष के हिस्से बनते हैं। फिर भी, यह कहा जा सकता है कि यदि प्रत्येक संशोधन से प्रांतीय वित्त के मूलभूत सिद्धांतों को बदला गया है तो इस तरह का विन्यास असंगत नहीं होगा। लेकिन सच यह है कि प्रत्येक संशोधन के बाद प्रांतीय वित्त के महत्व में कोई अंतर नहीं आया। संशोधनों में थोड़ा बहुत परिवर्तन किया गया। यदि प्रांतीय वित्त के विकास के इतिहास को उसके मूलभूत आधार में आए परिवर्तन के अनुसार चरणों में विभाजित किया जाए तो इसकी उन विशेषताओं पर जोर डालना होगा जिनका स्वरूप नितांत भिन्न है। लोकहित के सिद्धांत के लेखक इस विषय को ऐसा समझते हैं मानों यह मुख्य रूप से कराधान में साम्यता और व्यय में मितव्ययता का विषय है। लेकिन वित्त मंत्री के लिए वित्त मुख्य रूप से बजट में संतुलन पाने की समस्या का व्यावहारिक रूप से समाधान करना है। यदि हम प्रांतीय बजटों में संतुलन की समस्या का समाधान करने और समय-समय पर उसमें किए गए परिवर्तनों को जानने की नीयत से ब्रिटिश इंडिया में प्रांतीय वित्त के इतिहास पर दृष्टिपात करें तो हम पाएंगे कि प्रांतीय वित्त तीन विशिष्ट चरणों से होता हुआ विकसित हुआ है। इन तीनों ही चरणों की पूर्ति के अपने ही तरीके रहे हैं। ये विशिष्ट चरण हैं- निर्देशन, निर्दिष्ट राजस्व तथा सांझा राजस्व, परिणामस्वरूप, जस्टिस रानाडे की यांत्रिक योजना का अनुसरण करने की अपेक्षा यह ज्यादा तर्कसंगत और ज्ञानवर्धक माना गया कि प्रांतीय वित्त के विकास के चरणों को भारत सरकार द्वारा अपनाए गए प्रांतीय सरकारों को पूर्ति के तरीके की तरह विभाजित किया जाए। फलस्वरूप, दूसरे भाग को जिसमें प्रांतीय वित्त के विकास की चर्चा की गई तीन अध्यायों में बांटा गया है: 1. निर्देशन द्वारा बजट 2. निर्दिष्ट राजस्व द्वारा बजट और 3. सांझे राजस्व द्वारा बजट।

प्रांतीय वित्त की व्युत्पत्ति और विकास संबंधी इस बहस के बाद तीसरे भाग में इसके संगठन की जांच की गई है। तीसरे भाग के सातवें अध्याय में प्रांतीय सरकारों की वित्तीय शक्तियों पर अंकुश लगाने वाले अब तक उपेक्षित रहे नियमों का विश्लेषण किया गया है, ताकि इस सत्य को उद्घाटित किया जा सके कि अपने संगठन में प्रांतीय वित्त स्वतंत्र नहीं था। हालांकि प्रांतीय वित्त की वास्तविक स्थिति का विश्लेषण आठवें अध्याय के लिए आरक्षित कर लिया गया है, जिसमें इन सीमाओं के पहलुओं

पर उल्लेख द्वारा यह बल दिया गया है कि प्रांतीय वित्त के महान अभियान के बावजूद् केन्द्रीय राजस्व और केन्द्रीय सेवाओं से हटकर न तो प्रांतीय राजस्व हैं और न ही प्रांतीय सेवाएं। लिहाजा व्यवस्था संघीय होने के बजाए साम्राज्यवादी ही रही। नवें अध्याय में पुराने कानून के तहत भारत सरकार की संवैधानिक जिम्मेदारियों को हानि पहुंचाए बिना प्रांतीय वित्त के कार्य का विस्तार करने की संभावनाओं का पता लगाने के बारे में विचार किया गया है।

चौथे भाग में 1919 के सुधार कानून द्वारा प्रांतीय वित्त की संरचना में लाए गए बदलाव के बारे में चर्चा की गई है। इस भाग के दसवें अध्याय में इन परिवर्तनों के कारणों का विश्लेषण किया गया है। ग्यारहवें अध्याय में नए कानून द्वारा लाए गए परिवर्तनों को ब्यौरा दिया गया है। जबकि बारहवें अध्याय में नई व्यवस्था की समीक्षा की गई है।

इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए कि भारतीय वित्त के अध्येता प्रांतीय वित्त का अर्थ सामान्यत: ''वित्त का विकेन्द्रीकरण'' समझ बैठते हैं, इस अध्याय के क्लिष्ट शीर्षक को न्यायोचित ठहराने के लिए दो शब्द कहने होंगे। भारतीय वित्त का कोई भी विद्यार्थी, जो व्यवस्था के विभिन्न आयामों में विभाजित होने से बखूबी परिचित है, प्रांतीय वित्त के लिए ''वित्त के विकेन्द्रीकरण'' की उक्ति की अनुपयुक्तता को समझने में गलती नहीं करेगा। यदि भारतीय व्यवस्था में केवल प्रांतीय विकेन्द्रीकरण ही होता तो नए शीर्षक के लिए परिश्रम करने की आवश्यकता नहीं होती। वास्तव में विकेन्द्रीकरण के आरंभिक तत्व किसी तरह भी एक समान नहीं हैं और इनके द्वारा विकसित प्रणाली के स्वरूप भिन्न हैं। उदाहरण के लिए, विकेन्द्रीकरण का केन्द्र और 1855 ई. में लागू की गई विकेन्द्रीकरण की नीति से विकसित प्रणाली 1870 ई. में की गई विकेन्द्रीकरण की नीति द्वारा विकसित प्रणाली और केन्द्र से भिन्न थीं। साथ ही यह ध्यान देने योग्य है कि 1892 से धीरे-धीरे विकेन्द्रीकरण किया जा रहा केन्द्र 1855 ई. अथवा 1870 ई. में किए गए विकेन्द्रीकरण से प्रभावित केन्द्रों से भिन्न है। इसे अधिक स्पष्ट रूप में कहें तो 1855 ई. का विकेन्द्रीकरण भारतीय वित्त का विकेन्द्रीकरण था जिसके फलस्वरूप–

(1) स्थानीय वित्त व्यवस्था को साम्राज्यिक (केन्द्रीय) वित्त व्यवस्था से अलग करना।

1870 ई. का विकेन्द्रीकरण साम्राज्यवादी वित्त व्यवस्था का विकेन्द्रीकरण था जिसके फलस्वरूप :–

(2) प्रांतीय वित्त व्यवस्था को साम्राज्यिक (केन्द्रीय) वित्त व्यवस्था से अलग

कर दिया गया और 1822 ई. से आरंभ विकेन्द्रीकरण प्रांतीय वित्त व्यवस्था का विकेन्द्रीकरण है जिसके फलस्वरूप :–

(3) स्थानीय वित्त व्यवस्था को प्रांतीय वित्त व्यवस्था से अलग करना पड़ा।

अतः यह स्पष्ट है कि ''वित्त व्यवस्था का विकेन्द्रीकरण प्रांतीय वित्त व्यवस्था का सूचक होने के बजाय उपरोक्त वर्णित विकेन्द्रीकरण की बहुआयामी प्रक्रिया का सामान्य नाम है, और विकेन्द्रीकरण के एक सूत्र के अध्ययन के लिए शीर्षक के तौर पर उस उक्ति का इस्तेमाल करना जो विकेन्द्रीकरण के तीनों सूत्रों को बताने के लिए उपयुक्त है, परेशानी में डालने के अलावा कुछ नहीं है। अतः इस भ्रम से बचे रहने के लिए कि यह अध्ययन उस दिशा से अलग है जिसकी यह जांच-पड़ताल करना चाहता है। इसे ''ब्रिटिश भारत में प्रांतीय वित्त व्यवस्था का विकास'' शीर्षक देना उचित समझा गया है। साथ ही ''साम्राज्यवादी वित्त व्यवस्था के प्रांतीय विकेन्द्रीकरण का अध्ययन'' नाम से उप-शीर्षक भी दिया गया है। यहां ''साम्राज्यवादी'' और ''प्रांतीय'' शब्दों को उनकी पूरी महत्ता के साथ पढ़ा जाना चाहिए। वाक्य रचना कितनी भ्रामक हो जाती है, इसे इस उदाहरण से समझा जा सकता है कि उपरोक्त चर्चित जस्टिस रानाडे के पैम्फलेट (प्रालेख) का शीर्षक ''प्रांतीय वित्त व्यवस्था का विकेन्द्रीकरण'' है। हालांकि यह प्रांतीय वित्त व्यवस्था के विकास से ही संबंधित है लेकिन अध्येता (विद्यार्थी इसकी अनदेखी कर सकता है क्योंकि इसके शीर्षक से लगता है कि इसकी विषय-वस्तु, स्थानीय वित्त व्यवस्था के विकास से संबंधित है। यदि जस्टिस रानाडे विकेन्द्रीकरण के विभिन्न पहलुओं के बारे में सजग रहते तो संभवतः वह यह अनुमान लगा लेते कि उनके पैम्फलेट (प्रालेख) का शीर्षक सामग्री से मेल नहीं खाता है।

भाग I

प्रांतीय वित्त व्यवस्था : इसका आरंभ

1
साम्राज्यवादी व्यवस्था : इसका विकास और ह्रास

भारत में साम्राज्यवादी शासन व्यवस्था वर्ष 1833 में शुरू हुई। इस व्यवस्था को स्थापित करने में संसद के दो मुख्य उद्देश्य थे। पहला उद्देश्य था न्याय और पुलिस व्यवस्था में व्याप्त बहुलता को समाप्त कर इनकी एक ऐसी सार्वभौमिक व्यवस्था कायम करना जो संपूर्ण भारत में एक समान रहे और इसके विभिन्न प्रारूपों को वर्गीकृत तथा व्यवस्थित किया जा सके। तात्कालिक व्यवस्था के अंतर्गत बहुलता होना स्वाभाविक था क्योंकि बंगाल[1], मद्रास[2], और बंबई[3] की प्रेसीडेंसियों के न केवल नागरिक तथा सैन्य शासन और राजस्व के प्रबंधन एवं आदेश के अधिकार क्रमशः उन प्रेसीडेंसियों के गवर्नरों में निहित थे बल्कि प्रत्येक गवर्नर को व्यक्तिगत रूप से शासित क्षेत्र में अच्छी व्यवस्था तथा नागरिक प्रशासन के लिए नियम व कानून बनाने तथा अध्यादेश एवं प्रतिबंध जारी करने के भी अधिकार प्राप्त थे। बशर्ते कि ऐसे नियम–कानून व अध्यादेश न्यायपूर्ण, तर्कसंगत तथा ब्रिटिश साम्राज्य के कानूनों का अतिक्रमण नहीं करते हों। इन प्राधिकारियों द्वारा लागू की गई कानून संहिता में अंग्रेजी संविधान के वे सभी उपबंध शामिल किए जाने चाहिए थे जो 1726 में जॉर्ज प्रथम के राजपत्र के माध्यम से भारत में लागू किए गए हैं और 1726 के बाद लागू किए गए अन्य अंग्रेजी कानून जिन्हें देश के विशेष हिस्से में लागू किया गया।

इतने विविध स्वरूप वाले कानून लागू करने का कार्य इतना कठिन साबित हुआ कि कलकत्ता के सर्वोच्च न्यायालय को इस प्रकार टिप्पणी करनी पड़ी कि–

> ''लोगों के किसी विवादपूर्ण अधिकार के बारे में कोई व्यक्ति न तो विचार जाहिर कर सकता है और न ही न्याय दे सकता है, जिसका सम्मान करते हुए उन लोगों ने आशंका व्यक्त न की हो जो उस पर सवाल उठाना चाहते हैं, क्योंकि बहुत थोड़ी सी जनता अथवा कार्यालयों में कार्यरत लोगों, यहां तक कि कानून अधिकारियों से भी यह उम्मीद की जा सकती है कि वे कानून की भारतीय व्यवस्था

---

1. 13 जीओ 3, 63, एस. 36
2. 39 और 40 जीओ, 3, सी. 79, एस. 11
3. 47 जीओ, 3, सैस 2, सी. 68, एस. 3

की इतनी गहरी और स्पष्ट जानकारी रखते हैं ताकि देश के एक भाग के प्रभाव को दूसरे भाग पर पड़ने की प्रक्रिया को वे आसानी से और तुरंत जान जाएं।''[1]

दूसरा मकसद देश में बसे यूरोपवासियों से प्रभावकारी ढंग से निपटने के लिए एक शक्तिशाली केन्द्रीय सरकार का गठन करना था। उल्लेखनीय है कि यदि कानून की अनिश्चितता के कारण स्थानीय जनसंख्या को कष्ट उठाना पड़ा तो ब्रिटिश जनसंख्या के लिए भी नियंत्रण कम कठोर नहीं होगा। ब्रिटिश साम्राज्य के आरंभिक दिनों में अंग्रेजों द्वारा किए गए अत्याचारों का रहस्योद्घाटन ईस्ट इंडिया कंपनी के मामलों की जांच करने के लिए 1771 में गठित हाउस ऑफ कामन्स की गुप्त-रिपोर्ट में दर्ज है। फलस्वरूप निजी ब्रिटिश नागरिकों के भारत आने और निवास बनाने को नियंत्रित करने के लिए कठोर कानून लागू किए गए। यूरोप में जन्मे किसी भी ब्रिटिश नागरिक को कंपनी अथवा भारत के गवर्नर जनरल अथवा प्रमुख आवासीय क्षेत्रों के गवर्नर की अनुमति लिए बिना भारत में प्रमुख आवासीय क्षेत्रों से 10 मील दूर आवास बनाने की अनुमति नहीं थी।[2] बोर्ड ऑफ कंट्रोल[3] द्वारा पुनरावलोकन की शर्त पर कंपनी के निदेशकों के न्यायालयों को ऐसे लाइसेंस[4] देने से इंकार करने के अधिकार थे। तथा भारत की सरकारों को यह स्पष्ट हिदायत थी कि विशेष परिस्थितियों[5] को छोड़कर वह स्वत: ब्रिटिश नागरिक को निवास की अनुमति नहीं दे सकतीं और साथ ही उन्हें उचित समझे जाने वाले मामलों में जारी किए गए ''लाइसेंस'' को भी रद्द[6] करने का अधिकार दिया गया। जाली अधिकार पत्रों[7] (लाइसेंसों) तथा अधिकार पत्रों के बिना आवास निर्माण[8] जैसे क्रियाकलापों को अपराध माना गया, जिसके लिए जेल की सजा अथवा जुर्माने तक का प्रावधान था और नौकरी से निकाले गए अथवा त्यागपत्र देने वाले यदि अपनी अवधि समाप्त

---

1. हर्बर्ट कोवल की पुस्तक ''द हिस्ट्री ऑफ द कांस्टीट्यूशन ऑफ कोर्ट्स एंड लेजिस्लेटिव अथोरिटी इन इंडिया'' कलकत्ता में उद्धृत।
2. 33 जीओ 3, सी. 52, एस. 98
3. वही, एस. 38
4. वही, एस. 33
5. वही, एस. 37
6. 53 जीओ 3, सी. 155, एस. 36
7. वही, एस. 120
8. 33 जीओ 3, सी. 52, एस. 131
9. वही, एस. 134

हो जाने के पश्चात् भी 10 मील की सीमा के बाहर पाए गए तो उन्हें गैर-कानूनी व्यापार करने पर अपराधी घोषित कर दिया जाता था।[9] बगैर अधिकारपत्रधारी ब्रिटिश नागरिकों को वापस भेज दिया जाता था।[1] और जिनके पास अधिकार पत्र (लाइसेंस) होता था उन्हें इस जिले की अदालत में अपना पंजीकरण करना होता था, जिस जिले में उनका निवास था।[2] चूंकि वे स्थानीय सरकार[3] के नियमों से संचालित होते थे, अतः वे ब्रिटिश भारत[4] अथवा अपने राज्यों[5] में किए गए सभी गैर-कानूनी कार्यों के लिए भारत तथा ग्रेट ब्रिटेन में न्याय प्रक्रिया से प्रभावित होते थे। बाधा पैदा करने में उन्हें अक्षम बनाने के लिए उन्हें पैतृक स्थानों के राजकुमारों[6], विदेशी कंपनियों अथवा विदेशी यूरोपीय व्यापारियों को उधार धन देना अथवा धन एकत्रित करना वर्जित था। इसी प्रकार स्थानीय लोगों को विदेशियों से बचाने के लिए उन्हें विदेशियों को 12% ब्याज की वार्षिक दर पर ऋण देना वर्जित था, ऐसा न करने पर प्रत्येक अपराध के लिए ऋण का तिगुना[7] रुपया दंड के रूप में काट लिया जाता था और उन्हें भारतवासियों के समस्त विवादों और अतिक्रमण[8] तथा बकाया मामूली कर्जों[9] संबंधी सभी मामलों के लिए उन्हें ''जस्टिसेस ऑफ द पीस'' के अधिकार क्षेत्र के अंदर रखा जाता था। इसके अतिरिक्त यूरोप में जन्मे प्रत्येक ब्रिटिश नागरिक के लिए अपने नौकरों, एजेंटों अथवा सहयोगियों[10] का अपने प्रांत के[11] अधिकार क्षेत्र के न्यायालय में पंजीकरण करना अत्यंत अनिवार्य था।

इन नियंत्रणों के बोझ तले दबी शासक पीढ़ी ने उनके विरुद्ध काफी क्रोध दिखाया लेकिन असफल रही। ये नियंत्रण भारतीय साम्राज्य की स्थिरता को खतरा पहुंचाने वाले तत्वों को दूर रखने के उद्देश्य से लगाए गए थे। लेकिन जैसे-जैसे समय बीतता गया और स्थानीय राजाओं पर लगातार विजय प्राप्त करने से भारतीय साम्राज्य सुसंगठित होता चला गया, इन नियंत्रणों के विरोध में कटु आलोचना की ऐसी आंधी चली कि इन प्रतिबंधों के प्रशंसक भी इनके उद्देश्यों को नकारने लगे। जबकि ब्रिटिश संसद के पास समसामयिक भावनाओं का सम्मान करने के सिवाय कोई रास्ता नहीं था। इसने उन परिणामों की अनदेखी करने से मना कर दिया जो वर्तमान सरकारी व्यवस्था

1. 53 जीओ III, सी. 155, एस. 104
2. वही, एस. 108
3. वही, एस. 35
4. 24 जीओ III, सी. 25, एस. 44
5. 26 जीओ 41, सी. 57, एस. 67
6. 37 जीओ III, सी. 142, एस. 28
7. 13 जीओ III, सी. 63, एस. 30
8. 53 जीओ III, सी. 155, एस. 105
9. वही, एस. 106
10. 21 जीओ III, सी. 70, एस. 13
11. वही, एस. 16

के तहत यूरोप में जन्मे ब्रिटिश नागरिकों के देश में अबाध प्रवेश से उत्पन्न हुए थे। इसने महसूस किया कि अप्रवासियों के प्रति सौहार्दपूर्ण बर्ताव तथा उन पर प्रभावी नियंत्रण अत्यंत आवश्यक था। संसद को भय था कि समान एवं स्वतंत्र वैधानिक और प्रशासनिक शक्तियों से लैस विभिन्न सरकारें भिन्न विचारों तथा अप्रासंगिक सिद्धांतों के चलते अपनी-अपनी सीमाओं में प्रवेश करने वाले अप्रवासियों के प्रति इनका इस्तेमाल कर उन्हें एक ऐसे असंतुष्ट समुदाय में शामिल कर देंगी जिससे उनसे निपटना मुश्किल हो जाएगा। सार्वभौम सिद्धांतों पर आधारित सौहार्दपूर्ण व्यवहार की आवश्यकता के अतिरिक्त संसद का यह भय भी पूरी तरह से दूर नहीं हो पाया था कि ब्रिटिश अप्रवासियों का आगमन स्थानीय नागरिकों के उत्पीड़न को पुनर्जीवित कर देगा। चूंकि इसके फिर से उभर आने की पूरी संभावना मानी जा रही थी अतः संसद उन्हें एक शक्तिशाली और सार्वभौम केन्द्रीय नियंत्रण के तहत रखना चाहती थी ताकि एक अधिकार क्षेत्र में अपराध करने वाला दूसरे अधिकार क्षेत्र में शरण प्राप्त न कर सके। अतः चाहे कानूनों की एकरूपता लाने के दृष्टिकोण से देखा जाए या फिर व्यवस्था को हानि पहुंचाने वाले तत्वों पर कड़ा नियंत्रण करने की इच्छा के दृष्टिकोण से अपने विभाजित अधिकार क्षेत्र के कारण तात्कालिक शासन व्यवस्था सोचे हुए उद्देश्य की पूर्ति के लिए सक्षम नहीं थी। आपातकाल के लिए भारत के मामलों पर नियंत्रण करने और कानून बनाने के लिए एक सर्वशक्तिसम्पन्न केन्द्र सरकार को ही उचित हल माना गया। तदनुसार 1833 में कानून बनाया गया कि–

''गवर्नर जनरल इन काउंसिल (बंगाल में फोर्ट विलियम में अवस्थित) को कथित सीमा क्षेत्रों या उनके किसी हिस्से में लागू, इसके बाद लागू होने वाले कानूनों अथवा नियमों को बनाने, बदलने, संशोधन करने अथवा निरस्त करने का अधिकार होगा। साथ ही उन सभी लोगों चाहे वे ब्रिटिश नागरिक हों अथवा भारतीय, चाहे विदेशी हों अथवा अन्य सभी अदालतों, चाहे सम्राट के चार्टर द्वारा स्थापित हों अथवा अन्यथा उनके अधिकार क्षेत्रों के लिए और उक्त राज्य क्षेत्र सभी स्थानों एवं सीमा क्षेत्र के लिए और राजाओं की रियासतों में कंपनी तथा राज्यों तथा राज्यों के साथ गठबंधन करने वाली कंपनी में कार्य करने वाले सभी कर्मचारियों के लिए कानून तथा नियम बनाने का अधिकार होगा।''[1]

इस प्रकार भारत के गवर्नर जनरल इन काउंसिल को विशिष्ट वैधानिक शक्तियां प्रदान कर एक साम्राज्यिक (इम्पीरियल) सरकार का गठन किया गया। लेकिन आज की तरह यदि उस समय भी मद्रास व बंबई जैसी दो प्रेसीडेंसियों को अपनी-अपनी सीमा क्षेत्रों में कानूनी तौर से नागरिक एवं सैन्य सरकार बनाने का अधिकार होता तो केन्द्र सर्व-शक्तिमान नहीं बन पाता। दूसरी ओर यदि संसद

1. 3 और 4 विलि. की धारा 43, सी. 85, ईस्ट इंडिया कंपनी के साथ प्रभावी समझौता और भारतीय सीमा क्षेत्रों में ब्रिटिश साम्राज्य के बेहतर प्रशासन के लिए बनाया गया कानून।

उनसे यह अधिकार नहीं छीनती तो इन दो प्रशासनिक शक्तियों और नव-निर्मित वैधानिक शक्ति के बीच टकराव की संभावना पैदा हो जाती। शांति, व्यवस्था और अच्छी सरकार चलाने की जिम्मेदारी के नाम पर पहली शक्ति दूसरे द्वारा बनाए गए कानूनों की रोशनी में प्रशासन चलाने से मना कर सकती थी और इस तरह एक केन्द्रीय तथा शक्तिशाली सरकार के गठन से होने वाले संभावित लाभ हासिल नहीं हो पाते। नव-निर्मित भारतीय राजतंत्र की इस कमजोरी को दूर करने के लिए संसद ने बंबई और मद्रास प्रांतों को उनकी उच्च हैसियत से वंचित करने का कदम उठाया, जो उन्हें उत्तरदायी सरकारों के रूप में प्राप्त थे, ताकि नए संविधान के अनुसार–

''...अनेक प्रांतों के प्रत्येक की कार्यकारी सरकार का एक गवर्नर और तीन काउंसिलर्स (पार्षदों) द्वारा प्रशासन (अब तक की तरह समाहित नहीं) चलाया जाता था जबकि''....[1]

''भारत के राजस्व और सभी सीमा क्षेत्रों की नागरिक तथा सैन्य सरकारों की निगरानी, निर्देशन और नियंत्रण की शक्ति, एक गवर्नर जनरल तथा काउंसिलर्स (पार्षदों) में निहित थी जिसे भारत का गवर्नर-जनरल-इन-काउंसिल कहा जाता था।''[2]

इस तरह भारत में ''साम्राज्यवादी शासन व्यवस्था'' की नींव पड़ी। यह सच है कि इस व्यवस्था की स्थापना के बहुत पहले बंगाल सरकार[3] को आपातकाल को छोड़कर बाकी समय किसी भी भारतीय राजा या शक्ति के खिलाफ लड़ाई घोषित करने अथवा छेड़ने या शांति-संधि अथवा अन्य किसी तरह की संधि करने के मामले में मद्रास तथा बंबई प्रांतों की सरकारों के प्रबंधन पर निगरानी रखने तथा नियंत्रण करने का पूरा अधिकार था, तथा बाद में निर्मित कानून माध्यम से उक्त प्रदेशों की नागरिक एवं सैन्य सरकारों, सैन्य बल तथा राजस्व संग्रहण के मसलों पर भी निगरानी करने का पूरा अधिकार प्राप्त था।[4] लेकिन इससे यह नहीं माना जाना चाहिए, जैसा अक्सर किया जाता है कि 1833 से पूर्व दोनों प्रांत

1. 3 और 4 विलि. की धारा 43, सी. 85, ईस्ट इंडिया कंपनी के साथ प्रभावी समझौता और भारतीय सीमा क्षेत्रों में ब्रिटिश साम्राज्य के बेहतर प्रशासन के लिए बनाया गया कानून।
2. वही, एस. 56, धारा 57 के द्वारा प्रांतों में काउंसिलर्स (पार्षदों) की संख्या घटाने लगा उन्हें हमेशा के लिए निलंबित करने का अधिकार दिया गया जिससे प्रदेश की कार्यकारी सरकार को केवल गवर्नर के भरोसे छोड़ दिया गया। इस अधिकार का उपयोग 1833 में बंबई और मद्रास इक्जीक्यूटिव काउंसिलर्स (कार्यकारी पार्षदों) की संख्या 3 से घटाकर 2 करके किया गया।
3. 3 और 4 विलि. 4 सी. 85, एस. 39
4. 13 जीओ III, सी. 52, एस. 40

वास्तविक अर्थों में अपने घरेलू मामलों में बंगाल के अधीन थे। सच तो यह है कि मद्रास और बंबई प्रांतों को परिषद् में अपने कार्यों तथा सभी आदेशों एवं प्रस्तावों की सत्यापित नकल बंगाल सरकार को भेजनी होती थी और वे बंगाल सरकार के आदेशों को भी मानने को बाध्य थीं लेकिन इसका यह मतलब बिल्कुल नहीं कि वे अपने आंतरिक मामलों में बंगाल सरकार के अधीन थे, क्योंकि यह याद रखा जाना चाहिए कि बंगाल सरकार में निहित राज्य क्षेत्रातीत शक्तियों को छोड़कर बंगाल[1] के ही समान मद्रास और बंबई[2] प्रांतों को भी नागरिक एवं सैन्य सरकार चलाने तथा साथ ही अपने सीमा क्षेत्रों की संपदा और राजस्व संबंधी आदेश जारी करने तथा प्रबंधन का भी अधिकार था। बंगाल सरकार की तरह उन्हें अपने-अपने अधिकार क्षेत्रों के भीतर कानून का समान तथा स्वतंत्र अधिकार प्राप्त था। अत: वास्तव में ऐसा लगता है कि वे अपने क्रियाकलापों की प्रतिलिपि बंगाल सरकार को सूचनार्थ भेजते थे ताकि आदेश के तहत वैसे भी, इस तरह का विचार बंगाल सरकार की ही देन था क्योंकि यद्यपि उन प्रांतों को आदेश देने और आज्ञा पालन करवाने का अधिकार इसके पास था लेकिन व्यवहार में बंगाल ने अपनी निगरानी और नियंत्रण "उनके द्वारा की गई गलतियों की ओर इशारा करने और न दोहराने का अनुरोध करने तक ही सीमित रखा था।" इससे अधिक उसे गैर जरूरी[3] समझा गया और संदेह[4] है कि क्या वह संवैधानिक था।

साम्राज्यवादी शासन व्यवस्था के साथ साम्राज्यवादी वित्त व्यवस्था अनिवार्यत: जुड़ी हुई थी। साम्राज्यवादी प्रशासकीय व्यवस्था के पूर्व विभिन्न प्रांत अलग-अलग घड़ियों के समान थे, जिनकी प्रमुख कमानी ("मेन स्प्रिंग") वे स्वयं थे। प्रत्येक कानून बनाने तथा कराधान तथा दंड देने संबंधी शक्तियों की दृष्टि से प्रभुसत्तासंपन्न थे। वे अपनी वित्त व्यवस्था के मामले में भी स्वतंत्र थे। प्रत्येक प्रांत अपने अधिकार क्षेत्र के भीतर बेहतर शासन और शांति तथा व्यवस्था बनाए रखने के लिए आवश्यक सेवाओं के रख-रखाव के लिए उत्तरदायी था और प्रत्येक प्रांत अपनी जिम्मेदारी का निर्वाह करने के लिए कर लगाने अथवा कराधान में फेरबदल करने तथा ऋण लेने के लिए स्वतंत्र था। जिम्मेदारी का निर्वाह करने के अपने तरीकों और साधनों के लिए वे अक्सर एक-दूसरे के स्रोतों पर

1. 13 जीओ III, सी. 63, एस. 7
2. 33 जीओ III, सी. 52, एस. 24
3. गवर्नर जनरल, लार्ड विलियम बेंटिक द्वारा भारत सरकार के संविधान के विषय में कार्यवृत्त, दिनांक 14 सितंबर 1831, बंगाल सरकार के सचिव द्वारा बंगाल सरकार को भेजा गया ज्ञापन जिसके साथ लार्ड कैनिंग का दिनांक 9 सितंबर 1859 का पत्र संलग्न था जिसे सन् 1861 की हाउस ऑफ कामन्स की कार्यवाही संख्या 307 में प्रकाशित किया गया।
4. बंगाल सरकार को भेजा गया निदेशकों के कोर्ट का दिनांक 10 दिसंबर 1884 का पत्र संख्या 44, मूल मसौदा भारतीय कार्यालय के रिकार्ड में।

निर्भर रहते थे और ऐसा इसलिए नहीं करते थे कि उनके राजकोष निश्चित नहीं थे, बल्कि इसलिए कि वे ईस्ट इंडिया कंपनी के समान राजकोष के ही भाग थे। यह सब सन् 1833 के कानून द्वारा बदल दिया गया जिसके अंतर्गत अब समस्त राजस्व और विभिन्न राज्य क्षेत्रों का शासन भारत के गवर्नर जनरल की काउंसिल (परिषद्) में निहित कर दिया गया। सभी राजस्व और सेवाओं को कानून बनाकर भारत सरकार का राजस्व और सेवाएं घोषित कर दिया गया। सभी प्रांत भारत सरकार के लिए राजस्व जमा करने और खर्च करने वाली एजेंसियां बन गए। उन्हें अब अपने नाम से नए कर लगाने और पुराने कर वसूल करने का अधिकार नहीं रहा। इसी तरह उनके द्वारा प्रशासित सेवाएं भी भारत सरकार की जिम्मेदारी बन गई और सेवाओं के रख-रखाव के लिए विभिन्न प्रांतों को समेकित निधि में से धन दिया गया। ऐसी कानूनी व्यवस्था बना दी कि भारत सरकार की पूर्वानुमति के बिना प्रांतीय सरकारें कोई नया कार्यालय खोलने, कोई वेतन, ग्रेच्युटी अथवा भत्ता देने के लिए उन्हें आबंटित धन का इस्तेमाल नहीं कर सकती।[1] सरकारी ऋण अब किसी एक विशेष प्रांत के राजस्व पर भार नहीं रहा और अब प्रांतों के बीच एक-दूसरे के राजस्व पर प्राथमिक या द्वितीय देयता का भार न रहा। अब सभी प्रांतीय ऋण भारत सरकार के ऋण हो गए और सम्पूर्ण भारत के राजस्व पर प्रभार हो गया। संक्षेप में, इस वित्त व्यस्था की जो स्रोतों और आय से जमा राशि को अलग करने वाली व्यवस्था के समान थी वित्तीय व्यवस्था को स्रोतों के समूह और आय के बंटवारे में तब्दील कर दिया गया। जैसा कि 1833 के कानून की बदौलत सरकारी संकल्प में कहा गया था–

"ब्रिटिश भारत, यद्यपि सुविधा के लिहाज से स्थानीय रूप से नियंत्रित पृथक सरकारों के तहत प्रांतों में विभाजित था। लेकिन वास्तव में ग्रेट ब्रिटेन पर निर्भर अकेली ऐसी विशाल शक्ति बन गया था जिसके हित अविभाजित थे, जिसके पास एक ही राजकोष था और जो सभी आवश्यक तथा सामान्य सिद्धांतों में एक ही सरकार गवर्नर-जनरल-इन-काउंसिल द्वारा नियंत्रित था, भारत के समस्त संसाधन एक उद्देश्य पर लागू होते थे और वह था उसके क्रियाकलापों का निर्वहन तथा इंग्लैंड में इसके प्रबंधन से संबंधित क्रियाकलाप और ब्रिटिश भारत के जिस किसी भी भाग में धन की आवश्यकता पड़ती तो उन स्रोतों का उल्लेख किए बिना जहां से निधियां प्राप्त हुई, निधियां उपलब्ध कराई जातीं।"[2]

समय के साथ साम्राज्यिक (इम्पीरियल) वित्त व्यवस्था इतनी अधिक व्यापक हो चुकी थी कि जब 1858 में सम्राट ने ईस्ट इंडिया कंपनी से भारत सरकार की बागडोर संभाली तो यह पाया गया कि–

---

1. 3 और 4 विलि. IV, सी. 85, एस 59
2. भारत सरकार के वित्त विभाग का प्रस्ताव, दिनांक 22 नवम्बर 1843।

"किसी भी प्रांत को अलग विधान बनाने, अलग वित्तीय साधन जुटाने अथवा सरकारी सेवाओं में नियुक्तियां करने अथवा पदों का सृजन करने या किसी तरह का परिवर्तन करने का अधिकार नहीं था और उसके साथ पत्र-व्यवहार करने से संबंधित अंतिम प्रतिबंध से उस सरकार को प्रांतीय प्रशासन के सभी मामलों में दखल देने का अधिकार मिल गया।"[1]

सैनिक, राजनैतिक, वैधानिक अथवा प्रशासनिक दृष्टि से साम्राज्यिक (इम्पीरियल) शासन व्यवस्था की जो भी विशेषताएं रहीं, यह कटु वास्तविकता है कि वित्तीय व्यवस्था के रूप में इस पर पड़ने वाले दबावों के कारण यह विषम रही। आरंभ से ही यह वित्तीय त्रुटियों का शिकार रही और ऐसा बहुत कम हुआ जबकि वित्त मंत्रियों द्वारा संतुलन पुनः स्थापित करने और संकट की घड़ी को टालने के प्रयास सफल रहे। घाटे की गंभीरता निम्न आंकड़ों से परखी जा सकती है :-

साम्राज्यवादी (केन्द्रीय) वित्त व्यवस्था की कमी

वर्ष	बचत पौंड	घाटा पौंड	वर्ष	बचत पौंड	घाटा पौंड
1834-35	-	194,477	1846-47	-	971,322
35-36	1,441,513	-	47-48	-	1,911,986
36-37	1,248,224	-	48-49	-	1,473,225
37-38	780,318	-	49-50	354,187	-
38-39	-	381,789	50-51	415,443	-
39-40	-	2,138,713	51-52	531,265	-
40-41	-	1,754,852	52-53	424,257	-
41-42	-	1,771,603	53-54	-	2,044,117
42-43	-	1,346,011	54-55	-	1,707,364
43-44	-	1,440,259	55-56	-	972,791
44-45	-	743,893	56-57	-	143,597
1845-46	-	1,496,865	57-58	-	7,864,222

इस घाटे द्वारा दर्शायी गई भारतीय वित्त व्यवस्था की शोचनीय दशा पर जो कोई भी विचार करेगा वह हाउस ऑफ कामन्स में डिजरायली द्वारा व्यक्त इस आश्चर्य से सहमत हुए बिना नहीं रहेगा कि-

1. ब्रिटिश इंडिया में विकेन्द्रीकरण पर रायल कमीशन की रिपोर्ट, पृ. 24
2. श्री विल्सन द्वारा वर्ष 1860-61 के लिए ब्रिटिश भारत के वित्त वक्तव्य से उद्धृत, हाउस ऑफ कामन्स रिटर्न, 33, 1860, का पृष्ठ 100

''भारत का प्रशासन भले ही हमेशा सक्षम व योग्य रहा है, इस प्रशासन द्वारा पैदा किए गए व्यक्ति कितने विशिष्ट रहे हैं, महान नायकों, चतुर कूटनीतिज्ञों की कितनी ही भरमार रही है और सरकार के बड़े-बड़े जिलों के भले ही बहुत कुशल प्रशासक हैं किन्तु भारत की वित्तीय स्थिति सदैव शोचनीय रही है और भारत जिसने इतनी अधिक महान हस्तियां पैदा की हैं, राजकोष का मंत्री (चांसलर) पैदा करने में असमर्थ दिखाई देता है।''[1]

हालांकि इस पतन के कारण खोज निकालना मुश्किल नहीं है। भारतीय वित्त व्यवस्था की खामियां दोषपूर्ण वित्त नीति में ढूंढी जा सकती हैं। यह नीति कई कारणों से दोषपूर्ण थी। राज्यों द्वारा व्यय की गई धनराशि के संदर्भ में अक्सर तर्क दिया जाता है कि संभावित व्यय का निर्धारण राजस्व की प्राप्ति के अनुसार ही किया जाना चाहिए किन्तु अनुभव दर्शाता है कि जहां कहीं भी इस सिद्धांत की सीमाओं को पूरा महत्व नहीं दिया गया वहीं इसके परिणाम विनाशकारी रहे हैं। इस बात पर बार-बार जोर नहीं दिया जा सकता कि देश का बढ़ता खर्चा समाज की बढ़ती पूंजी से ही पूरा किया जा सकता है। न ही जोरदार ढंग से इस बात पर जोर दिया जा सकता है कि ठोस वित्तीय व्यवस्था का आधार आवश्यक राजस्व एकत्रित करने की क्षमता में ही निहित है। यह बात याद रखनी चाहिए कि राजस्व प्राप्त करने का तरीका समस्या का वह पहलू है जो देश की उत्पादकता एवं स्थायित्व के लिए भयानक परिणामों से भरा पड़ा है। स्पष्टत: यह नकारा नहीं जा सकता कि कराधान के असमान तरीकों से उसी तरह सामाजिक उथल-पुथल पैदा हो सकती है जिस तरह व्यापार और उद्योग पर इसको दोषमुक्त प्रभाव के कारण यह अपनी आर्थिक कार्यशैली और तकनीक को गतिहीन बनाकर तथा समाज की उत्पादक क्षमताओं को नष्ट करके राज्य को भिखारी बनाकर समाज को कंगाल बना सकता है। अत: बुद्धिमत्ता का तकाजा है कि जिन पर देश के वित्तीय-प्रबंधन का भार है उन्हें पूंजी निर्माण और व्यय करने के तात्कालिक उद्देश्य से आगे की सोचनी चाहिए, क्योंकि वित्त के मामले में ''कैसे'' शब्द अत्यंत महत्वपूर्ण है और व्यवहार में इसे एकदम नहीं भुला सकते। सामाजिक संपदा ही वह पैतृक संपत्ति है जिस पर देश भरोसा कर सकता है और जो देश इसे नष्ट कर देता है वह स्वयं नष्ट हो जाता है। इतिहास ऐसे उदाहरणों से भरा पड़ा है जहां इस आधारभूत सत्य की मूर्खतापूर्ण उपेक्षा करने वाले देश तहस-नहस हो गए हैं लेकिन साक्ष्य के तौर पर यदि एक अन्य उदाहरण की आवश्यकता हो तो इसकी पूर्ति भारत में स्थापित साम्राज्यिक (इम्पीरियल) वित्त व्यवस्था कर सकती है।

---

1. सर चार्ल्स बुड्स का प्रशासन, पृ. 65-66 से वैस्ट द्वारा उद्धृत।

भूमि कर प्रचलित साम्राज्यिक राजस्व व्यवस्था के तहत अत्यंत कठोर कराधान था। भारत में कर लगाने के सिद्धांत के पीछे यह तर्क था कि खेतिहरों द्वारा राज्य को दिया जाने वाला कर भूमि का किराया है, क्योंकि भारत में पुराने समय से भूमि को राज्य की संपत्ति माना गया है। खेती करने वाला भूमि का स्वामी नहीं बल्कि किरायेदार है। भूमि उसे किराए पर दी गई है अतः भूमि से कर के रूप में हासिल होने वाले समस्त धन पर राज्य का अधिकार न्यायसंगत है। इस अवधारणा के आधार पर भूमि कर (लगान) लगाया जाता रहा चाहे उसकी आवश्यकता रही हो या नहीं।

राज्य को वैध रूप से भू-स्वामी मानने के अतिरिक्त एक अन्य आर्थिक सिद्धांत भी था जिसके द्वारा भूमि कर में वृद्धि करना न्यायसंगत ठहराया जाने लगा।

इस बात को मानने के पीछे तर्क यह है कि भारत में निबल उत्पाद (प्रोड्यूट नेट) के भू-अर्थशास्त्रीय सिद्धांत (फिजियोक्रेटिक डॉक्ट्राइन) का प्रभाव भूमि पर निश्चित करने और प्रबंधन पर पड़ा। हम पाते हैं कि राजस्व प्रबंधन के आरंभिक चरणों में भारतीय उच्च अधिकारी यह तर्क देते रहे हैं कि ''भले ही फ्रांसीसी अर्थशास्त्रियों का भूमि पर लगने वाले सभी करों का सिद्धांत.... गलत या सही रहा हो, भारत में लागू व्यवस्था के लिए यह सुविधाजनक था, यह सिद्धांत केवल फ्रांसीसियों द्वारा ही समर्पित नहीं था बल्कि इंग्लैंड के सम्माननीय शासकों द्वारा भी इस सिद्धांत को समर्थन प्राप्त था क्योंकि उनका मानना था कि अंतिम रूप से सभी कर भूमि के उत्पादों पर ही लगते हैं, और इससे इतर सिद्धांत प्रतिपादित करने में ''वैल्थ ऑफ नेशन्स'' के प्रबुद्ध लेखक पूर्व आंकड़ों के निष्कर्ष के आधार पर स्वयं को विपरीत स्थिति में पाते हैं।[1]

भूमि कर बढ़ाने के जो भी कारण रहे हों, कुछ लोग ही इस बात को नकार सकते हैं कि अपने पूरे या तकरीबन पूरे लाभ को स्वयं खपत करने वाली किसी भी वर्ग की औद्योगिक इकाई के पहले उत्पाद पर ऊंची संगठित चुंगी लगाना विनाशकारी तथा अशिष्ट है। ऐसा करना उस उत्पाद की उत्पत्ति पर प्रभावी रोक लगा देता है जिसके भावी उत्पादन को लाभकारी ढंग से इस्तेमाल किया जा सकता है और जिसके माध्यम से व्यक्तिगत पूंजी तथा सरकारी राजस्व को कल्पनातीत सीमा तक बढ़ाया जा सकता है। इस तरह का भूमिकर उस पूंजी के उत्पादन को अवश्य नष्ट कर देगा जिसका निर्माण औद्योगिक इकाइयों ने किया। भूमि पर लगाया जाने वाला कर इतना अधिक था कि भारत में चालू कर व्यवस्था को एकल कर प्रणाली[1] का नाम दिया जा सकता है।

---

1. इस महत्त्वपूर्ण विवाद जिस पर बेडन पावेल का ध्यान नहीं गया के लिए देखें *हाउस ऑफ कामन्स* का लेख 306, 1812-13

जहां भूमिकर के कारण कृषि उद्योग की समृद्धि रुक गई वहीं सीमा शुल्क ने देश के उत्पादकों को नुकसान पहुंचाया। देश में आंतरिक और बाह्य सीमा-शुल्कों का प्रावधान था और दोनों तरह के सीमा-शुल्क व्यापार और उद्योग के लिए समान रूप से नुकसानदेह थे। आंतरिक सीमा-शुल्क में आवागमन तथा नगर शुल्क शामिल थे।[1] आवागमन शुल्क के उद्देश्य के लिए देश को कृत्रिम रूप से अनेक छोटे सीमा-शुल्क क्षेत्रों में विभाजित कर दिया था। प्रत्येक सीमा-शुल्क क्षेत्र के भीतर वस्तुओं का निर्माण और उनका इच्छानुसार उपभोग किया जा सकता था, लेकिन जैसे ही ये वस्तुएं अपने सीमा-शुल्क क्षेत्र से बाहर निकलती थीं उन पर शुल्क लगा दिया जाता था। हालांकि इस शुल्क के विनाशकारी प्रभाव छिपे हुए थे, फिर भी वे वास्तविक थे। आवागमन शुल्क से व्यापार में बाधाएं पहुंचने लगीं और अंततः देश के उत्पादकों को नुकसान पहुंचने लगा। एडम स्मिथ हमें बता चुके हैं कि उद्योग का विकास किस तरह बाजार व्यवस्था पर निर्भर करता है। आवागमन शुल्क वसूलने के उद्देश्य से पूरे देश को चेस बोर्ड की भांति छोटे-छोटे भागों में विभाजित कर दिया गया था। आश्चर्य की बात

1. भारत के कुल राजस्व और भूमि राजस्व का अनुपात निम्न था–

वर्ष	अनुपात	वर्ष	अनुपात	वर्ष	अनुपात
1792-3	50.33	1817-18	66.17	1842-43	55.85
से		से		से	
1796-7		1821-22		1846-47	
1797-8					
1801-2	42.02	1822-23	61.83	1847-48	56.06
1802-3		से		से	
से					
1806-7	31.99	1826-27		1851-52	
1807-8	31.68	1827-28	60.90	1852-53	55.40
से		से		से	
1811-12		1831-32		1855-56	
1812-13	52.33	1832-33	57.00	64 वर्ष	54.07
से		से		का औसत	
		1836-37			
1816-17		1837-38	59.05		
		1841-42			

1. इस व्यवस्था का निकट से अध्ययन करने वाले श्री ट्रेवेलियान इसके विनाशकारी प्रभावों से इतना अधिक घबरा गये थे कि उन्होंने यह लिख डाला, ''हालांकि हमारे पास इसके अस्तित्व का प्रत्यक्ष प्रदर्शन है फिर भी जब यह एक बार समापत कर दिया जाएगा तो दुनिया मुश्किल से विश्वास कर पाएगी कि पूरी एक सदी के खास हिस्से तक हम इस व्यवस्था को बर्दाश्त करते रहे।'' *बंगाल प्रांत में आवागमन और शहर शुल्क की व्यवस्था*, पृ. 6

नहीं है कि ऐसे में व्यापार और उसके सहयोगी उद्योग को अत्यंत दयनीय स्थिति में रहना पड़ा। आवागमन शुल्क का बुरा प्रभाव दूसरी तरह से भी महसूस किया गया। औद्योगिक रूप से विकसित प्रत्येक देश में न केवल श्रम का सामाजिक विभाजन होता है बल्कि श्रम का सीमा क्षेत्रीय विभाजन भी होता है जिसे दूसरे शब्दों में उद्योग का स्थानीयकरण कहते हैं। इस बात के अनेक उदाहरण मौजूद हैं कि औद्योगिक स्थानीयकरण भारतीय अर्थव्यवस्था की प्रमुख विशेषता थी।[1] इसके तहत भारत में प्रत्येक क्षेत्र को एक विशेष कला अथवा उद्योग में विशेषता हासिल हो गई, उदाहरण के लिए कपास एक क्षेत्र में पैदा किया जाता था, इसे बुना दूसरे क्षेत्र में जाता था और इसकी रंगाई का काम तीसरे क्षेत्र में होता था। लेकिन अक्सर ऐसा होता था कि ये क्षेत्र अलग-अलग सीमा-शुल्क क्षेत्रों में स्थित होते थे और कच्चे माल को अंतिम चरण में पहुंचने तक उस पर कई बार आवागमन शुल्क देना पड़ जाता था। इससे राहत पाने के लिए प्रत्येक क्षेत्र को अलाभकारी कार्यों में अपनी ऊर्जा गंवानी पड़ती थी ताकि आवागमन शुल्क देने से बचा जा सके।

नगर शुल्क से जो आंतरिक सीमा-शुल्क का एक भाग माना जाता था, के प्रभाव से शहरीकरण पर विपरीत प्रभाव पड़ा। निस्संदेह व्यावसायिक केन्द्र किसी देश के व्यापार के प्रमुख अवयव होते हैं। ये किसी भी मात्रा में हर प्रकार की वस्तुओं की खरीद-फरोख्त, जमा-पूंजी, ऋण सुविधाओं तथा सामान्य सूचनाओं के केन्द्र का काम करते हैं। ये व्यावसायिक केन्द्र देश के व्यवसाय तथा उद्योग-धंधों को सहयोग तथा उत्साह प्रदान करते हैं। लेकिन नगर शुल्क ने सीधे-सीधे व्यवसाय को प्रभावित किया, क्योंकि व्यवस्था के तहत आने वाली प्रत्येक वस्तु पर आवागमन शुल्क का भुगतान करने के पश्चात् नगर में प्रवेश करने पर नगर शुल्क का भुगतान करना पड़ता था और यदि नगर में प्रवेश करने पर निर्माता द्वारा वस्तु को किसी प्रकार बदलना पड़ जाता था तो आवागमन शुल्क के तहत दूसरी बार शुल्क का भुगतान किए बिना उस वस्तु को किसी दूसरे पड़ोसी स्थान पर नहीं ले जाया जा सकता। श्रम और कौशल के परिणामस्वरूप वस्तु के मूल्य में हुई वृद्धि के अनुपात में ही दूसरी बार बढ़ाकर शुल्क लगाया जाता था। इसका परिणाम यह हुआ कि शहरों में व्यापार और उद्योग घटने लगे, क्योंकि व्यापारियों ने वस्तुओं को एक शहर से दूसरे शहर में ले जाना बंद कर दिया, क्योंकि आवागमन शुल्क की परिधि में आने वाली वस्तुओं के किसी भी निर्माता के लिए अपनी जरूरत से अधिक माल उत्पादित करना संभव नहीं रहा।

इस परिस्थिति में भारतीय उद्योग को विदेशी उद्योगपतियों के साथ प्रतिस्पर्धा करने के लिए कहा गया। लेकिन बाह्य सीमा-शुल्क उन्हें बढ़ावा देने की बात तो दूर रही,

---

1. देखिए एम. मार्टिन की पुस्तक ''*ईस्टर्न इंडिया*'' के तीन भाग।

सही सुरक्षा भी प्रदान नहीं कर सका। नियमानुसार व्यापारिक शुल्क वस्तुगत प्रतिस्पर्धा पर आधारित होता है। आयात शुल्क ऊंची दरों के माध्यम से उन विदेशी वस्तुओं के आयात को नियंत्रित करने के लिए होता है जो समान वस्तुओं के देश में सफल उत्पादन प्रक्रिया में अवरोध पैदा कर सकती है और निर्यात-शुल्क वह कहलाता है जो उन स्वदेशी वस्तुओं को बढ़ावा देने के लिए लगाया जाता है जो विदेशी बाजार में घुसपैठ करने की कोशिश कर रही हों। लेकिन भारत में बाह्य सीमा-शुल्क के सिद्धांत का वस्तुगत प्रतिस्पर्धा के सिद्धांत से कोई संबंध नहीं था। अपनाई गई वास्तविक नीति के साथ तुलना करने पर पता चलता है कि संरक्षक तक उद्योग को पूरी तरह स्वतंत्र छोड़ना चाहता था क्योंकि यह शुल्क नहीं बल्कि राजनीतिक कारणों पर आधारित था। भारतीय आयात शुल्क आयात की जाने वाली वस्तुओं के स्वरूप के साथ नहीं बदलता था बल्कि आयात के देश तथा उस स्थान जहां से जहाज लादा गया है। यह सब राजनीतिक आधार पर ही किया जाता था। अत्यंत खेद का विषय है कि इस प्रकार की प्राथमिकता से लोगों तथा सरकार दोनों को बहुत हानि हुई। यह बात माननी होगी कि इंग्लैंड में बनी वस्तुओं को भारत में लाने और भारत में निर्मित वस्तुओं को इंग्लैंड निर्यात करने पर अन्य देशों में निर्यात पर लगने वाले शुल्क से आधा शुल्क लगता था, लेकिन आंतरिक सीमा-शुल्क के तहत भारतीय वस्तुओं पर लगाए गए शुल्क ही तुलना में ब्रिटिश वस्तुओं पर बहुत कम सीमा-शुल्क भुगतान की अनुमति देकर भारतीय उद्योग-धंधों को बलि की वेदी पर चढ़ा दिया गया। ध्यान देने योग्य है कि यह उस समय किया गया जब ब्रिटेन ऊंची शुल्क दरों के माध्यम से भारत में निर्मित वस्तुओं और जहाजों के इंग्लैंड में प्रवेश पर रोक लगा रहा था। लेकिन जबकि आयात शुल्क के कारण विदेशी भारतीय उत्पादों जिन पर आंतरिक सीमा-शुल्क का बहुत अधिक भार पड़ा हुआ था के साथ अपनी प्रतिस्पर्धा जमा रहे थे, वही भारी निर्यात शुल्क के कारण भारतीय उत्पाद विदेशी मंडियों में अपनी प्रतिस्पर्धा नहीं जमा सके। यह निर्यात शुल्क व्यवस्था की सबसे अधिक सोचनीय विशेषता थी। भारतीय शुल्क व्यवस्था उन्नसीवीं[1] सदी में काफी लंबे समय तक लागू रही।

इस प्रकार आंतरिक तथा बाह्य सीमा-शुल्क कानून व्यापार के रास्ते में रोड़ा अटकाते रहे और उद्योग का गला घोंटते रहे। सीमा-शुल्क के प्रांत बहुत कम राजस्व

1. उपरोक्त प्रत्येक वक्तव्य का संदर्भ बताना मुश्किल है। भारत की शुल्क व्यवस्था का इतिहास अभी तक अलिखित है लेकिन इस विषय पर अनेक साक्ष्य 1821 की व्यापार संबंधी संसदीय समिति और 1813 तथा 1853 में ईस्ट इंडिया कंपनी के मामलों के लिए गठित समितियों को दिए गए साक्ष्यों में पाए जा सकते हैं। 1846 में ''ईस्ट इंडिया प्रोड्यूस'' पर गठित कंपनी के साक्ष्य और रिपोर्ट की ओर विशेष ध्यान आकर्षित किया जाता है।

सीमा शुल्कों के विनाशकारी प्रभाव का साक्ष्य है।[1]

जब ये संसाधन असफल हो गए तो सरकार ने राजस्व प्राप्त करने के कुल अत्यधिक विवादास्पद तरीके अपनाने शुरू कर दिए।

साम्राज्यवादी शासन व्यवस्था के तहत लागू राजस्व व्यवस्था का निष्पक्ष सर्वेक्षण करने पर यह कहने को मजबूर होना पड़ता है कि कर पद्धति में न्याय का तत्त्व विलुप्त था। यह एक क्रूर हास्य था या फिर एक अकर्मण्य सिद्धांत क्योंकि नश्तर उस जगह पर नहीं चुभाया गया था जहां पर खून सबसे अधिक गाढ़ा था बल्कि राजनीतिक शरीर के उस भाग पर चुभाया गया था जो अपनी कमजोरियों और गरीबी के कारण वार झेलने में सबसे अधिक कोमल था। गरीब काश्तकारों की कमाई पर गुलछर्रे उड़ाने वाले और विलासिततापूर्ण जीवन बिताने वाले भू-स्वामी या मोटी तनख्वाहों पर ऐश करने वाले अनेक यूरोपीय नौकरशाहों को सरकारी रख-रखाव के लिए खर्चों में अना योगदान देने की छूट थी, एक ऐसी सरकार के जिसकी मुख्य गतिविधियां चमक-दमक और सुविधाएं बरकरार रखने के लिए केंद्रित थीं।

1. निम्नलिखित सारणी कुल राजस्व में सीमा-शुल्क के अनुपात को दर्शाती है-

वर्ष	अनुपात	वर्ष	अनुपात	वर्ष	अनुपात
1792-93 से 1796-97	2.38	1817-18 से 1821-22	8.32	1842-43 1846-47	6.02
1797-98 से 1801-2	3.10	1822-23 से 1826-27	7.58	1847-48 से 1851-52	5.40
1802-3 से 1806-7	4.16	1827-28 से 1831-32	8.12	1852-53 से 1855-56	5.52
1807-8 से 1811-12	5.04	1832-33 से 1836-37	7.19	64 वर्ष का औसत	6.22
1812-13 से 1816-17	6.68	1837-38 से 1841-42	6.76		

हैंड्रिक्स, पृ. 286

दूसरी ओर नमक कर[1] मोतुर्फा[2] तथा अन्य शोशणकारी कर[3] गरीब मेहनतकशों को पीड़ित करते रहे। यह सच है कि स्थानीय शासन के तहत प्रचलित अनेक छोटे-मोटे करों को हटा लिया गया था, हालांकि उपलब्ध साक्ष्य बताते हैं कि इस तरह खोए गए राजस्व की पूर्ति भूमिकर जैसे जारी रहने वाले करों को बढ़ा कर की गई। बाद के आरोप को आधिकारिक तौर पर नकारा गया[4] लेकिन यह सच है कि गरीबों से उगाहे जाने वाले भूमि करों को ऐसे करों को समाप्त करने के साथ-साथ ही बढ़ाया और संघठित किया गया जिनसे सरकार को लाभ होने के बजाए घाटा ही हुआ।

2. विभिन्न कालों में नमक राजस्व का कुल राजस्व के साथ औसत निम्न था:-

वर्ष	औसत	वर्ष	औसत	वर्ष	औसत
1792-93 से 1796-97	14.13	1817-18 से 1821-22	11.25	1842-43 से 1846-47	11.65
1997-98 से 1801-2	12.10	1822-23 से 1826-27	11.87	1847-48 से 1851-52	9.14
1802-3 से 1806-7	11.09	1827-28 से 1831-32	12.03	1852-53 से 1855-56	9.17
1807-8 से 1811-12	11.14	1832-33 से 1836-37	9.72	64 वर्ष का औसत ब्यौरा	11.07
1812-13 से 1816-17	10.92	1837-38 से 1841-42	12.37		

1. हैंड्रिक्स, पृ. 283,

2. 1858 में मद्रास नेटिव एसोसिएशन द्वारा हाउस ऑफ कामन्स को दी गई याचिका में एक ऐसे कर के बारे में बताया गया है जो व्यापार और बुनकर, बढ़ई, धातुकारों, दुकानदारों एवं पटरी पर बेचने का पेशा करने वालों पर थोपा गया, कुछ अपने औजारों पर चुंगी देकर कुछ अन्य बेचने की अनुमति लेकर बेचने वालों, व्यापारियों की छोटी-मोटी वस्तुओं पर भी और कारीगरों द्वारा इस्तेमाल किए जाने वाले सस्ते औजारों पर जिसकी कीमतें मोतुर्फा द्वारा अक्सर 6 गुनी बढ़ा दी जाती हैं। रघुवैयंगर द्वारा अपनी पुस्तक "*प्रोग्रेस ऑफ मद्रास प्रेसीडेंसी*" में उद्धृत, 1893, पृष्ठ 113

3. अपनी पुस्तक "*जर्नी फ्राम मद्रास*" के दूसरे भाग में डॉ. फ्रांसिस बुकानन कहते हैं कि दक्षिण भारत में स्थित कोयम्बतूर के सतीमंगलम में बढ़िया कपड़े के दो टुकड़ों पर एक वीरराया फनम की 3/4+1/3 या 5-1/4 की नई स्टाम्प ड्यूटी (स्टाम्प शुल्क) लगाई गई थी और अन्य खुरदरे कपड़े के दो टुकड़ों पर एक वीरराया फनम की 3+3/4 या लगभग 2-3/4 की थी। परिणामस्वरूप बनुकरों ने पेशा छोड़ दिया और सामूहिक रूप से जिलाधीश के पास गए। प्रत्येक लूम पर लगने वाले 4 या 5 फनम वार्षिक के स्थान पर यह कर लगाया गया था। बुनकरों द्वारा यह अधिक माना गया (पेज 240)। वह यह भी कहते हैं- बुनकरों के 50 घरों वाले दोदारा पल्लयम में बुनकर नए स्टाम्प शुल्क को लेकर काफी परेशान हैं। उनका कहना है कि अब प्रत्येक लूम के उन्हें 20 फनम देने होंगे जबकि पहले वे 5 फनम ही देते थे, (वही) पृ. 242

4. *संसदीय लेख*, अंक 5, 1831, ईस्ट इंडिया कंपनी की कारगुजारी के साक्ष्य के सारांश, क्यू 3864-66

उपरोक्त कठोर राजस्व व्यवस्था के तहत जनता की कर भुगतान सामर्थ्य इतनी घट गई कि राजस्व प्राप्त करने के विभिन्न संसाधनों[1] के बावजूद साम्राज्यवादी सरकार अपना व्यय भार वहन करने में असमर्थ थी। यह सभी पूंजीदाताओं के लिए एक सबक है कि जब उनके राजस्व कानून जनता के संसाधनों को नुकसान पहुंचाने वाले हों तो उन्हें अपनी खाली तिजोरियों के लिए अपने अलावा अन्य किसी को दोषी नहीं ठहराना चाहिए।

---

1. लगाए गए करों का ब्यौरा निम्न है–

राजस्व के स्रोत	प्राप्त राजस्व मिलियन में	अवधि वर्षों की संख्या	तिथियां	स्थान और आरंभ होने की तिथि
भूमि राजस्व	662.308	64	1792.93 से 1855.56	बंगाल, बंबई और मद्रास में पूरी अवधि के दौरान उत्तर पश्चिमी प्रांतों में 1834–35 से और पंजाब में 1849–50
शकर और आबकारी	9.729	20	1836.37 से	बंगाल प्रांत, मद्रास और बंबई में पूरी अवधि के दौरान और पंजाब में
उत्पाद शुल्क	4.987	20	1855.56	1849.50 से
मोतुर्फा	6.455	20	,,	केवल बंगाल के खाते
नमक	135.532	64	1792.93 से 1855.56	केवल बंगाल के खाते 1792 से बंगाल, 1822 से मद्रास, 1822 से बंबई, 1839 से उत्तर पश्चिमी प्रांत
अफीम	106.707	64	,,	बंगाल में 1792 से बंबई में 1820 से
डाकघर	8.888	64	,,	बंगाल में 1797 से बंबई में 1813 से
स्टाम्प	16.697	59	1797–98 से 1855.56	बंगाल में 1797 से बंबई में 1813 से 1819 से उत्तरी पश्चिमी प्रांत में
कस्टम ड्यूटी आंतरिक 1. परिवहन 2. शहरी	76.179	64	1792.93 से 1855–56	1834 से पंजाब में 1849 से 1972 से बंगाल, मद्रास और बंबई 1813 से उत्तरी पश्चिमी प्रांत, 1849–50 मद्रास से 1836 से पंजाब
बाह्य 1. आयात 2. निर्यात				
टकसाल				जैसा कि भूमि कर राजस्व के अधीन
राजस्व	3.221	64		लगाया गया है।
तंबाकू	1.437	18	1836.37 से 1853.54	
विविध	194.777	64	1792.93 से 1855–56	

इन कठोर करों से देश की उत्पादक क्षमताओं पर पड़ने वाले प्रभाव के बारे में अनुमान लगाए बिना क्या इन करों द्वारा उगाही गई राशि उन जन सुविधाओं पर खर्च की गई जिन्हें कर दाताओं के आर्थिक जीवन को समृद्ध बनाने वाला समझा गया था? विभिन्न सेवाओं पर दशकों में किए जाने वाले खर्चों के विभाजन को दर्शाने वाली निम्नलिखित सारणी पर दृष्टिपात करने से स्पष्ट हो जाएगा कि पूंजी किस तरह खर्च की गई है : –

खर्चों का वितरण

	कुल खर्च का औसत प्रतिशत वर्ष में					
	1809–10	1819–20	1829–30	1839–40	1849–50	1857
सेना	58.877	64.290	53.754	58.721	51.662	45.55
ऋणों पर ब्याज	18.010	12.805	12.124	9.756	10.512	7.19
नागरिक एवं राजनीतिक	7.221	8.900	9.575	12.296	8.902	9.62
न्यायिक	7.525	6.800	7.107	9.565	7.180	
प्रांतीय पुलिस	1.991	2.093	1.535	2.062	2.062	9.38
भवन, किले इत्यादि	1.639	1.756	2.810	1.428	1.661	

कर्नल साइक्स द्वारा लिखित *''पास्ट, प्रजेंट एंड प्रोस्पेक्टिव फाइनेंसियल कंडीशन ऑफ ब्रिटिश इंडिया–जर्नल ऑफ द रायल स्टैटिस्टीकल सोसायटी''*, 1859, अंक 22, पृष्ठ संख्या 457

इन आंकड़ों में प्रमुख सेना पर हुए खर्चों के आंकड़े हैं और यद्यपि कुल वर्षों के दौरान इनमें कमी आई है, लेकिन फिर भी उन्होंने देश के कुल राजस्व का आधे से भी अधिक भाग का उपयोग किया है। लेकिन सेना की तुलना में अन्य मदों पर हुए भारी खर्च आंकड़े वास्तविक खर्चे के भार को नहीं दर्शाते हैं। उनमें ऋण पर ब्याज के आंकड़ों को सम्मिलित किया जाना चाहिए क्योंकि जो ऋण लिया गया था वह युद्ध के लिए लिया गया ऋण था। इस अवधि के दौरान भारत ईस्ट इंडिया कंपनी तथा देशी शक्तियों के बीच युद्ध का मैदान बन चुका था। दो मराठा युद्ध, तीन मैसूर युद्ध, बर्मा के साथ दो बार युद्ध, दो अफगान युद्ध और कर्नाटक युद्धों के अतिरिक्त अनेक छोटी लड़ाईयां भारत को ईस्ट इंडिया कंपनी और ब्रिटिश साम्राज्य के राज्यों में मिलाने की नीयत से लड़ी गई। संसद का यह दावा था कि ईस्ट इंडिया कंपनी के राज्य ब्रिटिश साम्राज्य के ही राज्य थे, लेकिन यह याद रखना चाहिए कि इसने खरीद मूल्य के एक पैसे का भी भुगतान नहीं किया। दूसरी ओर इन लड़ाइयों का पूरा खर्च भारत को वहन करना पड़ा। जिससे उसके नगण्य स्रोतों पर और अधिक ऋण भार पड़ गया। भवनों तथा किलों के मद पर दिखाई गई राशि भी सेना पर हुए खर्चों में ही जोड़ी जानी चाहिए, क्योंकि यह उसी का भाग थी। इन जरूरी खर्चों को जोड़ने पर हम पाते हैं कि यह देश अपनी बहुमूल्य अल्प राशि का 52 से 80 फीसदी भाग युद्ध सेवाओं पर बर्बाद कर रहा था। दूसरी ओर संभवतः यह तर्क दिया जा सकता है कि सेना पर हुए खर्चों का एक बड़ा भाग स्वयं भारतीयों के

खजानों में गया क्योंकि देश की सेना में भारतीयस जवान सेना का बड़ा भाग थे।[1] और यदि यूरोपीय तथा भारतीय सैनिकों के वेतनमान समान होते तो भारतीय सैनिकों को अवश्य लाभ मिलता यद्यपि इतने अध्कि सैनिक व्यय का कोई औचित्य नहीं था, लेकिन यूरोपीय तथा भारतीय सैनिकों के वेतनमान इतने असमान[2] थे कि यूरोपीय तथा भारतीय सैनिकों के औसतन चार भारतीय सैनिकों के बराबर वेतन मिलता था। अतः चाहे जन उपयोगिता की दृष्टि से देखें अथवा निजी रोजगार की दृष्टि से, इस खर्चे ने राज्य को राजस्व देने वाली जनता को कोई लाभ नहीं पहुंचाया।

ऐसा नहीं कहा जा सकता कि राजस्व के 10 फीसदी की खपत करने वाले नागरिक तथा राजनीतिक खर्चे से आर्थिक क्षति की भरपाई हो सकती हो। यह खर्चे भी भारतीय जनसंख्या पर नहीं किया गया था, जिसे इसका भार वहन करना पड़ा। विजय के परिणामस्वरूप भारतीय नागरिकों को दूसरे दर्जे का माना जाने लगा, लेकिन विजय ने भारतीयों के दर्जे को प्रभावित करने से कहीं अधिक उन्हें नुकसान पहुंचाया। इसने अंग्रेजों

1. यह निम्न आंकड़ों से जाना जा सकता है :–

(सैनिक विद्रोह से पूर्व भारतीय सेना की शक्ति (संख्या)

	यूरोपीय	भारतीय	कुल योग
आर्टीलरी	6419	9138	15577
सैपर्स	110	3043	3153
कैवलरी	3456	30533	32989
इन्फ्रैंट्री	29760	188660	218420
कुल योग	38745	231374	270119

भारतीय सेना के पुनर्गठन पर मेजर जनरल हैनकाक की रिपोर्ट, 1859 का संसदीय परचा, पृष्ठ 21

2. यह निम्नलिख्ति सारणी से स्पष्ट है :– इन्फ्रेंट्री रेजिमेंट का मासिक व्यय

यूरोपीय सैनिक		
अधिकारी रुपये आना पाई	विवरण रुपये आना पाई	कुल योग
37 अधिकारी	14734–14–3	21779–2–7
प्रतिष्ठान और कर्मचारी	4515–12–4	
कमांड तथा अन्य भत्ते	2528–8–0	
जवान		
117 एन.सी.ओ.	2289–4–5	
950 निजी सैनिक	11203–8–4	25999–8–0
राशन कपड़ा, तथा अन्य खर्चे	12506–11–3	....
कुल योग		47778–10–7

के दिमाग में भारतीयों के लिए अविश्वास का बीज बो दिया। इस तरह पराजित और अविश्वास के पात्र भारतीयों को ब्रिटिश शासन के आरंभकाल से ही देश की उच्च प्रशासनिक नियुक्तियों से वंचित ही रखा गया।[1] (सारणी पृ. 86) इस अन्याय को दूर करने के उद्देश्य से ही संसद ने 1833 के कानून द्वारा यह प्रावधान किया– कि न तो तथाकथित सीमा क्षेत्रों के निवासी और न ही वहां रहने वाली ब्रिटिश सम्राट की प्रजा को मात्र धर्म, जन्म, स्थान, रंग अथवा इनमें से किसी भी आधार पर कथित कंपनी के तहत रोजगार, अथवा पद ग्रहण करने से वंचित नहीं किया जाएगा।'' (धा. 87)

भारतीय सैनिक

अधिकारी	विवरण रुपये आना पाई	कुल योग रुपये आना पाई
अधिकारी		
26 यूरोपीय	986–2–1	
20 भारतीय	940–0–0	
प्रतिष्ठान व कर्मचारी	1,209–1–4	13,527–8–7
कमांड तथा अन्य भत्ते	1,517–5–2	
जवान		
140 एन.सी.ओ.	1,780–0–0	
		9,06–4–0
1,000 सिपाही	7,000–0–0	
खर्चे	826–14–0	
कुल योग		23,134–6–7

इस सारणी से यह स्पष्ट है कि भारतीय मद के तहत दिखाए गए 26 यूरोपीय अधिकारियों के वेतन और कमांड तथा अन्य भत्ते जिनकी कुल राशि 11,378–7–3 रुपये है घटा दी जाए, तो हम पाएंगे कि 1105 यूरोपीय को 47,778–10–7 रुपये वेतन मिलता था जबकि 1,160 भारतीयों को 11,755–15–4 रुपये ही मिलते थे।

लेकिन वास्तविकता यह है कि सैनिक विद्रोह के बाद तक किसी भी भारतीय को ऊंचे पद पर नियुक्त नहीं किया गया था, केवल उन पदों को छोड़कर जिनके लिए इस कानून के पारित होने के पहले तक वे सक्षम थे, क्योंकि निदेशक मंडल (कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स) ने इस कानून की व्याख्या करके भारत सरकार को आरंभ से ही सलाह दे दी थी।

''व्यावहारिक तौर पर..............किसी प्रकार का विशेष अंतर नहीं पड़ेगा। अनुबंधित सेवा के लिए आबंटित स्थितियों और सरकारी प्रकृति की अन्य सभी स्थितियों में

1. 1833 के पूर्व लागू कम वेतनमान पर उन्हें नौकरी दिए जाने का ब्यौरा निम्न आंकड़ों में है :–

तीन प्रेसीडेंसियों के सचिवालयों में सेवार्थ प्रथम श्रेणी के भारतीय नौकरशाहों का प्रतिमाह का वेतन	बंगाल		मद्रास		बंबई		कुल योग	
	संख्या	कुल प्राप्त वेतन	संख्या	कुल प्राप्त वेतन	संख्या	कुल प्राप्त वेतन	संख्या	कुल प्राप्त वेतन
500 रुपये और उससे अधिक	5	2,700	–	–	5	2,500		
400 रुपये और उससे अधिक	2	800	–	–	1	400		
तीन सौ पचास रुपये और उससे अधिक	4	1,400	1	350	1	350		
300 रुपये और उससे अधिक	3	900	–	–	2	600		
250 रुपये और उससे अधिक	5	1,250	–	–	1	250	89	20,690
250 से 200	17	3,460	5	1,155	1	200		
200 से 150	10	1,590	4	682½	–	–		
100 से 150	5	550	5	525	5	330		
100 से कम	6	470	1	87	2	140		
	57	13,120	16	2,800	16	4,770		

अंतर सामान्यत: वर्तमान जैसा ही रहेगा।''[1]

उगाहे गए कुल राजस्व का लगभग दस प्रतिशत भाग न्यायिक और पुलिस खर्चों पर व्यय होता था जिसे केवल सुरक्षात्मक कह सकते हैं। इस प्रकार कष्टदायी करों द्वारा उगाही गई राशि का अधिकांश भाग अनुत्पादक तरीकों से खर्च किया गया। युद्ध की एजेंसियों की शांति स्थापना के नाम पर घोषणा की जाती थी और इन एजेंसियों ने कुल निधियों के बड़े भाग का उपभोग कर लिया। विकास के लिए बनी एजेंसियों के लिए वस्तुत: कुछ भी शेष नहीं बचा। शिक्षा पर कुछ भी व्यय नहीं किया गया और उपयोगी लोक निर्माण कार्यों पर भी बहुत कम खर्च किया गया। साम्राज्यवादी अथवा केन्द्रीय बजट से लंबी अवधि तक रेलवे, सिंचाई अथवा समुद्री परिवहन के लिए नहरों की खुदाई तथा व्यापार एवं उद्योग के विकास से जुड़े अन्य कार्यों के लिए कोई स्थान नहीं था। 8,37,000 वर्ग मील के कुल क्षेत्र में से मात्र कुछ मील तक ही रेलवे लाइन बिछाई गई थी। 2,157 मील क्षेत्र में ही सड़क निर्माण हुआ था। केवल 580 मील तक ही समुद्री रास्ता तैयार किया गया था और मात्र 80 मील तक ही तार सुविधा उपलब्ध थी। अथवा यदि खर्च की गई राशि के संदर्भ में बात करें तो हम पाते हैं कि 1837-38 से 1851-52 तक के 15 वर्षों की अवधि के दौरान उत्पादक व्यय कुल 299,732 पौंड वार्षिक रहा।[2] किसानों को यह सिद्धांत भलीभांति पता है कि खाद के अभाव में लगातार खेती करने से मिट्टी की ताकत नष्ट हो जाती है। यद्यपि इसके व्यापक उपयोग हो सकते हैं और

1. *डिस्पैच टू बंगाल,* नं. 44 दिनांक 10, 1834, पैरा 107

*. तीन प्रेसीडेंसियों के देशी संस्थानों के विषय में नागरिक वित्त समिति (सिविल फायनेंस कमेटी) की रपट, बंगाल फायनेंसियल कन्सलटेशन्स, अप्रैल 13, 1830, इंडिया ऑफिस रिकार्ड। विभिन्न प्रांतों में अधीनस्थ संस्थानों में कार्यरत ईसाई और देशी कर्मचारियों को कमेटी (समिति) ने चार श्रेणियों में विभक्त किया था यथा (1) हैडक्लर्क, रजिस्ट्रार, मैनेजर और उनके सहायक, एक्जामिनर, पूंजी निवेशक, आदि जो कार्यालय के कार्य संचालन निर्देशन के उत्तरदायी सचिवों के अधीन थे (2) चालू व्यापार लेखक (मुनीम), नकल नवीस (3) ठेके पर कार्य करने वाले नकल नवीस (4) सभी छोटे-मोटे कर्मचारी। समिति ने यह महसूस किया:

पैरा 35: चालू व्यापार लेखक (मुनीम) को कलकत्ता में जो वेतन मिलता है उसमें 20 से 30 रुपये प्रतिमाह का अंतर है। जबकि एक व्यक्ति का औसत 104 रुपये आता है। बंबई में 15 से 120 रुपये, मद्रास में 48 रुपये का औसत आता है, जबकि उस प्रेसीडेंसी के सचिवालय में एक नौकर का औसतन वेतन साढ़े सत्ताईस रुपया है। जबकि 10½ रुपये से लेकर 87½ रुपये तक विभिन्न दरों पर भुगतान का प्रचलन है। जोकि व्यक्ति की सेवा अवधि और उपयोगिता पर आधारित है।

* बंगाल के सचिवालय कार्यालय में एक सैंक्शनर को 750 शब्दों के लेखन पर एक रुपया, जबकि अन्य दो प्रांतों में 1333 शब्दों के लिए रुपया दिया जाता है।

पैरा 51 : बंगाल सचिवालय में एक कर्मचारी को 1142 रुपये प्रतिमाह, मद्रास में ''मोची'' (जूता बनाने वाले) सहित 455 रुपये और बंबई में 261 रुपये दिए जाते हैं। बंगाल में 186, मद्रास में 56 और बंबई में 42 कर्मचारी थे।

2. *ब्रिटिश भारत से संबंधित सांख्यिकीय विवरण* : थार्नटन द्वारा संपादित, 1853।

यदि भारत की राज्य अर्थव्यवस्था में इसका पालन किया जाता तो देश की कर देने की क्षमता बढ़ जाती जिसका फायदा सरकारी कोष के साथ-साथ आम जनता को भी होता। दुर्भाग्यवश भारत के पूंजीपतियों को यह बात समझ में नहीं आई जिसकी हानि दोनों को ही भुगतनी पड़ी।

लेकिन यदि दीर्घकालिक घाटे को पूरा करने के लिए न्यायसंगत कर प्रणाली के स्रोत बढ़ाए जाते और उत्पादक खर्चों को विनियमित किया जाता तो भी खर्चों में कटौती अथवा मितव्ययता बरतने का मार्ग मिल जाता। जैसा कि सोचा गया था 1833 में स्थापित सरकार की तरह एक शक्तिशाली केन्द्रीय सरकार स्थापित हो जाती तो जहां कहीं भी संभव होता यह लाई जा सकती थी। वास्तविकता यह थी कि बहुत कमजोर किस्म का केन्द्रीयकरण किया गया। वैधानिक स्तर पर तो साम्राज्यवादी प्रशासन व्यवस्था थी लेकिन वास्तव में प्रशासन इस तरह से किया जाता था मानों कार्यकारी शासन की प्राइमरी इकाइयां प्रांत हों और भारत सरकार इनके बीच सामंजस्य स्थापित करने वाला प्राधिकरण हो। यह अनेक प्रकार की परिस्थितियों से स्पष्ट था। यह सच है कि विधान निर्माण संबंधी कार्य भारत सरकार में केंद्रित था, तथापि भारत सरकार द्वारा कानून विभिन्न प्रांतों के लिए अलग-अलग पारित किए जाते थे मानों कानून निर्माण संबंधी पहल भी प्रांतों के पास ही हो और भारत सरकार मात्र अनुमति प्रदान करने वाली शक्ति हो। अपनी सार्वभौम सत्ता को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए प्रत्येक प्रांत के अपने आंतरिक तथा बाह्य रीतिरिवाज थे। प्रत्येक प्रांत के पास अपनी सेना होती थी। प्रांतों की वित्तीय स्वतंत्रता की भावनाओं को बरकरार रखने के उद्देश्य से केन्द्रीकरण के बावजूद लेखा पद्धति प्रांतीय ही बनी रही। राजस्व एकत्रित करने तथा प्रशासकीय कार्य भी प्रांतों के जिम्मेदार होने के कारण वे ऐसा व्यवहार करते थे जैसे कि कानूनी रूप से शासन की जिम्मेदारी उन्हीं के कंधों पर हो। स्वतंत्र अस्तित्व बनाए रखने की इस भावना ने विद्रोह को जन्म दिया और खास कर बंबई तथा मद्रास सरीखे प्रांतों ने तो सैनिक विद्रोह को कुचलने के प्रयासों का विरोध तक कर डाला। स्मरणीय है कि 1833 के कानून ने वैधानिक और प्रशासनिक जिम्मेदारियों के बीच खाई बना दी। कानूनी तौर से प्रशासन की जिम्मेदारी केन्द्र (साम्राज्यवादी) सरकार पर थी लेकिन वह देश का प्रशासन नहीं चलाती थी। देश का प्रशासन प्रांतीय सरकारें चलाती थीं। लेकिन कानूनी तौर से उनकी कोई जिम्मेदारी नहीं थी।

इस खाई से देश के वित्त की मितव्ययता पर भारी विपरीत प्रभाव पड़ा जौसा कि लाजिमी था। फिजूलखर्ची एक व्यावहारिक नियम-सा बन गया और यह साम्राज्यवादी व्यवस्था का अंतरंग हिस्सा था। मितव्ययता जिम्मेदारी से पैदा होती है और जिम्मेदारी वहां हासिल की जाती है जहां खर्चों को वहन करने की इच्छा रखने वाली सरकार स्रोतों को ढूंढ निकालने में भी निपुण हो। साम्राज्यवादी व्यवस्था लागू होने से पहले

बजट में शामिल खर्चों के लिए पूंजी उगाहने की जिम्मेदारी प्रांतीय सरकारों पर थी। फलस्वरूप उन्हें मितव्ययी होना ही पड़ता था। लेकिन साम्राज्यवादी व्यवस्था के तहत, विभिन्न सेवाओं के लिए बजट तो प्रांतीय सरकारें बनाती थीं, खर्चों से निपटने के उपाय निकालने की जिम्मेदारी भारत सरकार पर थी। पहली व्यवस्था के तहत तो प्रांतीय सरकारों को खर्चे की सीमा का ज्ञान था लेकिन साम्राज्यवादी व्यवस्था के तहत... ''उनके पास यह जानने के उपाय नहीं थे कि भारत सरकार से उन्हें कुल कितनी राशि मिल सकती है। गहराई की जानकारी न होने के कारण वे अनियंत्रित खर्च में लिप्त थे। हर तरह उन्हें सुधार व बेहतरी की आवश्यकता दिखाई दी और उनकी लगातार यह वाजिब इच्छा रही कि साम्राज्य के सामान्य राजस्व में से अधिक से अधिक हिस्सा अपने प्रांतों को दिलवाने के लिए भारत सरकार को राजी करवा लें। अपने अनुभवों से वे जानते थे जितनी कम कटौती वे करेंगे और जितनी अधिक उनकी मांग होगी उतना ही अधिक वे अपनी जरूरतों की पूर्ति के लिए भारत सरकार को मना लेंगे। उन्होंने महसूस किया कि इन जरूरतों को पेश करने के लिए उन्होंने जो कुछ किया वह ठीक था और आवश्यक उपाय करने से मना करने की जिम्मेदारी उन्होंने भारत सरकार पर छोड़ दी।''[1]

प्राय: भारत सरकार को इन अनाप-शनाप मांगों के दबाव में झुकना पड़ता था क्योंकि लंबे समय तक उसके पास वह व्यवस्था (मशीनरी) नहीं थी जिससे मांगों तथा उन पर होने वाले खर्चों पर नियंत्रण की जानकारी ली जा सके। साम्राज्यवादी प्रशासनिक व्यवस्था से बहुत अधिक कार्यकुशलता की आशा करना सामान्य बात नहीं है और ऐसे में तो बिल्कुल भी नहीं जब इसकी जिम्मेदारी एक विभाग अथवा प्रांत तक सीमित न होकर पूरे महाद्वीप के बराबर देश की प्रशासनिक व्यवस्था संभालने की हो। केवल विशाल होने के कारण ही यह चलने में धीमा है। यदि यह व्यवस्था भारतीय व्यवस्था के समान असंगठित होती तो इसकी रफ्तार और भी धीमी होती। सर्वप्रथम, भारत में केन्द्रीय व्यवस्था अपने नियंत्रण करने वाले हिस्से–कार्यकारिणी–के बिना कार्य कर रही थी। इसका निर्माण करने वाले कानून ने भारत सरकार और बंगाल सरकार को एक करके भारी भूल की होगी। इस विलय के बाद सरकारी तंत्र पर दबाव बढ़ गए। बंगाल सरकार की हैसियत से कार्यों को निपटाने के बाद इतना समय ही नहीं बचता था कि यह भारत सरकार के रूप में अपने कार्यों का निर्वाह कर सके। दोनों सरकारों की न केवल कार्यकारिणी ही एक थी बल्कि दोनों सरकारों के कार्यों की देखरेख के लिए सचिवालय भी एक ही था। कार्यों के बोझ से पहले से ही दबे सचिवालय की 1843 तक देश के वित्त का प्रबंध कर रहे विशेष अधिकारी के अभाव में कार्यकुशलता बहुत कम हो गई।

1. द *एडमिनिस्ट्रेशन ऑफ द अर्ल ऑफ मेयो: एज वायसराय एंड गवर्नर जनरल ऑफ इंडिया*–भूतपूर्व गवर्नर जनरल और परिषद् के सदस्य जान स्ट्रेची द्वारा कार्यवाही के अंश, दिनांक 30 अप्रैल 1872, राजकीय मुद्रण अधीक्षक का कलकत्ता स्थित कार्यालय, 1872, पृष्ठ 46।

1843 में भारत के तत्कालीन वायसराय लार्ड एलनबरो ने बंगाल सरकार के सचिवालय को भारत सरकार[1] के सचिवालय से अलग कर दिया तथा इसे वित्त सचिव के नाम से एक अलग कार्यालय से संलग्न कर दिया।[2] इस कार्यालय का काम केवल वित्त विभाग से ही सम्बद्ध था। लेकिन जबकि वित्त सचिव की नियुक्ति ने जांच अधिकारी की आवश्यकता पूरी कर दी फिर भी विनियोग बजट तथा लेखा परीक्षा एवं लेखाओं की केन्द्रीय व्यवस्था के अभाव में वित्त सचिव के लिए खर्चों में कटौती कर पाना संभव नहीं हो सका। केन्द्रीय वित्त व्यवस्था की स्थापना के बावजूद लेखा परीक्षा एवं लेखा विभाग के अधिकारी विभिन्न प्रांतों के सचिवालयों से ही सम्बद्ध रहे। वे सर्वोच्च सरकार के प्रति जवाबदेह नहीं थे जबकि कानून भारत के राजस्व के प्रबंध और आदेश की जिम्मेदारी सर्वोच्च सरकार पर ही थी। प्रांतीय सचिवालय से संलग्न होने के कारण लेखा एवं लेखा परीक्षा संबंधी आदेश भारत सरकार को संबंधित प्रांतीय सरकार के अनुसार एवं उसी के माध्यम से जारी करने पड़ते थे। दूसरी ओर, यद्यपि बजट की व्यवस्था, व्यापारिक खातों यानी रिकॉर्डों के लिए तो अच्छी थी लेकिन सभी अच्छे राज्य खातों, यानी जांच पड़ताल के सर्वप्रथम एवं प्रारंभिक उद्देश्य के लिए बेकार थी। वास्तव में देश के वित्तीय प्रशासन के उद्देश्य से तीन अनुमान (खाका, स्थाई और बजट) तैयार किए गए थे जिनमें विभिन्न सेवाओं में से प्रत्येक के लिए आवश्यक धन राशि का लेखा–जोखा दिखाया गया था। लेकिन विभिन्न सेवाओं पर सार्वजनिक धन का यह आबंटन विनियोग नहीं माना गया। इसे रोकड़ आवश्यकताएं ही माना गया। इस वास्तविकता के कारण कभी भी अनुदान ठीक ढंग से नहीं तैयार किए गए, और न ही उन पर लगाई गई सीमा का व्यवहार में अनुसरण किया गया चूंकि प्रत्येक सेवा के लिए विशिष्ट स्वीकृति का कोई बजट नहीं था। लेखा परीक्षा एवं लेखा विभाग ने स्वयं को सरकारी कोष में आने वाली और खर्च होने वाली राशि के हिसाब–किताब तक ही सीमित कर लिया था। यह स्पष्ट है कि विनियोग बजट के अभाव में सभी राज्यों के लेखा परीक्षा तथा लेखा विभाग का खर्च करने वाली शक्तियों द्वारा स्वीकृत राशि के भीतर ही खर्च करने की जांच करने का मुख्य उद्देश्य पूरा नही हो सका। अत्यधिक मांग करने के साथ–साथ प्रांतीय सरकारें खर्चे के मामले में भी गैर–जिम्मेदार थीं। जब तक भारत सरकार के पास विनियोग बजट और लेखा–परीक्षा तथा लेखा–विभाग की केन्द्रीय व्यवस्था नहीं थी तब तक वित्त नियंत्रण के मामले में इसकी शक्ति नाममात्र की ही थी, और कानूनी रूप से वित्तीय मामलों में कमजोर स्थिति हासिल होने के बावजूद वास्तव में प्रांत सबसे शक्तिशाली थे। प्रांतीय सरकारों की वित्तीय गैर–जिम्मेदारी और केन्द्रीय

1. भारत सरकार का प्रस्ताव, गृह विभाग, 29 अप्रैल, 1843
2. भारत सरकार का प्रस्ताव, 4 जनवरी, 1843

सरकार की अकर्मण्यता के चलते प्रांतीय सरकारों की खर्चीली आदतों को रोकने में असमर्थ केन्द्र सरकार की स्थिति के साथ-साथ वित्तीय मामलों में भारत सरकार की कार्यकारिणी परिषद् द्वारा बरती गई उदासीनता भी कम जिम्मेदार नहीं थी। यह सच था कि कार्यकारिणी परिषद् की विशिष्ट अनुमति के बिना भारत सरकार के राजस्व में से कुछ भी खर्च नहीं किया जा सकता था लेकिन ऐसा नहीं लगता कि परिषद् ने अपनी गतिविधियों के द्वारा खर्चों में मितव्ययता लाने के कोई विशेष प्रयास किए। परिषद् सामूहिक रूप से कार्य करती थी, और इसके सदस्यों के बीच किसी तरह का कार्य आबंटन नहीं था। युद्ध एवं विधेयक विभाग को छोड़कर बाकी सभी सरकारी काम गवर्नर जनरल तथा उनके काउन्सलर्स (पार्षदों) के समक्ष पेश किए जाते थे। सामूहिक कार्यशैली के परिणामस्वरूप :

> ''वास्तव में प्रत्येक विवाद महागनी की लकड़ी से बने छोटे बक्सों में रख कर एक पार्षद के घर से धीमी रफ्तार से दूसरे पार्षद के घर पहुंचता हुआ प्रत्येक पार्षद के हाथों से गुजरता था।''[1]

इन परिस्थितियों में खर्चों में मितव्ययता बरतने के लिए कोई भी वित्त मंत्री (चांसलर ऑफ एक्सचेकर) नहीं था हालांकि सभी स्वयं को खजाने का मालिक ही समझते थे। परिणामस्वरूप वित्त मंत्री सभी की जिम्मेदारी बन जाने की वजह से किसी की भी जिम्मेदारी नहीं बन पाया। इसका परिणाम यह हुआ कि निधियों का आबंटन सेवाओं की वास्तविक आवश्यकताओं के हिसाब से नहीं हो पाया बल्कि जरूरतों को लेकर शोर मचाने के हिसाब से करना पड़ा।

यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त साक्ष्य प्रस्तुत किए जा चुके हैं कि साम्राज्यवादी व्यवस्था की असफलता एक दोषपूर्ण वित्तीय व्यवस्था के कारण थी जिसमें कठोर कर प्रणाली और फालतू तथा अव्यवहारिक, अनियमित खर्चे निहित थे। हालांकि ऐसा नहीं माना जाना चाहिए कि यह दोषपूर्ण वित्तीय नीति साम्राज्यवादी व्यवस्था के लागू होने के साथ ही शुरू हो गई थी। दूसरी ओर यह पुरानी धरोहर थी जो साम्राज्यवादी व्यवस्था को विरासत में मिली थी। फिर भी यह स्पष्ट है कि वित्तीय नीति की सामयिक समीक्षा और केन्द्रीय नियंत्रण की मजबूती ने साम्राज्यवादी (केन्द्रीय) व्यवस्था के आधार को अधिक मजबूत बनाया होता। लेकिन इस का लंबी अवधि तक चलना इसके वित्तीय आधार के लिए घातक सिद्ध हुआ और चूंकि बढ़ते खर्चों की पूर्ति के लिए यह उन लोगों से जिनकी दरिद्रता इतने दूर की थी, और अधिक पैसा नहीं उगाह सकी तो साम्राज्यवादी व्यवस्था सैनिक विद्रोह के सामने चरमरा उठी, और दोबारा अपनी मूल स्थिति में नहीं लौट पाई।

---

1. डब्ल्यू डब्ल्यू हंटर, *लाइफ ऑफ मेयो,* खंड-1, पृ. 190

2

साम्राज्यवाद बनाम संघवाद

सन् 1857 के सैनिक विद्रोह (गदर) के फलस्वरूप खस्ताहाल केन्द्रीय वित्त व्यवस्था की स्थिति इतनी अधिक बिगड़ गई कि आगामी दशक के दौरान जिम्मेदार सरकारी अधिकारियों के समक्ष जर्जर होती व्यवस्था को पुनर्वासित करने से बड़ी कोई अन्य समस्या नहीं थी। हालांकि अपनाए जाने वाले सही तरीके को लेकर लंबा विवाद चला लेकिन व्यवस्था के धराशायी होने के कारण इतने स्पष्ट थे कि भारतीय वित्त से संबंधित सभी पक्ष जर्जरप्राय व्यवस्था के एकमात्र सर्वोच्च दोष पर सहमत थे और यह दोष था व्यवस्था द्वारा प्रांतीय सरकारों को मनमाना खर्च करने के लिए उत्साहित करना। इस दोष को दूर करने के लिए एक स्तर पर कुछ जिम्मेदार अधिकारियों द्वारा कोशिश की गई थी:–

> ''भारतीय वित्त की मिश्रित पूंजी में स्थानीय सरकारों की हिस्सेदारी बनाने और इस प्रकार भारत सरकार में उनकी रुचि और सहयोग पैदा करने के बजाए उन्हें ऐसा एजेंट तथा कर्मचारी बनाया जाए जिनमें व्यय में कटौती करने की अभिलाषा न हो तथा जो अपने मालिकों के स्रोतों का सहारा लेकर दूसरों को दिए गए फिजूलखर्ची के अधिकारों से तुलना करते हुए अपनी मांगों को लगातार बढ़ाने के बारे में ही सोचते रहें।[1]''

इस विचार ने धीरे-धीरे प्रांतों को अलग और संप्रभु राज्यों में परिवर्तित करके एकीकृत भारत को भारत के एकीकृत राज्यों[2] में परिवर्तित करने के सामूहिक विचार का रूप ले लिया। इसका उद्देश्य साम्राज्यवादी व्यवस्था के स्थान पर संघीय व्यवस्था स्थापित करना तथा भारत में केन्द्रीय सत्ता की वित्तीय स्थिति को एकीकृत राज्यों की

---

1. स्थानीय सरकारों की वित्तीय शक्तियों के विस्तार पर मुख्य सेनानायक महामहिम सर डब्ल्यू. आर. मेसफील्ड द्वारा नोट किए गए क्रियाकलापों के अंश दिनांक 17 अक्तूबर, 1867, पृष्ठ 99-103
2. *जे.एफ. फिनलेज हिस्टरी ऑफ प्रोविंशियल फाइनेंसिंग अरेंजमेंट* में कर्नल आर. स्ट्रेची की दिनांक 17 अगस्त 1867 की टिप्पणी। लिस्ट ऑफ एक्सट्रेक्टस, पृष्ठ 3

केन्द्रीय शक्ति के साथ मिलाना था। संघीय योजना के क्रियान्वयन के लिए प्रार्थना की गई कि भारत के राजस्व को साम्राज्यवादी कोष में जमा करवा कर विभिन्न प्रांतीय सरकारों को बांटी जाने वाली एकमुश्त राशि नहीं समझा जाना चाहिए। योजना के अनुसार, प्रत्येक प्रांत को अपने राजस्व को स्वयं रखने और उनसे अपने खर्चों की पूर्ति करने का अधिकार प्राप्त होना था। केन्द्र सरकार को अपने अलग स्रोत रखने का प्रावधान था, और जरूरत पड़ने पर किसी समान स्तर पर आधारित केन्द्र सरकार के व्यय में प्रांतों के हिस्से के रूप में प्रांतों से सहयोग राशि भी ली जा सकती थी। इस तरह संघीय योजना के तहत साम्राज्यवादी और प्रांतीय औपचारिक विभाजन वाले एकीकृत साम्राज्यवादी बजट को सेवाओं और राजस्व आबंटन के वास्तविक विभाजन पर आधारित अलग-अलग केन्द्रीय तथा प्रांतीय बजटों से प्रतिस्थापित करना था।

संघीय योजना के पक्ष में अनेक लाभ गिनवाए गए। सर्वप्रथम यह विश्वास जाहिर किया गया कि राजस्व तथा सेवाओं का पृथकीकरण केन्द्रीय तथा प्रांतीय सरकारों के तौर तरीकों को स्पष्ट रूप से परिभाषित करेगा ताकि प्रत्येक सरकार आबंटित निधियों की सीमाओं के भीतर ही अपने क्रियाकलापों के प्रशासन के लिए जिम्मेदार रहेगी। इसके बाद से प्रांतीय सरकारों को अपनी आमदनी और खर्च का अनुमान अलग-अलग भेजना होगा, और उन्हें समायोजित करने का काम सर्वोच्च सरकार द्वारा इसे भेजे गए विभिन्न प्रांतीय अनुमानों के औसत के आधार पर किया जाएगा। संघीय योजना के तहत प्रांतीय अनुमानों की आय और व्यय का समायोजित हिसाब-किताब होता था। यद्यपि यह प्राथमिक था फिर भी संघीय योजना के पक्षधर केवल इसे ही योजना का फायदा नहीं मानते थे क्योंकि इसका फायदा न केवल स्थानीय सरकारों द्वारा निकाली जाने वाली निधियों को नियंत्रित करके उनकी फिजूलखर्ची पर अंकुश लगाने का कदम था, बल्कि साथ ही केन्द्र सरकार की फिजूलखर्ची पर भी लगाम लगाने का कदम था। संघीय व्यवस्था पक्षधरों ने यह सत्य कभी नहीं छिपाया कि संपूर्ण भारत के कुल स्रोतों को दुहने का अधिकार रखने वाली केन्द्र सरकार भी फिजूलखर्ची करने से नहीं कतराती थी। अतः उन्होंने सोचा कि राजस्व और सेवाओं का बंटवारा करने वाली संघीय योजना केन्द्र तथा राज्य सरकारों को कम खर्च करने के लिए बाध्य करेगी।

संघीय योजना के पक्षधरों ने केवल मितव्ययता और जिम्मेदारी लाने के लिए ही संघीय योजना का प्रस्ताव नहीं किया था बल्कि इसकी बहुलता के लिए भी इस योजना की तरफदारी की थी। संघवादियों ने इस बात से इनकार किया कि राज्य के बढ़ते खर्चों की पूर्ति के लिए भारत के पास राजस्व के अधिक स्रोत नहीं हैं। यद्यपि भारतीय वित्त व्यवस्था डांवाडोल थी लेकिन उनके विचार में कर लगाने के इतने स्रोत हैं जिनको इस स्थिति पर नियंत्रण किया जा सकता है, लेकिन उन्होंने तर्क दिया कि इन उपलब्ध स्रोतों का उपयोग नहीं किया गया क्योंकि साम्राज्यवादी

सरकार इन स्रोतों का उपभोग कर सकती थी लेकिन उनकी स्थानीय प्रकृति के कारण वह ऐसा नहीं कर सकी, और प्रांतीय सरकार जो उनकी स्थानीय प्रकृति के कारण उनका इस्तेमाल करना चाहती थी, वर्तमान संवैधानिक कानून के तहत ऐसा नहीं कर सकी। लेकिन यदि प्रांतीय सरकारों में कर लगाने की शक्तियां निहित होतीं, जैसा कि संघीय योजना के तहत होता है तो पूरे भारतीय वित्त के फायदे के लिए कर के जो स्रोत क्षेत्रीय प्रकृति के कारण केन्द्र सरकार द्वारा इस्तेमाल न किए जा सके प्रांतीय सरकार द्वारा इस्तेमाल किए जा सकते थे।

संघवाद की वकालत न केवल मितव्ययता और बहुलता की दृष्टि से बल्कि समानता की दृष्टि से भी की गई थी। ऐसा माना गया कि चालू व्यवस्था में विभिन्न प्रांतों के साथ समान बर्ताव नहीं किया गया है।

यदि हम प्रांतीय उपयोगिता के लोक निर्माण कार्यों और विभिन्न प्रांतों में उन पर हुए खर्चों की कसौटी माने तो संघवादियों की आलोचना में दम नजर आता है। दूसरी ओर, निम्नलिखित आंकड़े तर्कों की बहुत हद तक पूर्ति करते हैं :–

लोक निर्माण कार्यों पर व्यय

1837–38 से 1845–46 वर्षों का औसत

प्रांत	जनसंख्या	क्षेत्रफल वर्ग मील में	राजस्व सैंकड़ा में (रु.)	लोकनिर्माण कार्यों पर खर्चा सैंकड़ों में (रु.)
बंगाल	4,00,00,000	1,65,443	1,02,39,500	1,79,812
उत्तर–पश्चिमी प्रांत	2,32,00,000	71,985	56,99,200	1,41,450
मद्रास	2,20,00,000	1,45,000	50,69,500	30,300

कलकत्ता रिव्यू, 1851 से संकलित, अंक, 16, पृष्ठ 466

इस प्रकार बंगाल में लोक निर्माण कार्यों पर खर्च उनकी आमदनी का 1¾ प्रतिशत था, उत्तरी पश्चिमी प्रांतों में 2½ प्रतिशत और मद्रास में ½ से कुछ अधिक था। केन्द्रीय सरकार द्वारा कुछ प्रांतों की तुलना में दूसरे प्रांतों के साथ किया गया वह पक्षपात इस आधार पर न्यायोचित ठहराया गया कि उन राज्यों ने अपने खातों में बचत दर्शायी थी, लेकिन संघवादियों का कहना था कि विभिन्न प्रांतों द्वारा दिखाए गए बचत और घाटे काल्पनिक थे। वे गलत लेखा पद्धति का परिणाम थे। यह पद्धति गलत थी। क्योंकि इसके तहत देश के वित्तीय लेन–देन का हिसाब–किताब

विभिन्न मदों के खातों में न करके प्रांतों के आधार पर किया जाता था जैसा कि वित्त की सामान्य पद्धति के अभाव में 1833 के पूर्व किया जाता था। 1833 का कानून पास होने के पश्चात् लेखा की यह पद्धति कानून की आत्मा के खिलाफ हो गई थी। इससे बहुत फर्क नहीं पड़ता यदि खातों के सामान्य मदों में सम्पूर्ण भारत के मदों को प्रांतीय मदों से अलग कर लिया गया होता। इस प्रावधान के अभाव में पूरे देश की सेवाओं पर हुए व्यय प्रांत के खातों में शामिल कर दिए जाने से व्यवस्था के दोष अधिक बढ़ गए। इसका परिणाम यह हुआ कि उस प्रांत विशेष के खाते घाटे ही दिखाते रहे जबकि दूसरे प्रांत बचत दिखाते रहे और फलस्वरूप पक्षपातपूर्ण व्यवहार पाते रहे। संघवादियों के समक्ष बंबई प्रांत का उदाहरण मौजूद था। इस प्रांत की मांगों को भारत सरकार लगातार कम महत्त्व देती रही क्योंकि अपने इतिहास में बंबई ने बहुत कम अवसरों पर ही अपने खातों में बचत दिखाई थी। लेकिन यदि यह महसूस कर लिया जाता कि प्रदेश का घाटा लेखा की उस जंगली व्यवस्था के कारण है जिसके तहत प्रदेश को भारतीय नौसेना का खर्च वहन करना पड़ता था तो निश्चय ही प्रदेश की स्थिति बेहतर रही होती। नियुक्ति के ऐसे भ्रष्ट तरीके ही केवल लेखा व्यवस्था के दोष नहीं थे। इसके तहत यह आम बात थी कि किसी एक सेवा पर हुआ खर्च एक प्रांत से लिया जाता था और उसे दूसरे प्रांत के खाते में जोड़ दिया जाता था। लेखा की गलत पद्धति के कारण किस तरह मद्रास प्रदेश के खातों में पाए गए घाटे को उस पर लाद दिया गया, यह निम्न चार्ट से स्पष्ट है:–

सेना के अधिकार वाले क्षेत्र पर खर्च		सेना के अधिकार वाले क्षेत्रों से आय	
नाम में डाली गयी	राशि	जोड़ी गयी	राशि
मद्रास	79,83,000	बंबई	20,00,000
		बंगाल	1,04,22,870

(उपरोक्त से संकलित, पृष्ठ 475)

लेखा की इस पद्धति में निहित असमानता को दृष्टि में रखते हुए इस बात में कोई शंका नहीं है कि संघवादियों द्वारा अपनी योजना के लाभ गिनवाना न तो काल्पनिक था और न ही संकीर्ण। चालू अव्यवस्था की तुलना में संघीय तथा प्रांतीय सरकारों के बीच कार्यों का बंटवारा स्वयं में लाभकारी होता। और यदि यह समानता

न भी थी तब भी इसमें समानता का रास्ता खोलने में उसका योगदान तो था ही।

जब एक व्यावहारिक प्रस्ताव के रूप में संघीय योजना को अधिकारियों के समक्ष रखा गया तो इसका कड़ा विरोध किया गया। साम्राज्यवादी व्यवस्था के समर्थकों, जो मुख्यतः नागरिक सेवाओं में लगे सैनिक थे, ने तुरंत इस चुनौती को स्वीकार किया। संघीय व्यवस्था के खिलाफ उन्होंने दो तरफा मोर्चा खोल दिया। यह मोर्चा योजना की व्यावहारिकता और कार्य कुशलता को लेकर खोला गया।

साम्राज्यवादियों ने सवाल उठाया कि क्या भारत की आमदनी और खर्चों को किसी एक विशेष प्रांत से संबंध बता कर उसका स्थानीयकरण किया जा सकता है? उनका कहना था कि :–

''भारत में ब्रिटिश शासन आरंभ होने के साथ ही.....प्रेसीडेंसियों और प्रांतों के हित एवं रुचियाँ एक दूसरे से इस तरह जुड़ी हुई हैं कि उन्हें अब अलग करना असंभव है। ऐसा तभी हो सकता है जब परिवर्तन किए जाएं लेकिन ये परिवर्तन चालू व्यवस्था में निहित परेशानियों से कहीं बड़ी परेशानियां पैदा कर देंगे। बंगाल प्रेसीडेंसी की सेना गंगा के निचले तटों पर स्थित संपन्न जिलों में नहीं बल्कि मुख्यतः पंजाब के अभावग्रस्त जिलों में तैनात है। इस तरह रखी गई सेना वास्तव में पूरे प्रदेश को सुरक्षा प्रदान करती है। मद्रास की सेना प्रेसीडेंसी के भीतर नहीं रखी जाती बल्कि दक्कन, सेंट्रल प्रोविंसिज और ब्रिटिश बर्मा की भी सुरक्षा करती है। इसी प्रकार बंबई की सेना बंबई के अतिरिक्त राजपूताना और मालवा राज्यों की सुरक्षा भी करती है। निचले प्रांत अथवा बंगाल खास स्वयं में सम्पन्न है लेकिन अपने राजस्व के अलावा आंशिक रूप से उनके लेकिन मुख्य रूप से बंगाल प्रदेश के दूसरे हिस्सों के सीमा-शुल्क उन्हें मिलते हैं। यहां तक कि बंगाल की अफीम भी पूरी तरह से बंगाल की नहीं है, उसका एक बड़ा हिस्सा उत्तर पश्चिमी प्रांतों में उगाया जाता है। कड़े शब्दों में कहा जाए तो बम्बई प्रांत में भी अफीम से मिला राजस्व उस प्रांत को बिल्कुल नहीं मिलता क्योंकि यह उन सीमा क्षेत्रों में पैदा की जाती है, जिन्हें अगर किसी प्रदेश में शामिल किया जाए तो वह बंगाल का हिस्सा बनेगा। बंबई और मद्रास में लगाए गए कुछ नमक कर उस नमक की खेप पर लगाए जाते हैं जिसकी खपत मध्य भारत में होती है और इस तरह यह आय वास्तव में भारत सरकार के खाते में जानी चाहिए। और भी उदाहरण दिए जा सकते हैं, लेकिन यह तुरंत स्पष्ट हो जाता है कि यदि वित्त के सम्पूर्ण स्थानीयकरण के दृष्टिकोण से इन मामलों को समायोजित करने का प्रयत्न किया जाए तो अनेक परेशानियां, यहां तक कि विवाद भी पैदा हो जाएगा[1]...''

---

1. सर रिचर्ड टेम्पिल का नवम्बर 7, 1868 का टिप्पण, स्थानीय सरकारों की वित्तीय शक्तियों के विस्तार से संबंधित पर्चे आदि. पृ. 197-208

इसी तर्ज पर तर्क पेश करते हुए भारत के तत्कालीन वायसराय लार्ड लारेंस ने लिखा है:—

"अनुभव बतलाता है कि ब्रिटिश भारत के स्रोतों को समेकित रूप में माना जाना ज्यादा सुविधाजनक है न कि उस प्रांत के संदर्भ में जिससे उसे उगाहा गया है। यदि नियम इसके विपरीत होते तो हम विवाद में पड़ जाते कि किन-किन राजस्वों की मांग प्रत्येक प्रांत कर सकते हैं? खर्चे के वे कौन से मद हैं जिन्हें प्रत्येक प्रांत से उगाहा जा सकता है? उदाहरणस्वरूप क्या सफाई के रख रखाव के लिए पहाड़ों में तैनात ब्रिटिश सेना का खर्चा पंजाब से वसूला जा सकता है? क्या इसी तरह उत्तर पश्चिमी सीमाओं में तैनात सेना का खर्चा वसूला जा सकता है? क्या राजपूताना राज्य में तैनात बंबई प्रेसीडेंसी की सेनाओं का खर्चा बंबई प्रेसीडेंसी से वसूला जा सकता है या फिर किस तरह उनका खर्चा वसूला जा सकता है? या दूसरी ओर इनसे कहा जा सकता है कि क्यों नहीं बंगाल जिसके पड़ोस में कोई विदेशी ताकत नहीं है और जिसकी जनसंख्या आलसी और डरपोक है। अत: जिसे न्यूनतम सेना की जरूरत है:— को उसकी बचत का फायदा मिलना चाहिए? या फिर इसके विपरीत क्यों नहीं बंगाल को केन्द्रीय भारत, पंजाब और उत्तर पश्चिमी प्रांतों में तैनात सेना जो पूर्व रोहिला, मराठा और पिण्डारियों के आक्रमण से उसकी रक्षा करती है, पर होने वाले खर्च का अपने हिस्से का खर्च वहन करना चाहिए? यदि प्रत्येक प्रांत अपनी अलग वित्तीय व्यवस्था चाहता है तो इन प्रश्नों का जवाब देना होगा।"[1] और उनकी नजर में इस सवाल का जवाब मुश्किल था।

लेकिन साम्राज्यवादी इससे भी आगे गए और उन्होंने तर्क पेश किया कि यदि आमदंनी और खर्चों को प्रांतीय तथा केन्द्रीय भागों में विभाजित करना संभव है तो भी ऐसा करना उचित नहीं था।

उन्होंने तर्क पेश किया कि चालू वित्तव्यवस्था के तहत :—

"संपूर्ण भारत के वित्तीय स्रोतों का निपटारा करने वाली साम्राज्यवादी सरकार उन स्रोतों को वहां पहुंचा सकती है जहां उनकी अत्यधिक आवश्यकता है। कुछ ऐसे विषय हैं जो राष्ट्र के लिए महत्त्वपूर्ण हैं भले ही वे मुख्यत: किसी विशेष जिले के लिए लाभकारी लगते हों। विशेष जिलों में दोष, जरूरतें और खतरे हो सकते हैं, जिन्हें दूर करना और ठीक करना सर्वोच्च सरकार की जिम्मेदारी है। किसी हिस्से का निर्माण अथवा सुधार राष्ट्रीय महत्त्व का हो सकता है यद्यपि इस पर खर्च करना किसी विशेष स्थानीय क्षेत्र के लिए अनुचित रूप से लाभकारी लगे। एक सड़क,

1. दिनांक 22 नवंबर, 1867 के अंश, पृष्ठ 104-7

एक नहर, कपड़ा व काफी अथवा चाय पैदा करने वाले जिले से एक रेलवे लाइन समस्त लोगों और भारत के व्यापार के लिए महत्त्वपूर्ण हो सकती है, और फिर भी इस कार्य पर आया खर्च उस जिले की आय से कहीं अधिक हो सकता है— या नैतिक एवं सामाजिक उद्देश्य के लिए, सर्वोच्च सरकार हाल में जीते हुए, बर्बाद अथवा असंतुष्ट प्रांतों पर खतरों के कारणों को ढूंढ़ने की दृष्टि से उन प्रांतों की आय से अधिक खर्च करने का निर्णय ले और उन प्रांतों को साम्राज्य के शासित क्षेत्रों के साथ मिल कर रहने को बाध्य करे,—साम्राज्य के पुराने प्रांत नए प्रांतां पर कब्जा करें। पुराने प्रांत जीते हुए प्रांतों को नागरिक सभ्यता दिखाने को बाध्य हैं। किसी देश को जीत कर उसे अपने स्रोतों के भरोसे छोड़ने का हमें कोई अधिकार नहीं है। विजय अधिकारों के साथ-साथ कर्त्तव्यों की हिमायती भी है।''

मद्रास परिषद् के अध्यक्ष लार्ड नेपियर ऑफ मार्किस्टन ने लिखा : – ''मैं आपत्ति के साथ उन लोगों की नीति के बारे में कहना चाहता हूं जो सर्वोच्च सरकार के फायदों को उसकी आय के साथ जोड़ना चाहते हैं और जो क्षेत्रीय भावना के तहत आय के हिसाब से प्रांतों को आबंटन देना चाहते हैं। इसके विपरीत गरीब प्रांतों की मदद करना अमीर प्रांतों के लिए संतोष का विषय होना चाहिए, जवान की रक्षा करने में बूढ़े को, बुरे को ठीक करने में अच्छे को संतोष होना चाहिए क्योंकि इसी तरह एकीकृत भारत के गौरवपूर्ण निर्माण में सभी सहयोग दे सकते हैं। इस उद्देश्य की प्राप्ति एक ऐसी केन्द्र सरकार के गठन से हो सकती है जो पूरे साम्राज्य के वित्तीय स्रोतों का बंटवारा करे।''[1]

यह स्पष्ट है कि उपरोक्त साम्राज्यवादियों का तर्क अथवा उपदेश उनका ध्येय पूरा करने में कभी सहायक नहीं होते। आय और खर्च को प्रांतीय तथा केन्द्रीय भागों में विभाजित करने की दिक्कत पर जोर देने के बावजूद यह स्वीकार किया जा सकता है कि यह कार्य उतना मुश्किल नहीं था जितना साम्राज्यवादियों ने दिखाने का प्रयत्न किया। सेना पर आने वाले खर्चों को समाहित करने की दिक्कत आसानी से सेना का केन्द्रीकरण कर केन्द्र सरकार के हवाले करके हल की जा सकती थी। इसी तरह उन सभी सेवाओं को जो प्रेसीडेंसी अथवा प्रांत को दी जाती थी, लेकिन जो पूरे साम्राज्य के लिए फायदेमंद थी, केन्द्र सरकार के बजट में आसानी से शामिल किया जा सकता था। इसी प्रकार राजस्व के चालू स्रोतों को आसानी से केन्द्र और स्थानीय सरकारों के बीच बांटा जा सकता था। केन्द्र सरकार अपने इस्तेमाल के लिए राजस्व के उन स्रोतों को रोक सकती थी जो एक प्रदेश की सीमाओं के व्यक्ति तक जाते थे या जिसकी अधिकतम आय देश भर में लागू सार्वभौम प्रशासन पर आधारित थी।

1. उनके द्वारा नोट किए अंश दिनांक 15 फरवरी, 1868, पैरा-9, पृ. 186-90

दूसरी ओर प्रांतीय सरकारों को उन स्रोतों के अधिग्रहण की अनुमति दी जा सकती थी जो स्थानीय प्रकृति के थे और जिनकी आमदनी स्थानीय सतर्कता पर निर्भर थी। उदाहरण के लिए सीमा शुल्क को आसानी से केन्द्रीय स्रोत बनाया जा सकता था, केवल इसलिए नहीं कि उसका क्षेत्र व्यापक था, बल्कि इसलिए कि उनके लिए एक सामान्य तथा सार्वभौम वैधानिक स्रोत माना जा सकता था और नमक राजस्व को भी केन्द्रीय स्रोत किया जा सकता था। यह सही है कि राजस्व के स्रोतों का इस प्रकार बंटवारा करना संभव नहीं है कि विभिनन सरकारों के खर्चे की पूर्ति के लिए उचित स्रोत प्राप्त हो सकें। प्रांतों द्वारा केन्द्र सरकार को और केन्द्र द्वारा प्रांत सरकारों को कुछ राशि देकर निधियों का समायोजन लाजिमी था। राजस्व के अधिग्रहण अथवा खर्चों के मामलों में कमोबेश निरंकुश सिद्धांतों को अपनाए जाने से रोकना भी संभव नहीं हो पाता। लेकिन साम्राज्यवादी बजट को केन्द्रीय तथा अनेक प्रांतीय बजटों में विभाजित करने की समस्या में आने वाली परेशानियों और निरंकुशता को स्वीकार करते हुए यह फिर भी कहा जा सकता है कि इस विवाद का संतोषजनक हल किया जा सकता था। साम्राज्यवादियों द्वारा दी गई चुनौती को स्वीकार करते हुए कर्नल चेजनी ने खर्चों के चालू मदों को केन्द्रीय और प्रांतीय भागों में बांटने का उल्लेखनीय साहस किया। उन्होंने अपनी पुस्तिका *इंडियन पालिटी* में कहा है :–

"केन्द्रीय खर्चों के वे मद जिनके लिए सहयोग की आवश्यकता होगी वे निम्न प्रकार के हैं:–

1. गृह प्रतिष्ठान और भारत सचिव द्वारा किए गए खर्चे,
2. भारतीय ऋण पर ब्याज
3. भारत सरकार के प्रतिष्ठान
4. राजनयिक प्रतिष्ठान
5. सेना
6. साम्राज्यवादी सेवाएं – डाकघर तथा तार विभाग
7. रेलवे की पूंजी पर ब्याज की गारंटी इनमें इसको भी जोड़ा जाना चाहिए।
8. कुछ निर्धन प्रांतों को सहायता अनुदान (वे प्रांत जो अभी अपने खर्चों का भुगतान नहीं करते)"

इससे तथा अन्य प्रयासों से साम्राज्यवादी आश्वस्त हो गए कि व्यवहार की दृष्टि से उनके तर्क असफल रहेंगे। परिणामस्वरूप उन्होंने व्यावहारिकता के तर्क के स्थान पर कार्यकुशलता पर जोर देना शुरू कर दिया। कार्यकुशलता के तर्क ने संघीय योजना पर आक्रमण करने के लिए एक बेहतर हथियार मुहैया करा दिया था। क्या एक

संघीय सरकार उतनी कार्यकुशल हो सकती है जितनी एक साम्राज्यवादी सरकार? क्या इसकी विश्वसनीयता उतनी ज्यादा हो सकती है? क्या इसका आत्मसम्मान साम्राज्यवादी सरकार के बराबर हो सकता है, यह कहना आवश्यक है कि लोगों के दिमाग में यह बात अभी भी थी कि नियंत्रण की भारी शक्ति से लैस साम्राज्यवादी व्यवस्था ने ही ब्रिटिशवासियों के लिए इस देश को 1857 के सैनिक विद्रोहियों के हाथों से बचाया था। संघर्ष में साम्राज्यवादी व्यवस्था के बचे रहने की कीमत सिद्ध हो चुकी थी। चातुर्यपूर्ण कदम उठा कर साम्राज्यवादियों ने शासकों के संघर्ष के दौरान साम्राज्यवादी व्यवस्था के बचे रहने के कारणों पर विचार करने के लिए कहा। वे इस बात पर जोर देते रहे कि चूंकि वित्त को साम्राज्यवादी व्यवस्था ने समाजवादी सरकार के हाथों में राजस्व के प्रबंधन और आबंटन पर नियंत्रण का अधिकार दे दिया था, अतः सैनिक विद्रोह जैसी आपातकालीन स्थिति में साम्राज्य आय के प्रत्येक स्रोत का इस्तेमाल कर सका, खर्चे के प्रत्येक रास्ते बंद कर सका और अपने समस्त खर्चो को दाव पर लगे एकमात्र उद्देश्य---- विद्रोह को कुचलने----पर केन्द्रित कर सका। उन्होंने यह दर्शाया कि साम्राज्यवादी वित्त व्यवस्था के अभाव में साम्राज्यवादी सरकार को उदासीन और अंसतुष्ट तथा उद्दंड सहयोगियों का सामना करना पड़ता, जो संभवतः संघर्ष से सीधे नहीं जुड़े थे और संघर्ष की जरूरत पर कम विश्वास रखते थे। उन्होंने यह तर्क भी दिया कि वित्त साम्राज्यवादी प्रबंधन न केवल सरकार की कार्यकुशलता बढ़ाने के लिए जरूरी था बल्कि विश्वसनीयता बरकरार रखने के लिए भी आवश्यक था। यह तर्क दिया गया कि विश्वसनीयता राजस्व की मात्रा पर निर्भर करती है, और राजस्व का विघटन विश्वसनीयता का प्रश्न चिह्न लगा देता है। संघीय सरकार पर यह भी आरोप लगाया गया कि उसने इस यूरोपीय परंपरा को भी आघात पहुंचाया जिसके तहत यूरोप ने एशिया की सरकारों के लिए सम्मान को काफी ऊंचा दर्जा दिया। साम्राज्यवादियों के लिए यह सोचना असंभव था कि केन्द्र सरकार वित्त के केन्द्रीयकरण के बिना भी हैसियत बनाए रख सकती है क्योंकि यह साम्राज्यवादी वित्त व्यवस्था की ही देन थी कि साम्राज्यवादी सरकार के हाथों में राजनीतिक और प्रशासनिक मामलों में मुख्य तंतु प्रदान कर उस सरकार के लिए नीति निर्धारण करना और उसका संतोषजनक क्रियान्वयन कराना संभव बनाया था। लेकिन यदि केन्द्रीय सरकार स्थानीय सरकारों की पिछलग्गू बन जाती है तो इसके सम्मान की रक्षा कौन करेगा?

विवाद की अग्र भूमि से देखा जाए तो पता चलता है कि औचित्य रहित तर्क में ऐसी क्या शक्ति थी जिससे साम्राज्यवादियों ने संघीय व्यवस्था के पक्षधरों पर विजय प्राप्त की। अमरीका, जर्मनी या अन्यत्र संघीय सरकारें इस तर्क का समर्थन नहीं करती थीं कि उनके कार्य में कार्यकुशलता, साख या आत्मसम्मान को हानि पहुंचती है। किन्तु यह स्मरणीय है कि जब भारत में यह विवाद उत्पन्न हुआ तब संघीय व्यवस्था का इतिहास अपने शैशवकाल में था। लोग साम्राज्यवादियों के

पक्षधर इसलिए नहीं थे कि वे संघीय व्यवस्था के इतिहास के पक्ष में नहीं थे बल्कि इसलिए कि समय ने उनको साम्राज्यवादी व्यवस्था का समर्थन करने के लिए बाध्य किया था। साम्राज्यवादी व्यवस्था ने भारत को 1857 के सैनिक विद्रोह से बचाया था, और ऐसे में जबकि सैनिक विद्रोह के दोबारा घटित होने संबंधी उनकी आशंकाएं दूर नहीं हुई थीं, उनसे यह उम्मीद रखना बेकार था कि वे उस व्यवस्था को बिगाड़ने की सहमति देंगे जिसने संकट में उनकी रक्षा की थी। हालांकि लोग उस व्यवस्था की बुराइयों से अवगत थे लेकिन वे उसके साथ छेड़-छाड़ करने को राजी नहीं थे। साम्राज्यवादी व्यवस्था के प्रति लोगों का सुझाव इस कदर था कि यह जानते हुए भी कि व्यवस्था की बुराइयां उसकी कार्य कुशलता पर हावी हो रही हैं वे माननीय मेजर जनरल सर एच.एम. ड्यूरेंड की निम्नलिखित पंक्तियों को सहानुभूतिपूर्वक सुनते थे:–

"....मैं विश्वासपूर्वक कहता हूं कि फिलहाल इस आरोप में कोई दम नहीं है कि वित्तीय नियंत्रण के मामले में भारत सरकार अपने प्रयासों की सीमा से बाहर चली जाती है, और बुरी तरह विफल रहती है....इसके विपरीत नियंत्रण की छोटी सी विफलता....इस बात का प्रमाण नहीं है कि नियम में खामियां हैं बल्कि यह साबित होता है कि नियंत्रण में किसी भी तरह की ढील अनुचित है। साथ ही यह इस बात का भी प्रमाण है कि भारत सरकार और गृह सरकार दोनों को ही नियमों का कड़ाई से पालन करवाना चाहिए। केवल इसलिए केन्द्र सरकार के वित्तीय नियंत्रण को कम कर दिया जाए क्योंकि नौ प्रशासनिक इकाइयों में से एक इकाई अनियंत्रित हो चुकी है, यह तर्क मुझे वैसा ही लगता है जैसा कि सेना की एक रेजिमेंट के दुर्व्यवहार के कारण युद्ध के निर्देशों को और प्रधान सेनापति की शक्तियों को ही गैर-कानूनी कर दे डालना। मैं भारत अथवा सेनाओं को इस तरह शासित किए जाने के राजनीतिक दृष्टिकोण को शंका की नजर से देखने का दुस्साहस करता हूं।"

साम्राज्यवादियों की जीत के बावजूद यह कहा जा सकता है कि संघीय व्यवस्था के हिमायती जिस मुद्दे पर हार गए उसे जीता जा सकता था। क्योंकि भले ही उस समय लोगों की भावनाएं साम्राज्यवादी व्यवस्था को बनाए रखने के पक्ष में रही हों, बदलते घटनाचक्र को रोक पाने की ताकत उनमें नहीं थी। साम्राज्यवादी सरकार को हर हाल में निर्धनता की स्थिति में उबारना था, और इससे निबटने के लिए यदि राजनीतिक चिंतन ने संघीय वित्त व्यवस्था का साधन के रूप में पक्ष नहीं लिया होता तो पूंजीपतियों को यह बात समझ में आ गई होती कि साम्राज्यवादी वित्त व्यवस्था उद्देश्य की दृष्टि से कारगर नहीं है।

---

1. 7 अक्तूबर 1867 को लिखे गए अंश का हिस्सा, पृ. 94-7।

3

समझौता

साम्राज्यवादी प्रबंध रहित साम्राज्यवादी वित्त व्यवस्था

हालांकि संघीय व्यवस्था के हिमायती जीत हासिल नहीं कर सके लेकिन उन्होंने अपने विरोधियों को विद्यमान व्यवस्था के दोषों को दूर करने के लिए बाध्य कर दिया। अब मुख्य रूप से इस बात पर ध्यान दिया जाने लगा कि राजस्व संबंधी कानूनों को बदला जाए और राजस्व उगाहने वाले तंत्र को अधिक चुस्त दुरुस्त बनाया जाए ताकि आमदनी में बढ़ोतरी हो और फिजूलखर्च में कटौती। ईस्ट इंडिया कंपनी के शासन के अंतिम दिनों में साम्राज्यवादी व्यवस्था को मजबूत और खुशहाल बनाने के उद्देश्य से उन करों को हटा लिया गया और देश को उन सभी नियंत्रणों से मुक्त कर दिया गया जो व्यापार और उद्योग के विकास में बाधा कर रहे थे। साथ ही औद्योगिक और व्यापारिक गतिविधियों को बढ़ावा देने के लिहाज से आयात शुल्क के रूप में उन्हें सुरक्षा दिए जाने की कोशिश की गई और व्यापार को अधिक सुविधाजनक बनाने के लिए ब्रिटिश तथा विदेशी जहाजों पर लगने वाले शुल्क को एक समान कर दिया गया। निर्यात करने वाली वस्तुओं पर से निर्यात शुल्क हटा लिया गया और कपास तथा चाय जैसी वस्तुओं की यूरोप व अन्य देशों के बाजारों में मांग को देखते हुए इन वस्तुओं के उत्पादन को बढ़ाने के प्रयास किए जाने लगे।

इसके पश्चात् प्रशासनिक तंत्र में बदलाव लाया गया। इस दिशा में इंडियन काउंसिल्स एक्ट, 1861 का फायदा उठाया गया। इस कानून के तहत वायसराय को यह अधिकार दिए गए थे कि वह अपनी परिषद् के कामकाज को अधिक सुविधाजनक बनाने की दृष्टि से समय-समय पर नए नियम एवं आदेश निकाल सकता है, कानूनी तौर पर उस व्यवस्था को समाप्त कर सकता है जिसके तहत सरकारी कामकाज के निर्वहन में परिषद् के प्रत्येक सदस्य को प्रशासन के अलग-अलग विभाग का जिम्मा सौंप कर पूरी परिषद् सामूहिक रूप से भाग लेगी। इस प्रकार

परिषद् को इस मंत्रिमंडल का स्वरूप दे दिया गया, जिसका मुखिया गवर्नर–जनरल बनाया गया। इस परिवर्तन के माध्यम से ''चांसलर ऑफ एक्सचेकर'' (वित्त मंत्री) का पद बनाया गया जिस पर विख्यात वित्तशास्त्री जेम्स विल्सन की नियुक्ति की गई। श्री विल्सन ने सबसे पहले वित्तीय प्रशासन को सुधारने पर अपना ध्यान केन्द्रित किया। भारत में एक सार्वभौम खाता प्रणाली शुरू करने, नागरिक तथा सेना लेखा परीक्षा विभाग को केन्द्रीकृत करने, और विनियोग बजट की शुरुआत करने का श्रेय श्री विल्सन को ही जाता है। राजस्व कानूनों को बेहतर बनाया गया और कार्यकुशल प्रशासन के माध्यम से फिजूल खर्ची पर रोक लगाई गई साथ ही खर्चों[1] में कटौती की नीति को भी अपनाया गया। बजट और लेखा परीक्षा संबंधी नियमों को इस तरह का बनाया गया ताकि ''प्रत्येक स्थानीय सरकार के मुखिया या प्रशासन की प्रत्येक शाखा को पहले से अधिक स्वविवेकात्मक शक्ति मिल गई....।''[2] खर्चों में कटौती इस हद तक लागू की गई कि 1854 में देश भर में शिक्षा का प्रसार करने संबंधी भारत सचिव के आदेश जारी होने के तुरंत बाद ही शिक्षा पर होने वाले खर्च में बढ़ोतरी पर रोक लगा दी गई।[3]

लेकिन वित्तीय बेहतरी के लिए किए गए इन तमाम उपायों के बावजूद भारत की वित्तीय स्थिति में सुधार नहीं आ पाया। वित्तीय स्थिति का निचोड़ पेश करते हुए श्री विल्सन महोदय ने 1860–61 के अपने वित्तीय वक्तव्य में कहाः–

''पिछले तीन वर्षों में हमारा घाटा 30,547,488 पौंड तक पहुंच चुका है, अगले वर्ष 6,500,000 पौंड घाटे की संभावना है, हम कर्ज में 38,410,755 पौंड की वृद्धि कर चुके हैं।''

इस वित्तीय घाटे को पूरा करने के लिए श्री विल्सन को स्टाम्प ड्यूटी बढ़ानी पड़ी, बाह्य सीमा कर को दुगना करना पड़ा और लोगों की आय पर कर लगाना पड़ा। जो पहले कभी नहीं लगाया गया था। लेकिन इन तीन प्रकार के करों से उगाही गई राशि भी श्री विल्सन के उत्तराधिकारी श्री सैमुअल लैंग को संतुष्ट नहीं रख सकी। उन्होंने भी 1861–62 के अपने वित्तीय वक्तव्य में घाटे की पूर्ति करने तथा अतिरिक्त राशि से बाकी दिन चैन से काटने के लिए 500,000 पौंड की मांग की। कुछ वर्षों तक देश के वित्तीय हालात ठीक रहे। लेकिन तत्पश्चात् 1866 में श्री

1. 24 नवम्बर, 1860 के कलकत्ता गजट के परिशिष्ट में प्रकाशित, 19 नवम्बर, 1860 के वित्त विभाग के प्रस्ताव संख्या 126 से, पृष्ठ 35
2. वही, पैरा 20
3. 14 अगस्त, 1858 के कलकत्ता गजट, पृष्ठ 1642 की अधिसूचनाएं।

लैंग के स्थान पर आए श्री मैसी को ''साम्राजय की वित्तीय स्थिति का जायजा लेने पर तथा साम्राज्य के वित्तीय स्रोतों पर बढ़ते दबाव के कारण राजस्व के वर्तमान स्तर में 10 लाख पौंड स्टर्लिंग की धन राशि जुटाने का स्थाई प्रावधान करना पड़ा।''[1]

सभी वित्त मंत्रियों के प्रयास असफल रहने के क्या कारण थे? इन प्रयासों की असफलता का कारण देश की प्रशासनिक और बाहरी जरूरतों में हुई भयंकर वृद्धि में ढूंढा जा सकता है।

सैनिक विद्रोह के पश्चात् ''हजारों की तादाद में न केवल अंग्रेज सिपाही बल्कि सभी तबकों के ब्रिटेन निवासी भारत आ धमके। लिहाजा हजारों ऐसी चीजों की मांग होने लगी जो भारत में नहीं थीं लेकिन जिन्हें उपलब्ध कराना जरूरी हो गया था। देश में रेल, तार, सड़कें और पुलों का जाल बिछाया जाना था। लोगों को भुखमरी से बचाने के लिए नहरों का निर्माण करना था, यूरोप की सेना के लिए बैरक बनवाने थे और सेना के फायदे के लिए हर प्रकार की जन सुविधा संबंधी सुविधाएं प्रदान करनी थीं। यह केवल साम्राज्यवादी सरोकारों के बारे में ही सत्य नहीं था। सुविध ाओं की बेहतरी की मांग का दबाव केन्द्र सरकार के तहत आने वाले प्रत्येक कस्बों और जिलों में भी बढ़ रहा था। कार्यकुशल प्रशासन की भी मांग बढ़ रही थी। पूरे भारत में पुलिस प्रशासन बहुत दयनीय स्थिति में था। कचहरियों में महत्त्वपूर्ण पदों पर तैनात देशी न्यायाधीशों तथा न्यायालय के अन्य अधिकारियों को मिलने वाले कम वेतन संबंधी अपने वायसराय होने के दौरान लार्ड लारेंस की घोषणा जनता के साथ धोखा था। बंगाल प्रेसीडेंसी में 4000 से अधिक न्यायिक अधिकारियों में से मात्र कुछ अधिकारियों को ही सबसे अधिक 180 पौंड सालाना वेतन मिला करता था। अधिकांश अधिकारियों को 12 से 24 पौंड सालाना वेतन मिलता था। यह राशि देश के अन्य हिस्सों में कार्यरत मजदूरों और बढ़इयों को मिलने वाले भुगतान से भी कम थी। इस असमानता को दूर करना जरूरी था।''[2]

जबकि अधिक खर्च करने की जरूरत बढ़ती जा रही थी, खर्चे में कटौती करना मुश्किल होता जा रहा था। हालांकि शुरुआत में यह आसान लग रहा था लेकिन बाद में खर्च में कटौती के लिए उठाया जाने वाला प्रत्येक कदम अधिक कठिन साबित होने लगा। स्थिति में सुधार लाने की बढ़ती जरूरत और खर्चों में कटौती करने की खत्म होती गुंजाइश ने सरकार को नए-नए कर लगाने पर मजबूर कर दिया। एक विदेशी सरकार द्वारा करों को लगाए जाने का खतरा उन तीनों वित्त

---

1. 21 फरवरी, 1866 को स्थानीय सरकार को दिए गए सर्कुलर।
2. उपरोक्त अंश पर जान स्ट्रेची की पुस्तक *आब्जर्वेशन ऑफ सम क्वेश्चंस ऑफ इंडियन फाइनेंस* से लिए गए हैं। हाउस ऑफ कामन्स रिटर्न, 326, सन् 1874

शास्त्रियों के दिमाग में था जो बारी–बारी इंग्लैंड से भारत की आर्थिक स्थिति सुधारने के लिए भेजे गए थे। वे जानते थे कि स्थानीय जनता करों की शर्त पर जीवन की सुविधाओं का भोग करने के लिए राजी नहीं थी। उन्होंने यह महसूस किया कि यदि स्थानीय जनसंख्या की तुलना में यूरोप निवासियों को फायदा पहुंचाने के लिए की जा रही प्रशासनिक, आर्थिक व नैतिक मांगों पर रोक नहीं लगाई गई तो कितना भी कर क्यों नहीं लगा दिया जाए, वह आर्थिक स्थिति सुधारने में अक्षम ही रहेगा। साथ ही साम्राज्य की राजनीतिक स्थिरता के लिए भी खतरा पैदा हो सकता है। निरर्थक समानता और पांडित्य प्रदर्शक केन्द्रीकरण की वर्तमान व्यवस्था के तहत उनका उद्देश्य पूरा हो पाना मुश्किल था। क्योंकि खर्चों में कटौती के लिए केन्द्र सरकार स्थानीय सरकारों पर निर्भर थी और स्थानीय सरकारें वित्तीय सतर्कता तथा वित्तीय सुधार के मामलों में केन्द्र सरकार के प्रति न केवल ढीला रुख अपनाएं थीं बल्कि अक्सर निष्क्रिय विरोध का प्रदर्शन भी करती थीं और आर्थिक स्थिति को सुधारने के लिए बनाए गए नियमों का पालन भी नहीं करती थीं। स्थानीय सरकारों को अपने खर्चों में कटौती करने के लिए राजी करने का एक ही रास्ता था– उन्हें राज–काज चलाने के लिए अधिक अधिकार और जिम्मेदारी सौंपी जाए। अपने प्रशासनिक अनुभव के दौरान वित्त शास्त्रियों को यह जानकारी मिली थी कि जबकि राजस्व और खर्च संबंधी कुछ विभाग केन्द्र सरकार के हिस्से में आते थे, वहीं बहुत से विभाग ऐसे भी थे जो स्थानीय चरित्र के थे और सरकारों के जिम्मे आने चाहिए थे। वे पूरी तरह आश्वस्त थे कि खर्चों में कटौती तब तक नहीं हो सकती जब तक स्थानीय सरकार की जरूरतों को निश्चित स्रोतों पर निर्भर नहीं कर दिया जाता, और ऐसा करने के लिए केन्द्र के पास कुल जमा राशि में से एक निश्चित राशि स्थानीय सरकारों के इस्तेमाल के लिए अलग करनी होगी। स्थानीय सरकारों को यह जिम्मेदारी लेनी होगी कि वे अपने खर्चों का भुगतान इस राशि में से ही करें और अपनी आय तथा खर्च में सामंजस्य बनाए रखें।

इस तरह ये उसी निष्कर्ष पर पहुंचे जिस पर संघीय व्यवस्था के हिमायती पहले ही पहुंच चुके थे। लेकिन साम्राज्यवादियों को उनकी योजना स्वीकार कराने के लिए उन्होंने योजना के क्रियान्वयन को प्रभावित किए बिना कुछ छूट दे डाली। संघीय योजना के तहत भारत में सरकारी ढांचे में संवैधानिक परिवर्तन की आवश्यकता थी। इसका तात्पर्य था कि प्राप्त होने वाले राजस्व और प्रशासन की जिम्मेदारी का कानूनी रूप से केन्द्र सरकार और विभिन्न प्रांतीय सरकारों के बीच बंटवारा हो। साम्राज्यवादियों सहित सभी इस बात पर सहमत थे कि संघीय योजना वित्तीय जिम्मेदारी और बचत लागू करवाने का शक्तिशाली कदम है। उनका मुख्य विरोध यह था कि योजना कानूनी तथा स्थाई तौर पर केन्द्र सरकार को भारत की आय के स्रोतों से वंचित कर देगी। मंजे हुए

राजनेता होने के नाते वित्त शास्त्रियों ने जल्दी ही संघीय योजना की इस कमी को दूर करने का रास्ता ढूंढ निकाला। ब्रिटिश संसद में कार्य करने के अनुभव का फायदा उठाते हुए उन्होंने यह जान लिया कि संविधान में परिवर्तन करने की आवश्यकता नहीं है। परंपराएं भी कानून के समान ही प्रभावी हो सकती हैं और एक बार वे अपनी जड़ें जमा लें तो उन्हें हिलाना मुश्किल होता है। अतः केन्द्र और प्रांतीय सरकारों के बीच अधि कार क्षेत्र और राजस्व का बंटवारा एक ऐसी परंपरा का हिस्सा बनाए जाने की पेशकश की गई जो तब तक अक्षुण्ण बनी रह सकती है जब तक दोनों पक्षों को लाभ मिलता रहे। इस तरह भारत की आय के स्रोतों पर केन्द्र सरकार की पकड़ ढीली किए बगैर संघीय योजना के फायदे उठाए जा सकते थे। यह एक तरह से संवैधानिक साम्राज्यवाद और संवैधानिक संघवाद के बीच समझौता था। इसका मतलब था साम्राज्यवादी प्रबंधन के बिना साम्राज्यवादी वित्त समझौतों के तहत राजस्व और अधिकार क्षेत्र का स्तर तो केन्द्रीय ही बना रहा लेकिन उनका प्रबंधन प्रांतीय कर दिया गया। फलस्वरूप प्रत्येक प्रांतीय सरकार को केन्द्रीय सरकार के उस क्षेत्र में प्रशासन करने का अधिकार मिल गया जो उसके प्रांत में आता था और केन्द्रीय सरकार के राजस्व का वह अंश उसके हिस्से में आ गया जो उसके सीमा क्षेत्र में उगाहा जाता था। नई योजना का यह सार था। वह योजना संघीय योजना से इस अर्थ में अलग थी कि इसके तहत केन्द्रीय सरकार को भारतीय वित्त से संबंधित सभी मसलों पर सर्वोच्च नियंत्रण और परामर्श का अधि कार था जबकि वास्तव में भारतीय वित्त के एक हिस्से के प्रशासन संबंधी ब्यौरे को लेकर माथापच्ची करने की उसे कोई आवश्यकता नहीं रही थी।

वित्तीय व्यवस्था के पुनर्निर्माण के लिए बुलाए गए तीनों वित्त मंत्री योजना के मुख्य मसौदे पर पूरी तरह सहमत थे लेकिन योजना के क्रियान्वयन की सीमा को लेकर उनमें मतभेद था। यह संदिग्ध है कि श्री विल्सन ने योजना का अपना कोई प्रारूप तैयार किया। लेकिन यह निश्चित है कि इस तरह का विचार उनके मन में आया था। उनके द्वारा 1860 में लगाया गया 32वां आयकर कानून ''दो हिस्सों में था– ''पहला अस्थिर कर था जो आय के 3 प्रतिशत पर लगाया जाता था। यह प्रतिशत साम्राज्य की जरूरत के हिसाब से घटाया अथवा बढ़ाया जा सकता था और जिसे वित्तीय स्थिति सुधरने पर पूरी तरह से समाप्त किया जा सकता था। दूसरी तरह का कर आय के 1 प्रतिशत पर लगाया जाने वाला ''स्थाई कर'' था। स्थाई कर लगाने का अधिकार स्थानीय प्रशासन को था और यह कर अदा करने वाले क्षेत्र के भीतर स्थित सड़क, नहरों आदि पर भी लगाया जा सकता था। (कानून की धारा 190-4) कर का यह हिस्सा कभी भी वापस नहीं लिया जा सकता था। न केवल निर्धारित मद के लिए बल्कि कर उगाहने वाले तंत्र को भी बनाए रखने के लिए इस कर का बनाए रखना जरूरी था। लेकिन विशेष

परिस्थितियों में इसे वापस भी लिया जा सकता था। साथ ही जरूरत पड़ने पर बिना किसी विरोध या वाद-विवाद के इसे फिर से लगाया जा सकता था।''[1]

श्री विल्सन के उत्तदाधिकारी श्री लैंग ने योजना को ज्यादा सही स्वरूप प्रदान किया। सन् 1861-62 का उनका बजट स्थानीय सरकारों द्वारा उपयोगी जन-सुविधाओं की मांग से पैदा हुए घाटे को भरने का प्रयास था और वित्तीय सुरक्षा की उनकी भावना ने उन्हें ''सड़कों, टेलीग्राफ (तारों), नहरों तथा इसी तरह के अन्य उपयोगी कार्यों को वहीं तक छोड़ देने के लिए मजबूर कर दिया जिस स्थिति में वे सैनिक विद्रोह के समय थे।''

लेकिन उपयोगी सार्वजनिक निर्माण को बढ़ावा देने के महत्त्व को वे अच्छी तरह समझते थे और उन्हें बढ़ाने की उनकी इच्छा भी थी। यही कारण है कि उन्होंने प्रांतीय सरकारों से केन्द्र सरकार द्वारा मिलने वाली कम राशि को अन्य उपायों से बढ़ाने की पेशकश की। उन्होंने प्रांतीय सरकारों से कहा :-

> ''हम जो राशि देने में सक्षम हैं उसे आप ले लो और बाकी राशि के लिए आप कर लगाने का अधिकार लो और खुद पैसा उगाहो......क्योंकि कुछ विषय ऐसे हैं जो साम्राज्यवादी सरकार की अपेक्षा स्थानीय सरकारों द्वारा कर लगाकर बेहतर ढंग से निपटाए जा सकते हैं।''

स्थानीय बजट के माधयम से श्री लैंग का उद्देश्य केवल ''अस्थाई परेशानी दूर करने का नहीं था बल्कि स्थाई सुधार लाने का था'' ताकि साम्राज्यवादी कोष को राहत मिले और प्रांतीय सरकारों को फायदा मिल सके। उनकी इस योजना को आम सहमति भी मिल चुकी थी। लेकिन जब इस योजना को अमली जामा पहनाने के लिए सामने रखा गया तो संसद द्वारा स्थानीय सरकार के पास वह तंत्र नहीं था जिसके माध्यम से इसे लागू किया जा सके। अत: योजना का क्रियान्वयन उस समय तक टाल दिया गया जब तक स्थानीय विधान परिषदो का गठन नहीं हो जाता। लेकिन चूंकि अगले कुछ वर्ष वित्तीय खुशहाली के रहे अत: योजना से लोगों का ध्यान हट गया और अंतत: उसे अनिश्चित काल के लिए समाप्त कर दिया गया।

लेकिन खुशहाली का यह दौर ज्यादा दिन टिका नहीं रहा और संकट की पुनर्वापसी की आशंका से श्री मैसी इस कदर ग्रसित रहे कि उन्हें योजना को कहीं बड़े आकार में पुनर्जीवित करने पर मजबूर होना पड़ा।[2] उन्होंने पेशकश की :-

---

1. 25 नवंबर 1866 के सर बी. फेरे के कार्यवाही वृतांत (मिनट) से पैरा 30 स्थानीय सरकारों की वित्तीय शक्तियों के विस्तार पर आलेख पृ. 42
2. 25 फरवरी, 1866 को स्थानीय सरकारों को लिखा गया अर्द्ध-शासकीय पत्र, स्थानीय सरकारों की वित्तीय शक्तियों के विस्तार पर आलेख, पृ. 67

"अतिरिक्त धन राशि (10 लाख पौंड स्टर्लिंग) उगाहने के तरीकों पर विचार करते समय.........सबसे सही तरीका यह होगा कि स्थानीय चरित्र के मामलों का साम्राज्यवादी खाते से स्थानीय खातों में आंशिक अंतरण कर दिया जाए।"

चूंकि भारत में स्थानीय कार्यों के लिए इस्तेमाल होने वाली सालाना निधि 20 लाख पौंड स्टर्लिंग से अधिक नहीं हो पाती थी अत: यह पेशकश की गई कि इस राशि में 1,200,000 पौंड और मिलाए जाएं। यह अतिरिक्त राशि विभिन्न स्थानीय सरकारों और प्रेसीडेंसी द्वारा मिल कर बढ़ानी थी और साम्राज्यवादी राजस्व के बदले इस राशि का इस्तेमाल स्थानीय सेवाओं के लिए होना था। 1,200,000 पौंड की राशि बर्मा को छोड़ कर अनेक स्थानीय सरकारों के चालू वर्ष में सीमा कर और आय कर को छोड़ कर लगाए गए अनुमानित कुल राजस्व के 4 प्रतिशत के हिसाब से जुटाई गई। नई निधि की राशि जिन मद पर खर्च होनी थी, वे थे :– (1) शिक्षा, (2) पुलिस, (3) जिला जेल, (4) सार्वजनिक निर्माण, (5) सड़कों की मरम्मत तथा उनका रख-रखाव। अतिरिक्त राशि जुटाने के लिए लगाए जाने वाले करों की सूची इस प्रकार है :–

(1) व्यापार और व्यवसाय पर लाइसेंस कर, (2) गृह कर, (3) शहरों में चुंगी, (4) जिस भूमि से राजस्व प्राप्त नहीं होता है उन पर उत्तराधिकार कर। परिषद् में भारत सरकार की संस्तुति के अधीन स्थानीय सरकारों को अपने सीमा क्षेत्र में सबसे फायदेमंद कर को चुनने की छूट थी ताकि कर वसूलने के खर्चे को काटने के बाद उन्हें उपरोक्त सेवाओं में से किसी एक या सभी में अपनी इच्छानुसार राशि खर्च कर सकें।

इस योजना के संबंध में भेजे गए पत्रों के उत्तर में स्थानीय सरकारों और प्रशासनों ने ऐसे प्रभारी के अंतरण और स्थानीय करों के माध्यम से खर्चों की पूर्ति की व्यावहारिकता पर अपनी सहमति जताई हालांकि ऐसे प्रभावों के अंतरण के साथ-साथ उन पर होने वाले खर्चों की पूर्ति के लिए आवश्यक राजस्व को अंतरित न करने पर आम आपत्ति भी थी। ऐसी परिस्थिति में भारत सरकार 800,000 पौंड तक खर्चों में कटौती कर उस राशि को स्थानीय सरकारों को अंतरित करने के लिए राजी हो गई। साथ ही लाइसेंस कर के रूप में जमा राशि को भी अंतरित करने को राजी हो गई।[1] योजना को मिले समर्थन और सहानुभूतिपूर्ण समीक्षा ने श्री मैसी को इसे बदलने और व्यापक बनाने के लिए प्रेरित किया। नई और व्यापक योजना की अपनी व्याख्या[2] में श्री मैसी ने लिखा :–

1. 19 सितंबर, 1867 का सर्कुलर, पृ. 67
2. श्री मैसी की प्रार्थना पर नई योजना की रूपरेखा कर्नल आर. स्ट्रेची ने स्थानीय सरकार को सार्वजनिक खर्चे के कुछ अंश पर नियंत्रण के अंतरण नोट में बताई थी, पृ. 51-62

''स्थानीय अधिकारियों को हस्तांतरित किए जाने वाले अधिकार क्षेत्रों की पहली शृंखला के लिए मेरा पहला उद्देश्य खर्च के उन मदों का ध्यान करना है जो भारत सरकार के नियंत्रण से बहुत कम प्रभावित होते हैं और जो मिल कर इतनी राशि जुटा सकें जिसका प्रबंधन करना आसान हो तथा साथ ही इतने जरूरी भी हों कि वास्तविकता का आभास देते हों और भविष्य में वित्तीय प्रशासन का संपूर्ण हस्तांतरण स्थानीय सरकारों को किए जाने की ओर उठाया गया कदम नजर आते हों। नागरिक आकलन करने पर....मुझे सबसे आसान तरीका यही नजर आता है कि तमाम अनुदानों में से विशेष मद का चयन करने के बजाए कुछ अनुदानों का पूरा हिस्सा हस्तांतरित कर दिया जाए। .... इस योजना को स्वीकार करने से ....खाता प्रणाली में बदलाव की आवश्यकता नहीं पड़ेगी। सिर्फ यही बदलाव करना पड़ेगा कि विभिनन प्रयोजनों के लिए मिलने वाले अनुदान के कुछ हिस्सों का विशिष्ट तरीके से प्रबंध करना होगा, इस नियम का एकमात्र अपवाद ....मिश्रित शीर्ष का लेखा जोखा करना है ... .जो कि विभिन्न कार्य क्षेत्रों का बेमेल योग है। इनमें से स्थानीय प्रबंधन को हस्तांतरित करने के लिए वे सभी विषय रखे जाएंगे जिन्हें आसानी से स्थानीय कहा जा सकता है। ...और बचे हुए विषयों को जिनमें आसानी से प्रभारों के मुख्य शीर्षो के तहत वर्गीकृत किया जा सकता है। सबसे महत्त्वपूर्ण प्रभार जिसे मैं हस्तांतरित करना चाहता हूं वह है कानून और न्याय के तहत जेल। इसके बाद – ''कानून और न्याय के तहत ही पंजीकरण और तुलुबाना आते हैं। इसके खर्चे ''कानून और न्याय'' मद के अंतर्गत जमा की गई विशेष फीस से पूरे किए जाते हैं। इन खर्चो के खिलाफ प्रक्रिया के रूप में ''कानून और न्याय'' के अंतर्गत राजस्व के अंतरण का प्रावधान है। ...''शिक्षण'' के अंतर्गत मिश्रित खर्चो का अंतरण इस मद पर मिलने वाले राजस्व के हिसाब से होगा। इसके बाद चिकित्सा व्यवस्थापन और रसायनिक परीक्षकों (मेडिकल इस्टेब्लिशमेंट एंड केमिकल एक्जामिनर्स) को छोड़ कर ''स्वास्थ्य सेवाओं'' के अंतर्गत आने वाले बाकी सभी खर्चो की बारी आती है। ''स्टेशनरी तथा प्रिंटिंग'' के खर्चो के तहत आने वाले खर्चो को भी अंतरित किया जाता हैं। ''पुलिस'' विभाग के तहत उन सभी खर्चो को जो ''रेलवे पुलिस'' सहित स्थानीय स्रोतों से जमा होने वाली राशि से चलते हैं, अंतरित किए जाते है। इसके प्रतिदान में ''पुलिस'' के अंतर्गत होने वाली ''आमदनी'' का प्रावधान है इसके अतिरिक्त मेरे विचार से भविष्य में लगाए जाने वाले भूमि कर (लगान), आयकर और लाइसेंस कर जमा करने पर आए खर्चे के एक

अंश को अंतरित करने का प्रावधान है यह जरूरी हो गया है कि अंतरित होने वाले सामान्य खर्चे के बदले एक राशि निश्चित की जाए और इसलिए कर एकत्रित करने पर आने वाले खर्चे का अंतरण उचित लगता है। भूमि राजस्व (लगान) एकत्रित करने में खर्चे के मद में राजस्व सर्वेक्षण में आई लागत को शामिल नहीं किया गया था। क्योंकि यह लागत बदलती रहती है। हां, ''ग्रामीण अधिकारियों को मिलने वाला भत्ता अवश्य इस मद में शामिल किया गया था।'' राजस्व का पहला और मुख्य अंतरण भूमि राजस्व (लगान) का एक हिस्सा होगा जिसका निर्धारण मैं रुपये के 1/16वें हिस्से अथवा एक आना के बराबर करता हूं। यही दर राजस्व जमा करने पर आने वाले खर्चे के अंतरित होने वाले हिस्से पर भी लागू होगी। राजस्व का अगला मद भविष्य में लगाया जाने वाला आय कर है और लाइसेंस कर एक चौथाई हिस्सा होगा।''[1]

इसके बाद निम्नलिखित शीर्षों के तहत होने वाली पूरी आमदनी को अंतरित करने का प्रावधान है– (1) कानून और न्याय, (2) पुलिस, (3) शिक्षा, (4) मिश्रित (वित्तीय प्रकृति के विषयों को छोड़ कर) और (5) सिंचाई से होने वाली आय को छोड कर पुलिस कार्यों से होने वाली पूरी आमदनी। सार्वजनिक कार्यों के तहत आने वाले खर्चों के वे मद जिन्हें अंतरित किया जाना है, निम्न हैं– (1) सड़कें, (2) नागरिक भवनों की मरम्मत, (3) नए और मरम्मत वाले विभिन्न कार्य और (4) संयंत्र एवं औजार।''

इस तरह व्यापक बनाई गई योजना पर विभिन्न दृष्टिकोणों से विचार विमर्श किया गया। हालांकि योजना को सतर्क आलोचकों[2] का समर्थन मिल चुका था लेकिन साम्राज्यवादियों को यह योजना जरूरत से अधिक व्यापक महसूस हुई, और चूंकि दो महान साम्राज्यवादियों, भारत के वायसराय लार्ड लारेंस और मद्रास के गवर्नर लार्ड नेपियर ने योजना का विरोध किया अत: इसे लागू नहीं किया जा सका। लेकिन साम्राज्यवादियों का दुर्भाग्य रहा कि वे पूरे एक दशक तक बीमार साम्राज्यवादी

---

1. इस हिस्से का गणित करते हुए श्री मैसी ने लिखा:–''मैंने आयकर 2 प्रतिशत की दर से लगाया है लेकिन 2,000 रुपये से कम पर आयकर नहीं लगेगा। लाइसेंस कर को मैं व्यापार कर मानता हूं जो चालू सीमा के आरंभ में ही लगेगा और इससे आयकर की क्षति पूर्ति होगी।''
2. सर स्टेफर्ड नार्थकोट ने घोषणा की, ''हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि भारत की एक मात्र अर्थव्यवस्था गड़बड़ाने न पाए और अनियंत्रित खर्चों पर काबू पाना चाहिए। हमारी व्यवस्था ने भारत का ऋण बहुत अधिक कर दिया है और मैं तो इस व्यवस्था में किसी प्रकार की तबदीली नहीं करूंगा। फिर भी यह बात फिर कहूंगा कि मैं श्री मैसी के सुझावों के सिद्धांतों का समर्थन करता हूं।'' *हांसार्ड के संसदीय वाद विवाद,* खंड 191, 23 अप्रैल 1868

वित्तीय व्यवस्था को शल्य क्रिया द्वारा ठीक किए जाने का कड़ा विरोध करते रहे। लेकिन इस दौरान व्यवस्था के निरोग होने के कोई आसार नजर नहीं आए। इसके विपरीत, शल्यक्रिया के अभाव में व्यवस्था अधिक बीमार होने लगी। करों की बढ़ोतरी और खर्चों में कटौती के बावजूद इंग्लैंड से भेजे गए भारतीय कोष के तीनों कुलपति (चांलसर) 1860–1870 के दशक के दौरान मात्र तीन वर्षों की बचत ही दिखा पाए। दूसरी ओर लगातार घाटे से पैदा हुई शर्मिंदगी के साथ-साथ देश की सार्वजनिक वित्तीय प्रणाली में मितव्ययता और अनुशासन पैदा करने की गरज से लागू की गई बजट व्यवस्था न केवल कटौती के कारगर हथियार के रूप में असफल रही बल्कि अत्यधिक केन्द्रीकरण के दबाव के चलते अनुशासन पैदा करने के हथियार के रूप में भी बेकार साबित हुई। फलस्वरूप वित्तीय व्यवस्था दिशाहीनता के पाश में फंस चुकी थी।

बजटीय आकलन की शुद्धता के बारे में जारी किए गए विस्तृत सर्कुलर और आदेशों के बावजूद वित्त मंत्रियों को अजीबोगरीब स्थिति का सामना करना पड़ता था। क्योंकि बजट की शुरुआत तो मोटी बचत के प्राक्कलन से होती थी लेकिन उनका अंत हमेशा वास्तविक घाटे से होता था। अनुमानित और वास्तविक घाटे का अंतर निम्न सारणी से स्पष्ट हो जाता है :–

सरकारी वित्त में गड़बीड़ी*

वर्ष	अनुमानित घाटा बचत पौंड	वास्तविक घाटा बचत पौंड
1866–67	–66,700	–2,307,700
1867–68	1,628,522	–923,720
1868–69	1,893,508	–2,542,861
1869–70	48,263	–1,650,000 अनुमानित

*. हंटर, डब्ल्यू. डब्ल्यू : *लाइफ ऑफ मेयो,* दूसरा अंक, पृष्ठ 7–8 सारणी में दिए वास्तविक घाटे की संख्याएं भारत सरकार के सचिव श्री चैपमैन द्वारा लार्ड मेयो की योजना के संबंध में बंबई सरकार को लिखे 17.8.1870 के सर्कुलर पत्र में दी गई संख्याओं से भिन्न हैं। चैपमैन के अनुसार वास्तविक घाटे की संख्याएं निम्न हैं :–

1866–67 में वास्तविक घाटा था – 2.517,491 पौंड

1867–68 में वास्तविक घाटा था – 1,007,695 पौंड

1868–69 में वास्तविक घाटा था – 2,774,031 पौंड

सर्कुलर पत्र के संदर्भ हेतु देखें स्थानीय सरकारों की वित्तीय शक्तियों के विस्तार पर आलेख, पृ. 243

उपरोक्त सारणी से स्पष्ट है कि 1868-69 और 1869-70 के प्राक्कलन जो 1868-69 के प्राक्कलनों पर आधारित थे से क्रमश: 1,893,508 पौंड और 48,263 पौंड की बचत का अनुमान था। लेकिन जब वर्ष 1868-69 के अंत में बचत की जगह वास्तव में लंबा घाटा हाथ लगा तो उसी समय भारत के वायसराय की गद्दी पर विराजमान हुए लार्ड मेयो को यह विश्वास हो गया कि यदि इन परिणामों के आधार पर उन्होंने बजट बनाया तो उसका अंत बचत की बजाए वास्तविक घाटे में ही होगा। इस वित्तीय आश्चर्य ने मेयो के बजट को भ्रांति में डाल दिया और वित्तीय स्थिति सुधारने के लिए वित्त वर्ष के मध्य में ही उन्हें कर बढ़ाने और खर्चे में कटौती करने का असामान्य तरीका अपनाना पड़ा।

उनके द्वारा उठाए गए कदमों का सारांश निम्न हैं:–

	पौंड
1. अतिरिक्त कराधान	
(1) आयकर 1 प्रतिशत से बढ़ाकर 2½ प्रतिशत कर दिया गया	320,000
(2) नमक पर कर बढ़ा दिया गया (मद्रास और बंबई में)	180,000
योग	500,000
2. खर्चों में कटोती	
(1) शिक्षा	350,000
(2) सार्वजनिक निर्माण	800,000
योग	1,150,000
अनुमानित घाटा	1,650,000

संकट इतना विकट था कि इन सब उपायों के बावजूद अपने बजट में 1,650,000 पौंड का घाटा दिखाने के अतिरिक्त कोई रास्ता भी न था। घाटा इतना ही होता लेकिन सौभाग्य से अबीसीनिया के युद्ध में वस्तुओं की पूर्ति से हुए भावी मुनाफे और पुराने हिसाब के चुकता होने के कारण यह विशाल घाटे को थोड़े मुनाफे में बदल सके। अपने प्रयत्नों की सफलता पर प्रसन्न लार्ड मेयो अब आश्वस्त हो चुका था कि केन्द्रीय वित्त प्रणाली में कुछ न कुछ खोट अवश्य है। अत: इस प्रणाली को खत्म करने का इच्छुक न होते हुए भी उसने समझौते के रूप में प्रांतीय वित्त योजना का उद्‌घाटन कर केन्द्रीय वित्त प्रणाली को सुधारने का साहसिक कदम उठाया। इस योजना के विकास के बारे में हम भाग-II में चर्चा करेंगे।

भाग-II

प्रांतीय वित्त व्यवस्था (बजट) : इसका विकास

नियत (प्रांतीय) बजट

''...अपनी बुद्धिमता के कारण लार्ड मेयो ने वित्तीय घाटे और उतार-चढ़ाव का कारण साम्राज्यवादी सरकार की अयोग्यता और प्रांतीय सरकारों के गैर-जिम्मेदाराना व्यवहार में ढूंढ निकाला और वह इस नतीजे पर पहुंचे कि प्रांतीय बजट व्यवस्था आरंभ करने से समस्या का समाधान उसकी विकृति के समान ही होगा। लेकिन यह नहीं भूलना चाहिए कि स्थिति अभी भी साम्राज्यवादी हितों के पक्ष में थी और जबकि हर कोई किसी के हितों की बलि चढ़ा कर ऐसा नहीं करना चाहता था। यहां तक कि लार्ड मेयो भी साम्राज्यवादी हितों के प्रति झुकाव से मुक्त नहीं थे। लेकिन भ्रामक स्थितियों के बढ़ते दबाव ने उन्हें भी चली आ रही अनिर्णय और असमंजस की स्थिति से गुजरने पर मजबूर कर दिया, हालांकि प्रांतीय बजट के प्रारूप को तय करने में उन्होंने फूंक-फूंक कर कदम उठाए।''

–डॉ. भीमराव अम्बेडकर

4

नियत बजट

(1871-72 से 1876-77 तक)

प्रांतीय बजट योजना की निर्माण प्रक्रिया के मूल के बारे में चर्चा हम पहले भाग में कर चुके हैं। अब हम पुनर्स्थापित योजना के प्रारूप और समय-समय पर इसमें हुए परिवर्तन के बारे में चर्चा करेंगे।

अपनी बुद्धिमत्ता के कारण लार्ड मेयो ने वित्तीय घाटे और उतार-चढ़ाव का कारण साम्राज्यवादी सरकार की अयोग्यता और प्रांतीय सरकारों के गैर-जिम्मेदाराना व्यवहार में ढूंढ निकाला और वह इस नतीजे पर पहुंचे कि प्रांतीय बजट व्यवस्था आरंभ करने से समस्या का समाधान उसकी विकृति के समान ही होगा। लेकिन यह नहीं भूलना चाहिए कि स्थिति अभी भी साम्राज्यवादी हितों के पक्ष में थी और जबकि हर कोई किसी के हितों की बलि चढ़ा कर ऐसा नहीं करना चाहता था। यहां तक कि लार्ड मेयो भी साम्राज्यवादी हितों के प्रति झुकाव से मुक्त नहीं थे। लेकिन भ्रामक स्थितियों के बढ़ते दबाव ने उन्हें भी चली आ रही अनिर्णय और समंजस की स्थिति से गुजरने पर मजबूर कर दिया, हालांकि प्रांतीय बजट के प्रारूप को तय करने में उन्होंने फूंक-फूंक कर कदम उठाए।

वास्तव में 1871-72 के वित्तीय वर्ष से लागू की गई इस योजना की सबसे पहले चर्चा भारत सरकार के गृह विभाग द्वारा 21 फरवरी 1870 को जारी एक सर्कुलर में की गई थी। सर्कुलर में कटौती की नीति को व्यापक आयाम देते हुए 1869-70 के आरंभ में सड़क मद पर खर्चे की जो राशि 1,236,000 पौंड रखी गई थी वह वर्ष के अंत में घटा कर 1,021,178 पौंड कर दी गई। इसी प्रकार 1870-71 के प्राक्कलन को 1,000,000 पौंड से घटा कर 784,839 पौंड कर दिया गया जिसमें विभिन्न सार्वजनिक सुविधाओं की बेहतरी के लिए 29,110 पौंड की अतिरिक्त राशि जोड़ दी गई। सर्कुलर के माध्यम से प्रांतीय सरकारों को यह बताने की कोशिश की

गई कि "संचार तथा सड़क शीर्षों पर साम्राज्यवादी अनुदान राशि में कटौती वर्तमान वित्तीय ह्रास के दबाव के कारण उठाया गया अस्थाई कदम नहीं है बल्कि तयशुदा नीति का परिणाम है। नीति अस्थाई कारणों के प्रभाव से स्वतंत्र है और जानबूझ कर अपनाई गई है और इस बात की पूरी संभावना है कि आने वाले वर्षों में इन शीर्षों पर मिलने वाली विशेष अनुदान राशि बढ़ाने की बजाए घटा दी जाए। अतः यह जरूरी हो जाता है कि बिना समय गंवाए वर्तमान प्रांतीय और जिला स्तर की सड़कों के रख-रखाव तथा संचार की नई लाइनों के बिछाने के लिए स्थानीय स्रोतों से निधिया जुटाने का प्रावधान किया जाए।"

स्थानीय जरूरतों को स्थानीय संसाधनों द्वारा पूरा किए जाने का विचार तत्कालीन भारतीय पूंजीपतियों का आदर्श रहा था। लेकिन यह स्पष्ट है कि तब तक यह विचार शास्त्रीय बहस से ऊपर उठ चुका था क्योंकि सर्कुलर में कहा गया था "कि परिषद् में गवर्नर जनरल ने पूरी तरह से यह फैसला किया है कि भविष्य में वह इस सिद्धांत को पूरी तरह लागू करने पर जोर देंगे।" अनेक स्थानीय सरकारों ने परिपत्र (सर्कुलर) में व्यक्त भारत सरकार की भावनाओं को गंभीरतापूर्वक लिया और निजी स्थानीय संसाधनों के विकास का कार्य करने लगीं। बंबई प्रेसीडेंसी ने भूमि राजस्व (लगान) पर 6¾ प्रतिशत उपकर (चुंगी) लगा दी, जिसका दो-तिहाई हिस्सा सड़कों के रख-रखाव तथा सार्वजनिक उपयोगिता के कार्यों के लिए अलग रख दिया गया। 1866 के पुराने कानून के तहत मद्रास सरकार ने जिले की सड़कों के रख-रखाव के लिए भूमि राजस्व (लगान) की राशि पर वार्षिक किराए पर प्रति रुपया आधा आना प्रदान की, जो 3½ प्रतिशत के बराबर थी। बंगाल सरकार ने भी मद्रास की सरकार की भांति कदम उठाने की इच्छा जाहिर कर दी थी। स्थानीय सरकारों द्वारा उठाए गए इन कदमों से उत्साहित होकर परिपत्र (सर्कुलर) में अन्य स्थानीय सरकारों तथा उत्तर भारत के उत्तर पश्चिमी प्रांतों पंजाब, अवध और केन्द्रीय प्रांतों (सूबों) के प्रशासनों से अनुरोध किया गया कि वे भूमि राजस्व पर लगने वाली चुंगी को बढ़ा कर 5 प्रतिशत करने की संभावना पर विचार करें। इस कदम का उद्देश्य प्रांतीय सरकारों के हिस्से में अच्छा खासा राजस्व आ जाने की स्थिति में साम्राज्यवादी कोष पर दबाव को कम करना था।

इस तरह परिपत्र (सर्कुलर) में प्रांतीय बजट की एक बहुत मितव्ययी योजना तैयार की गई थी जिसमें केवल स्थानीय सार्वजनिक सुविधाओं पर होने वाले खर्च और इन खर्चों से निपटने के लिए स्थानीय संसाधनों से पैदा किए गए राजस्व का प्रावधान था। लेकिन इस योजना को कार्यान्वित करने से पहले ही भारत सरकार की वित्तीय कठिनाइयों ने सहायता के बड़े कदम उठाने के लिए मजबूर कर दिया। चूंकि हालात पहले से ही बदतर थे अतः अफीम के राजस्व के स्थायित्व पर ज्यादा भरोसा नहीं किया जा सकता था। और जबकि खर्चों में कटौती की जा रही थी, सार्वजनिक ऋण पर ब्याज की भुगतान राशि अत्यधिक बढ़ चुकी थी। ऐसी विषम परिस्थिति

में भारत सरकार ने आयकर की चालू दर को कम करने का निर्णय लिया। ऐसा आयकर की ऊंची दर के खिलाफ उठती अमीर तबकों की आवाज को बंद करने के लिए किया गया। आयकर की दर को कम करने से पैदा हुए 1,000,000 पौंड के अतिरिक्त घाटे को पूरा करने के संभावित तरीकों के रूप में भारत सरकार ने 17 अगस्त 1870 को एक अन्य गोपनीय परिपत्र (सर्कुलर) जारी किया जिसमें प्रांतीय बजट की तैयार की गई योजना को विस्तार दिया गया। इस परिपत्र (सर्कुलर) में यह कहा गया था कि :–

> "अगर आयकर घटता है तो सरकार को अन्य उपाय करने होंगे... मुख्यतः स्थानीय सरकारों के कार्यालयों के माध्यम से उन उपायों को अपना कर जो प्रत्येक प्रांत के लिए सबसे अधिक उपयुक्त हों तथा जनता पर कम से कम बोझ लादते हों।"

स्थानीय सरकारों पर बोझ लादने का जो तरीका अपनाया गया उसके तहत स्थानीय प्रकृति के प्रशासन के कुछ विभागों की जिम्मेदारी उन्हें सौंप दी गई और वित्तीय वर्ष 1870-71 के लिए इन विभागों को मिलने वाली वास्तविक सहायता 10 लाख पौंड स्टर्लिंग कम कर दी गई।[1] कम की गई राशि को विभिन्न प्रांतों के बीच कुल वास्तविक अनुदान राशि में से प्रत्येक प्रांत की वास्तविक अनुदान राशि के अनुपात में वितरित करने का प्रावधान रखा गया और उन्हें पूरी छूट दे दी गई कि अनुदान राशि में की गई कटौती को चाहे वे पुनर्वितरण, कटौती अथवा करों के माध्यम से

---

1. कुल अनुदान का तात्पर्य किसी सेवा पर हुए कुल खर्चे में से उस सेवा से हुई आमदनी को घटा कर जो शेष राशि बचती है से है।

प्रस्ताव के परिशिष्ट "बी" में उन कार्यों का उल्लेख है जिनके लिए साम्राज्यवादी राजस्व से निकाल कर राशि अलग रख दी गई थी। इन कार्यों में निम्नलिखित विभागों के भवनों और कार्यालयों के निर्माण का काम शामिल है :–

अफीम इसमें कलकत्ता स्थित बोर्ड ऑफ रेवेन्यू का कार्यालय शामिल नहीं है।
टकसल और मुद्रा।
डाकघर।
तारघर।
सर्वोच्च सरकार के कार्यालय।
वायसराय के आवास।
साम्राज्यवादी संग्रहालय।
टिकट और स्टेशनरी कार्यालय
कोषागार
विशप महल
} कलकत्ता
गोदावारी वर्क्स
कराची हार्बर सुधार
} वर्तमान में साम्राज्यवादी रूप में सुरक्षित
वे सैनिक सड़कें जिनके लिए चालू वित्त वर्ष तक सैन्य कार्य के तहत सहायता राशि का प्रावधान है।

पूरा करें। परिपत्र (सर्कुलर) की योजना पर प्रांतीय सरकारों की सहमति मिल जाने पर योजना की घोषणा 14 दिसम्बर 1870 के विख्यात वित्तीय प्रस्ताव के माध्यम से की गई और यह भी कहा गया कि योजना का कार्यान्वयन वित्तीय वर्ष 1871–72 से प्रारंभ हो जाएगा।

अब हम इस प्रस्ताव द्वारा प्रांतीय बजट की संरचना के विश्लेषण की ओर बढ़ेंगे। सबसे पहले प्रांतीय बजट में खर्चों के प्रावधान पर नजर डालने पर यह स्पष्ट है कि उसमें निम्नलिखित केन्द्रीय सेवाओं पर आने वाले खर्चे शामिल हैं :–

1. जेल
2. पंजीकरण
3. पुलिस
4. शिक्षा
5. चिकित्सा सेवाएं (चिकित्सा प्रतिष्ठानों के अतिरिक्त)
6. मुद्रण
7. सड़कें
8. सार्वजनिक सुधार कार्य
9. नागरिक भवन

प्रांतीय सरकारों के बजट में शामिल किए गए उपर्युक्त विभागों के खर्चों को पूरा करने के लिए आवश्यक राशि की पूर्ति भारत सरकार ने उन्हें सौंपी गई सेवाओं से होने वाली आय उन्हें देकर की और साथ ही बराबरी लाने के उद्देश्य से अतिरिक्त काम भी दिए। प्रांतीय सरकारों को सौंपी गई आमदनी और कार्यों का ब्यौरा निम्न प्रकार से है :–

14 दिसम्बर, 1870 के वित्तीय प्रस्ताव संख्या 3334 द्वारा प्रांतीय सरकारों के बजट में शामिल की गई सेवाओं के लिए दिए गए वितरण का ब्यौरा :–

सेवाओं के लिए केन्द्रीय/साम्राज्यवादी नियतन

प्रांतीय बजट में शामिल सेवाएं	अवध	सी.पी.	ब्रिटिश बर्मा	बंगाल	उत्तर पश्चिम प्रांत	पंजाब	मद्रास	बंबई	योग
	पौंड	पौंड	पौंड	पौंड	पौंड	पौंड	पौंड	पौंड	पौंड
जेल	26,922	27,881	32,777	218,210	88,394	58,204	91,983	73,440	617,811
पंजीकरण	–	3,509	–	36,609	20,129	11,623	22,970	25,372	120,212
पुलिस	103,269	130,607	139,253	555,757	348,135	289,950	350,730	388,703	306,409
शिक्षा	26,056	27,864	10,998	234,385	103,528	64,909	90,052	118,271	676,063
चिकित्सा सेवाएं	5,049	11,770	6,460	89,713	27,607	24,935	61,696	74,852	302,532
(चिकित्सा प्रतिष्ठानों के अतिरिक्त)									
मुद्रण	7,609	3,640	3,000	41,732	25,302	14,106	25,840	27,050	148,279
सड़कें और प्रकीर्ण सार्वजनिक सुधार									
कार्य	32,900	63,403	63,000	157,800	82,636	84,200	123,880	121,900	729,819
नागरिक भवन	20,090	14,406	23,959	111,370	63,341	39,710	58,506	107,500	438,882
सार्वजनिक निर्माण प्रतिष्ठान	13,777	20,230	22,635	69,984	37,954	32,217	47,421	59,644	303,862
औजार और संयंत्र	1,060	1,556	1,741	5,383	2,920	2,478	3,648	4,558	23,374
योग	237,182	304,866	303,923	1,520,943	799,946	622,332	876,726	1,001,320	5,667,243

सेवाओं से अनुमानित आय

प्रांतीय बजट में शामिल सेवाएं	अवध	सी.पी.	ब्रिटिश बर्मा	बंगाल	उत्तर पश्चिम प्रांत	पंजाब	मद्रास	बंबई	योग
	पौंड	पौंड	पौंड	पौंड	पौंड	पौंड	पौंड	पौंड	पौंड
जेल	1,575	6,000	9,420	110,385	11,154	–	7,300	664	146,498
पंजीकरण	–	5,500	–	40,000	35,030	20,694	34,000	30,141	165,356
पुलिस	10,586	12,520	18,671	70,363	51,730	41,724	32,350	14,000	251,944
शिक्षा	1,482	–	500	42,012	11,050	5,000	6,900	10,480	77,424
मुद्रण	1,080	–	–	2,000	2,160	–	1,260	–	6,500
योग	14,723	24,020	28,591	264,760	111,124	67,418	81,810	55,285	647,731
वास्तविक नियतन का कुल योग	222,459	280,846	275,332	1,256,183	688,822	554,914	794,916	946,040	5,019,312

14 दिसम्बर 1870 के संकल्प में दिए गए आंकड़ों के आधार पर बनाई गई तालिका

अगर भारत सरकार ने आयकर की दर में कमी से हुए घाटे की पूर्ति के लिए प्रांतीय संसाधनों में कटौती के माध्यम से राहत की इच्छा ही की होती तो प्रांतीय सरकारों को उनके बजट में शामिल सेवाओं के खर्चों की पूर्ति के लिए उपरोक्त कुल नियतन ही प्राप्त होता। शुरुआत में राहत की राशि 1,000,000 पौंड थी जिसे घटा कर 350,000 पौंड कर दिया गया और विभिन्न प्रांतों के बीच कर लगाने योग्य दर से बांट दिया गया। इन कटौतियों को ध्यान में रखते हुए प्रांतों को दिए गए स्थाई नियतन निम्न प्रकार हैं :–

प्रांत	आगामी नियतन पौंड	कटौती का अनुपात पौंड	स्थाई नियतन पौंड
अवध	222,459	15,511	206,948
सी.पी. (सेंट्रल प्रोविंसेज)	280,846	19,583	261,263
बर्मा	275,332	19,199	275,332
बंगाल	1,256,183	87,591	1,168,592
उत्तरी पश्चिमी प्रांत	688,822	48,030	640,792
पंजाब	554,914	38,693	516,221
मद्रास	794,916	55,428	739,488
बंबई	946,040	65,965	880,075
योग	5,010,512	350,000	4,688,711

पौंड को रुपये में बदलने के लिए :– 1 पौंड = 10 रुपये।

इस योजना को लागू करने से पहले भारत सरकार ने प्रांतीय बजट में निम्नलिखित अतिरिक्त सेवाओं[1] को भी शामिल कर दिया :– (1) बंगाल स्थित अफीम विभाग को छोड़ कर नागरिक विभाग में आने वाले सभी भवनों का रखरखाव तथा छुट-पुट निर्माण पर होने वाले खर्चे, बंगाल के निचले प्रांतों के बाहर स्थित विभाग और प्रेसीडेंसी शहरों में स्थित मेडिकल कालेजों, केन्द्रीय कारागारों, और पागलखानों के चिकित्सा अधिकारियों के वेतन, (2) मुफस्सिल में पागलखानों, कालेजों तथा केन्द्रीय कारागारों के चिकित्सा अधिकारियों को अतिरिक्त भत्ता, साथ ही जेल के प्रशासकीय कार्यों में लगे चिकित्सा अधिकारियों को अतिरिक्त भत्ते और (3) जिला स्तर पर

1. 20 मार्च 1871 का वित्त विभाग का संकल्प संख्या 1659

नागरिक चिकित्सीय कार्यों के इतर कार्यों में लगे उपसहायक शल्य चिकित्सकों तथा अन्य सभी निचले स्तर के चिकित्सा प्रतिष्ठानों पर खर्च जैसी चिकित्सा सेवाएं। इन अंतरणों के साथ-साथ भारत ने कलकत्ता विश्वविद्यालय को प्रांतीय बजट से निकाल कर साम्राज्यवादी बजट में डाल दिया।[1] सरकारी पोस्टेज[2] और बंगाल पुलिस[3] पर होने वाले खर्चे के संशोधन तथा उपरोक्त सेवाओं में बढ़त एवं घटत की जानकारी प्राप्त करने हेतु प्रांतीय सरकारों को मिलने वाले वर्ष 1871-72 के लिए साम्राज्यवादी नियतनों को आगे फिर इस तरह से बदल दिया गया जैसा कि पृ. 123 में दिखाया गया है।

सन् 1871-72 के वित्तीय वर्ष के लिए इन विवरणों के अलावा भारत सरकार ने स्थानीय सरकारों को वर्ष 1870-71 में 200,000 पौंड की विशेष राहत राशि दी ताकि प्रांतीय सरकारें उस योजना को सफलतापूर्वक लागू कर सकें और एक सही शुरुआत कर सकें।

संख्या के हिसाब लगाने पर अनेक प्रांतीय सरकारों के पास वर्ष 1871-72 में उनके बजट में शामिल किए गए खर्चों की पूर्ति के लिए निम्नलिखित संसाधन थे[4] :-

प्रांतीय बजट के लिए संसाधन	साम्राज्यवादी सरकार द्वारा सौंपी गई प्राप्तियां	साम्राज्यवादी कोष से नियतन	योग
	पौंड	पौंड	पौंड
अवध	14,700	211,300	226,000
सी.पी. (सेंट्रल प्रोविंसेज)	24,000	269,600	293,000
बर्मा	28,600	276,500	305,100
बंगाल	264,800	1,197,900	1,462,700
उत्तर पश्चिमी प्रांत	110,000	635,000	745,000
पंजाब	67,400	528,800	596,200
मद्रास	81,890	752,300	834,100
बंबई	55,300	901,200	956,500

1. सचिव द्वारा भारत सरकार को लिखा गया पत्र, वित्त विभाग न. 1683, दिनांक 21 मार्च 1871।
2. 20 मार्च, 1871 का वित्त विभाग का सकल्प संख्या 1659
3. 20 मार्च, 1871 का वित्त विभाग का संकल्प संख्या 1857
4. वर्ष 1871-72 का वित्तीय वक्तव्य

1871-72 के लिए साम्राज्यवादी नियतन

	अवध	सी.पी.	ब्रिटिश बर्मा	बंगाल	उत्तर पश्चिम प्रांत	पंजाब	मद्रास	बंबई	कुल योग
	पौंड	पौंड	पौंड	पौंड	पौंड	पौंड	पौंड	पौंड	पौंड
14 दिसम्बर 1870 के संकल्प के अनुसार नियतन	169,355	205,271	192,488	1,176,406	613,095	463,727	643,271	707,693	4,171,306
जमा कर									
आफिशियल पोस्टेज चिकित्सा सेवाओं का अंतरण	1,551	5,093	–	4,893	10,840	8,031	4,163	4,311	38,882
लघु निर्माण और असैनिक	2,139	1,767	745	6,649	5,624	2,828	7,597	8,500	35,849
भवनों की मरम्मत का अन्तरण	699	1,778	420	6,508	2,555	1,908	1,050	4,050	18,968
अन्य मद	–	–	–	7,866	1,485	–	–	4,600	13,753
					6,33,599				4,278,758
कटौती									
भारत सरकार के अजमेर के खर्चों से अन्तरण	–	–	–	–	28,714	–	–	–	28,714
कुल	173,744	213,909	193,653	1,202,124	604,885	476,494	656,081	729,154	4,250,044

1871-72 के लिए साम्राज्यवादी नियतन

	अवध	सी.पी.	ब्रिटिश बर्मा	बंगाल	उत्तर पश्चिम प्रांत	पंजाब	मद्रास	बंबई	कुल योग
	पौंड	पौंड	पौंड	पौंड	पौंड	पौंड	पौंड	पौंड	पौंड
कटौती									
1870-71 के बजट से आय	14,723	24,020	28,591	260,578	109,992	67,418	81,810	55,285	642,417
असैनिक विभाग पर व्यय	159,021	189,889	165,062	941,546	494,893	409,076	574,271	673,869	3,607,627
जमा कर 14-12-1870 के संकल्प के अनुसार लोक निर्माण के लिए बजट अनुदान यथा :									
सड़कें और विभिन्न लोक सुधार कार्य	32,900	63,403	63,100	157,800	82,636	84,200	23,880	121,900	729,819
असैनिक भवन	20,090	14,406	23,959	111,370	63,341	39,710	58,506	107,500	438,882
लोकनिर्माण कार्य प्रतिष्ठान	13.777	20,230	22,635	69,984	37,954	32,217	47,421	49,644	303,862
औजार और संयंत्र	1,060	1,556	1,741	5,383	2,920	2,478	3,648	4,588	23,374
लोक निर्माण कार्य का योग	67,827	99,595	111,435	344,537	186,851	158,605	233,455	293,632	1,495,937
पूर्ण योग	226,848	289,484	276,497	1,286,083	681,744	567,681	807,726	967,501	5,103,564
कटौती									
पौंड 350,000 का औसत	15,557	19,853	-	88,199	46753	38,931	55,394	66,351	331,038
संशोधित स्थायी नियतन	211,291	269,631	276,497	1,197,884	634,991	528,750	752,332	901,150	4,772,526
अथवा एकमुश्त संख्या में	211,300	269,600	276,500	1,197,900	635,000	528,800	752,300	901,200	4,772,600
भारत योग	-	-	-	-	-	-	-	-	26,700
						योग			4,799,300

1. 20 मार्च, 1871 के वित्त विभाग के संकल्प संख्या 1660 पर आधारित।
2. उपरोक्त तालिका में 'भारत संदर्भ' का तात्पर्य कलकत्ता विश्वविद्यालय और कुर्ग एवं अजमेर तथा अन्य जिलों की प्रांतीय सेवाओं पर (लोक निर्माण कार्य छोड़कर) होने वाले व्यय से है जिनका प्रशासन सीधे भारत सरकार के अधीन है – सर रिचर्ड टेम्पिल का वर्ष 1871-72 के लिए वित्तीय वक्तव्य।

प्रांतीय बजट के स्वरूप की समीक्षा करने तथा उनमें शामिल आमदनी और खर्चों का ध्यान रखने के बाद हम वर्ष 1870–71 में निर्धारित उनकी संरचना की विशेषता पर ध्यान देंगे। इस विशेषता को जानने का सबसे सही तरीका यही होगा कि हम उन समस्याओं की तह में जाएं जो प्रांतीय बजट तैयार करने वालों के सामने आईं और उन्होंने कैसे उन्हें सुलझाया। प्रांतीय बजटों को लेकर उठे विवाद की जानकारी के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि विवाद प्रांतीय बजटों में रखे जाने वाले खर्चे के मदों को लेकर नहीं था क्योंकि यह बहुत पहले ही तय हो चुका था कि साम्राज्यवादी बजट में कुछ खर्चे नितांत स्थानीय प्रकृति के हैं। उनके साम्राज्यवादी बजट के असंतुष्ट हिस्सा होने पर आम सहमति थी। इस बात पर भी आम सहमति थी कि इन खर्चों के बारे में कुछ न जानने वाली भारत सरकार या तो एक ऐसे गैर–जरूरी खर्चे को सत्यापित करने पर मजबूर थी जिसे एक विभाग का अध्यक्ष लापरवाहीपूर्वक पास करता रहा है बिना इस पर ध्यान दिए कि जनता के पैसे की बरबादी हो रही है, या फिर अचानक कृपणता के अत्यधिक सावधान नजरिए द्वारा या लोक राजस्व की दशा से संचालित कृपणता के माध्यम से इन खर्चों को पास नहीं करते और लाभकारी खर्चों पर रोक लगा देते। दोनों में से कोई भी तरीका शरारतपूर्ण कार्यवाइयों को जन्म दे सकता था। अतः आम सहमति से तय किया गया कि अपनी अनभिज्ञता के चलते केन्द्रीय सरकार जिन विषयों पर अंकुश लगाने में असमर्थ है उन्हें केन्द्र सरकार के सीधे अधिकार क्षेत्र से निकाल कर प्रांतीय सरकारों के जिम्मे सौंप दिया जाए। इस तरह समस्या का एक पहलू मात्र स्थितियों के दबाव के कारण ही सुलझ गया। जिस मुद्दे पर सबका ध्यान केन्द्रित था वह प्रांतीय सरकारों को बजट में शामिल खर्चों की पूर्ति के लिए दी जाने वाली राशि की समस्या थी। इस बात पर सब सहमत थे कि प्रांतीय सरकारों के बजट में शामिल की गई सेवाओं से होने वाली आय उन सरकारों के हिस्से में ही जानी चाहिए। यह प्रणाली अपनाने के पक्ष में दो तरह के तर्क पेश किए गए। अच्छे वित्त के इस सिद्धांत के आधार पर प्रांतीय सरकारों द्वारा स्वयं चलाई जा रही सेवाओं से हुई आय को ले लेना उचित ही था। लेकिन इस निर्णय के पीछे एक अन्य दमदार कारण भी था। प्रांतीय बजट की अवधारणा के पीछे मुख्य विचार वित्त के न्यायपूर्ण तथा मितव्ययी प्रबंध के प्रति प्रांतीय सरकारों की रुचि जगाना था। ऐसा करने का एक रास्ता उनके द्वारा प्रबंधित सेवाओं से हुई आय को उनके हवाले करना था। लेकिन यह आय प्रांतीय खर्चों की पूर्ति के लिए आवश्यक कुल राशि का इतना छोटा हिस्सा थी कि प्रांतीय बजटों में संतुलन बनाने की समस्या बनी ही रही। ऐसे में समस्या सुलझाने के लिए भारत सरकार के समक्ष दो संभावित रास्ते थेः– या तो साम्राज्यवादी राजस्व के कुछ संसाधनों को प्रांतीय सरकारों के इस्तेमाल के लिए उन्हें अन्तरित कर दिया जाए या साम्राज्यवादी कोष से निश्चित राशि दी जाए। कुछ समय के लिए यह निश्चित करना मुश्किल हो गया कि दोनों में से कौन–सा रास्ता ज्यादा सही है क्योंकि वे न केवल विशेषताओं में असमान थे बल्कि वे संबंधित

विभिन्न पक्षों के लिए अलग–अलग अर्थ रखते थे। प्रांतीय सरकार के लिए स्थिर मदों की तुलना में राजस्व का बंटवारा ज्यादा फायदेमंद था क्योंकि इससे उसकी वित्तीय स्थिति में ज्यादा लोच की संभावना थी। इसके विपरीत राजस्व के बंटवारे का मसला केन्द्रीय सरकार की नजर में गंभीर परिणामों से ग्रस्त था। भारत की पूर्व और वर्तमान वित्तीय स्थिति केन्द्र सरकार द्वारा राजस्व के स्रोतों के बंटवारे के पक्ष में कतई नहीं थी। दूसरी ओर भविष्य में उसकी स्थिति उतनी ही असंतुष्ट दिखाई देती थी जितनी भूतकाल में थी अतः वह संसाधनों पर अपना स्वामित्व बनाए रखना चाहती थी ताकि भविष्य में आने वाले संकट से निपटा जा सके। दूसरी ओर दूसरे विकल्प के तहत भारत सरकार अपने संसाधनों पर अंकुश गंवाए बिना प्रांतों को उचित राशि दे सकती थी। यहां यह नहीं भूलना चाहिए कि अपनी संवैधानिक हैसियत के कारण देश के समस्त राजस्व के प्रबंधन और उपभोग का अधिकार भारत सरकार को ही था। अतः प्रांतों की वित्तीय समस्याओं संबंधी कोई भी समाधान केन्द्र के हितों को ध्यान में रखते हुए ही किया जा सकता था। ऐसी स्थिति में प्रांतीय बजट की संरचना संबंधी मुख्य समस्या के समाधान के रूप में राजस्व के नियतन की अपेक्षा कार्य नियतन की विधि का इस्तेमाल किया गया।

चूंकि प्रांतीय बजटों को बराबरी में लाने के लिए साम्राज्यवादी कोष से राशि के नियतन की विधि अपनाई गई थी अतः 1871–72 में लागू की गई व्यवस्था को इस अध्ययन में नियतन द्वारा बजट की विधि कहा गया है।

इस सिद्धांत पर आधारित 1871–72 में निर्मित प्रांतीय बजट वर्ष 1876–77 तक जारी रहे। 1871–72 वर्ष के लिए प्रांतीय सरकारों को दी गई राशि को सावधि तथा आवर्ती घोषित कर दिया गया। वे आवर्ती अवश्य थीं लेकिन सावधि नहीं थीं। क्योंकि शुरुआत से ही प्रत्येक वर्ष भारत सरकार प्रांतीय बजट में शामिल किए गए खर्चों में किए गए इन परिवर्तनों के अनुसार साम्राज्यवादी नियतन को जरूरत के हिसाब से या तो बढ़ाना पड़ा या कम करना पड़ा। 1871–72 से 1876–77 तक विशेष कार्यों के लिए मान्य नियतन में प्रगतिशील परिवर्तन निम्नलिखित तालिकाओं में दर्शाए गए हैं:–

वर्ष 1871–72 के लिए प्रांतों को साम्राज्यवादी नियतन का विवरण

नियतन का उद्देश्य	नियतन की गई धन राशि	
	ब्यौरा	कुल राशि
	रु.	रु.
1	2	3
मूल नियतन		1,19,79,000
जमा किए गए		
कब्रिस्तान के प्रतिष्ठानों के लिए	4,000	

1	2	3
आगरा ब्रिक कम्पनी (ईंट भट्टा)		
को मुआवजे के लिए	28,000	
कार्यालय और गृह कर के लिए	82,000	1,14,000
		1,20,93,000
कटौती की गई		
अपराधियों के आवगमन पर खर्च	15,000	
पाल नौकाओं की लाइसेंस फीस के लिए	2,600	
लोक निर्माण विभागों को अदायगी के लिए	1,07,000	1,24,690
		1,19,68,310
जमा किए गए		
कलकत्ता विश्वविद्यालय के लिए	60,000	
मिदनापुर के सिविलकोर्ट भवन के लिए	31,680	
कलकत्ता स्माल काजेज कोर्ट भवन के लिए	50,000	3,41,680
		1,23,09,990
वर्ष 1871-72 के लिए कुल नियतन		1,23,09,990

वर्ष 1872-73 के लिए प्रांतों को साम्राज्यवादी नियतन का विवरण

नियतन का उद्देश्य	नियतन की गई धन राशि	
	ब्यौरा रु.	कुल राशि रु.
1	2	3
मूल नियतन		1,19,79,000
जमा किए गए		
1871-72 में स्थाई वृद्धि (उपरोक्त)	1,14,000	
प्रकीर्ण सेवाओं के लिए	2,67,070	
पुस्तकों एवं प्रकाशनों के लिए	7,600	

1	2	3
हावड़ा स्थित अनाथ स्कूल के भूमि	266	3,88,936
किराए के लिए		1,23,67,936
बढ़ौती की गई		
1871-72 में स्थाई कटौती (उपरोक्त)	1,24,680	
विश्वविद्यालय के मरम्मत पर खर्च	5,700	1,30,390
		1,22,37,546
विशेष अनुदान		
जमा किए गए		
बर्दवान में फैले ज्वर सहायता के लिए	1,00,000	
सदर कोर्ट भवन के लिए मुआवजा	4,00,000	
सरकारी कार्यालयों के लिए 21,000 रु. के वार्षिक किराए का पूंजीगत मूल्य	4,66,670	9,66,670
		1,32,04,216
		380
आंशिक कटौती		
वर्ष 1871-72 के लिए कुल नियतन		1,32,03,836

वर्ष 1873-74 के लिए प्रांतों को साम्राज्यवादी नियतन का विवरण

नियतन का उद्देश्य	नियतन की गई धन राशि	
	ब्यौरा रु.	कुल राशि रु.
1	2	3
उपरोक्त अनुसार		1,22,37,546
1872-73 के लिए स्थाई नियतन		
जमा किए गए		
नागरिक प्रतिष्ठानों के प्रभारी चिकित्सा अधिकारियों के भुगतान के लिए	3,85,000	

1	2	3
भूमि राजस्व (लगान) उप विभाग प्रतिष्ठानों के लिए	1,00,000	4,85,000
		1,27,22,546
कटौती की गई		
सरकारी कार्यालयों के किराए के लिए कटौती	21,000	21,000
		1,27,01,546
1873-74 के लिए स्वीकृत धन राशि		
जमा किए गए हावड़ा अनाथ स्कूल की भूमि का किराया	266	
यूरोपीय खानाबदोशों पर खर्च	11,500	
भूमि का किराया	6,300	18,066
कटौती की गई		
साम्राज्यवादी क्षेत्रों के लिए प्रांतों से हटाए गए चिकित्सा छात्रों को भुगतान के लिए		5,400
क्षेत्रों के लिए प्रांतों से हटाए नागरिक प्रतिष्ठानों में		3,90,400
कार्यरत चिकित्सा अधिकारियों के वेतन	3,85,999	1,23,28,666
जमा किए गए		
स्माल काजेज कोर्ट भवन के किराए के लिए		14,400
कुल नियतन		1,23,43,066

वर्ष 1874-75 के लिए प्रांतों को साम्राज्यवादी नियतन का विवरण

नियतन का उद्देश्य	नियतन की गई धन राशि	
	ब्यौरा रु.	कुल राशि रु.
1	2	3
उपरोक्तानुसार 1873-74 के लिए स्थाई नियतन		1,23,28,666

1	2	3
जमा किए गए		
मुस्लिम शिक्षका के		
(बढ़ावे देने के लिए नियतन)	50,000	50,000
स्वीकृत नियतन		1,23,78,000
जमा किए गए		
मॉडल फॉर्म के लिए अनुदान	7,000	
भूमि किराए के लिए अतिरिक्त अनुदान	1,180	8,180
		1,23,86,180
कटौती की गई		
चर्च और कब्रिस्तान पर खर्चे में कमी	14,314	
असम के हस्तांतरण के कारण खर्चे में कमी	13,30,000	
हावड़ा अनाथ स्कूल की भूमि का किराया	266	13,44,580
कुल स्वीकृत नियतन		1,10,41,600

वर्ष 1875-76 के लिए प्रांतों को साम्राज्यवादी नियतन का विवरण

नियतन का उद्देश्य	नियतन की गई धन राशि	
	ब्यौरा	कुल राशि
	रु.	रु.
1	2	3
उपरोक्तानुसार		
1873-74 के लिए स्थाई नियतन		1,10,41,000
जमा किए गए		
वानस्पतिक उद्यानों के लिए अनुदान	52,500	
भूमि के किराए के लिए अनुदान	1,180	53,680
		1,10,94,680
कटौती की गई		
नमक विभाग के तहत लोक निर्माण कार्यो पर खर्च	13,683	

1	2	3
हटाए गए जहाज और लाइट हाउसों के लिए नियतन	1,769	33,163
असम की नगर सुधार निधि के संबंध में नियतन		17,711
कुल नियतन		1,10,61,517

वर्ष 1876-77 के लिए प्रांतों को साम्राज्यवादी नियतन का विवरण

	नियतन की गई धन राशि	
नियतन का उद्देश्य	ब्यौरा रु.	कुल राशि रु.
1	2	3
1875-76 के लिए स्थाई नियतन		1,10,41,000
जमा किए गए		
भूमि के किराए के लिए	1,180	
वानस्पतिक उद्यानों के लिए	52,500	53,680
		1,10,94,680
कटौती की गई		
नमक विभाग के तहत लोक निर्माण कार्यों पर खर्च		13,683
		1,10,80,997
कटौती की गई		
फार्म स्टोर विभाग के लिए	8,034	
जमा किए गए		
प्रदर्शनी और मेलों के लिए	2,000	6,034
कुल		1,10,74,963
स्वीकृत आय में नियतन		1,10,75,000
जमा किए गए		
बांकी तथा उंगूल जागीर के लिए अनुदान	3,271	

1	2	3
सांप के जहर के आयोग, प्रतिष्ठानों तथा आपातकालीन जरूरतों पर व्यय	6,000	
मर्दुमशुमारी रजिस्टर के लिए अनुदान	49,482	58,753
		1,11,33,753
कटौती की गई		
हटाए गए लाइट हाउस और लाइट शिप पर नियतन	1,769	
असम की नगरसुधार निधि के संबंध में नियतन	17,711	
तेजपुर पागलखाने में हस्तांतरित पागलों पर वार्षिक व्यय	2,700	22,180
कुल नियतन		1,11,11,573

समय-समय पर बजट में शामिल सेवाओं का तथा नियतन बजट की व्यवस्था के कार्यकाल के दौरान साम्राज्यवादी कोष द्वारा आबंटित राशि का पूरा ब्यौरा मिलता है। अब यह देखना है कि क्या नियतन योजना के तहत व्यवस्था सफल रही? सफलता के मापदंड पर हमेशा बहस हो सकती है क्योंकि एक दृष्टिकोण से जो सफल नजर आ रहा हो, दूसरे दृष्टिकोण से वही असफल नजर आ सकता है। लेकिन सफलता के सवाल पर बहस को टाला नहीं जा सकता क्योंकि प्रांतीय वित्त के फैलाव के दौरान पहले कदम की सफलता के आधार पर ही दूसरे कदम को बढ़ाया गया था। चूंकि सफलता की परिभाषा दृष्टिकोण के हिसाब से बदल जाती है, अतः अपनी खोजबीन के लिए हमें दृष्टिकोणों की जानकारी ले लेना उचित होगा। अतः हम उन पक्षों की छानबीन करें जिनके दृष्टिकोण प्रांतीय वित्त के स्वरूप को तय करने में अहम भूमिका रखते थे और परिणामों को लेकर जिनके संतोषजनक विचारों के बिना नया कदम उठाना संभव नहीं था। स्पष्टतः भारत सरकार और प्रांतीय सरकार दो मुख्य पक्ष थे। लाजिमी है कि दोनों के विचार भले ही परस्पर विरोधी हों पर अलग-अलग जरूर थे। भारत सरकार के दिमाग में अहम् सवाल था कि हस्तांतरण साम्राज्यवादी कोष को कितना फायदा पहुंचाएगा। उधर प्रांतीय सरकारों को चिंता थी कि क्या भारत सरकार द्वारा प्रस्तुत संसाधन बजट में शामिल खर्चों के प्रबंधन की जिम्मेदारी निर्वाह करने में सक्षम होंगे। यह स्पष्ट है कि प्रांतीय सरकारें तक तब विशेष नियतन के तहत साम्राज्यवादी खर्चे का प्रबंधन नहीं करतीं जब तक वह इससे आश्वस्त नहीं हो जातीं, कि नियतन उचित मात्रा में किया गया है। इसी प्रकार साम्राज्यवादी सरकार

भी तब तक अन्तरण करने को तैयार नहीं थी जब तक कि प्रांतीय सरकारें खर्चे का प्रबंधन साम्राज्यवादी सरकार द्वारा सीधे प्रबंधन में आने वाली लागत से कम लागत में करने को तैयार नहीं होती। अत: योजना तत्व को बरकरार रखने और विस्तारित करने में दो कारण प्रमुख रहे—प्रांतों का उचित नियतन तथा साम्राज्यवादी कोष को लाभ। तीसरे तत्व के रूप में प्रांत की जनता को लिया जा सकता है जिसकी सहमति तत्कालीन परिस्थिति में आवश्यक हो गई थी। आम जनता का दृष्टिकोण क्या रहा होगा? यह पूछने का सवाल नहीं है। दूसरी ओर, राजनीतिक प्रगति की लोकप्रिय मांग से परिचित व्यक्ति आसानी से कल्पना कर सकता है कि करदाताओं का सरोकार न तो साम्राज्यवादी सरकार और न ही प्रांतीय सरकारों की भलाई से था, उनका सरोकार तो खर्चों के विभिन्न मदों के तहत दी गई राशि के वितरण से था और यदि योजना की प्रगति का आधार योजना के परिणामों पर जन सहमति को बनाया गया होता तो संभव है कि प्रांतीय वित्त का विकास विभिन्न स्तरों पर होता।

उस समय यह सुझाव भी आया कि देश के वित्तीय रख-रखाव की दिशा तय करने में देश की जनता की भी भागीदारी होनी चाहिए। अस्थाई वित्त योजना की घोषणा करने वाले 14 दिम्बर, 1870 के संकल्प के पैरा 19 में सरकार ने घोषणा की कि:—

''प्रत्येक स्थानीय सरकार गवर्नर जनरल की विधान परिषद् में बनी वित्तीय व्यवस्था के समान स्थानीय विधान परिषद् के समक्ष तैयार की गई वित्तीय व्याख्या के साथ-साथ अपना प्रांतीय सेवा प्राक्कलन और लेखा स्थानीय गजट में छपवाएगी।''

यदि यह सुझाव स्वीकार कर लिया गया होता तो भारत सरकार और प्रांतीय सरकारों के बीच वित्तीय आयोजन तय करने में करदाता की भी भूमिका होती। लेकिन इस सुझाव को क्रियान्वित करने में कुछ कानूनी अड़चने थीं। यदि परिषद् में बजट को रखा जाता और उस पर बहस चलती तो यह प्रक्रिया भारतीय परिषद् कानून (24 और 25 विक, सी. 67) की धारा 38 के प्रतिकूल होती और इसलिए गैर-कानूनी होती। यदि बजट में कर समाहित होता तो ऐसा नहीं होता। क्योंकि कानून में स्पष्ट तौर से कहा गया है कि कानूनी उद्देश्य के अलावा किसी अन्य कार्य के लिए विधान परिषद् की कार्यवाही नहीं चलाई जा सकती। दूसरी तरफ यदि बजट पर बहस नहीं हो सकती तो उसका इस तरीके से प्रचार करने का कोई मतलब नहीं क्योंकि सरकारी गजट में बजट का प्रकाशन करके उसे सुरक्षित नहीं बनाया जा सकता था। इन कठिनाइयों के समाधान के तौर पर मद्रास की सरकार ने भारत सरकार के सामने प्रस्ताव[1] रखा:—

---

1. भारत सरकार के वित्त विभाग को लिखा पत्र, संख्या 147, दिनांक 18 अप्रैल, 1871

''कि प्रांतीय बजट को विनियोग विधेयक की अनुसूची में शामिल कर लिया जाए जिसके विषयों पर आवश्यक दलीलों और बहस के उपरांत धारा दर धारा मतदान कराया जाए।'' लेकिन स्वयं सबसे पहले विषय प्रवर्त्तन करने वाली भारत सरकार इस सुझाव से हत्प्रभ हो उठी। उसे यह क्रांतिकारी कदम लगने लगा। अपने जवाब[1] में उसने कहा:–

2. ''परिषद् में महामहिम ऐसा नहीं मानते कि वार्षिक वित्तीय वक्तव्य को भारतीय परिषद् के कानून की धाराओं के तहत लाना उचित या संभव होगा। हाउस ऑफ कामन्स द्वारा विनियोग विधेयक को पारित करना एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके द्वारा विधानसभा के संकल्पों को कमेटी ऑफ सप्लाई में लागू किया जा सके, और जो विनियोग विधेयक के पारित होने तक कानून का रूप नहीं ले सके। विधेयक अधिवेशन के दौरान दी गई प्रत्येक सहायता राशि की चर्चा करता है और कमेटी ऑफ सप्लाई द्वारा पारित विभिन्न राशियों को जारी करने तथा प्रत्येक अलग सेवा में लागू करने का अधिकार देता है। विधेयक में यह भी कहा गया है कि विभिन्न सहायता और पूर्तियां उन्हीं प्रयोजनों में जारी या लागू की जाएंगी जिनका उल्लेख किया गया है।

3. ''परिषद् में महामहिम मानते हैं कि इस तरह की प्रक्रिया भारत में उचित नहीं होगी और हो सकता है कि लोकधन के वितरण संबंधी समस्त शक्तियां कार्यपालिका के हाथ से निकल कर विधायिका के हाथों में पहुंच जाएं। अतः महामहिम महोदय ऐसा मानते हैं कि विनियोग विधेयक को पेश करना उचित नहीं होगा।''

इस आदेश के विरोध में मद्रास सरकार ने भारत सचिव[2] से प्रार्थना की कि या तो वार्षिक विनियोग कानून का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया जाए या फिर:–

''परिषद् के कानून में ऐसा बदलाव लाया जाए जो वित्तीय वक्तव्य को कानूनी तौर पर बनाया गया और स्थानीय विधान परिषद् में बहस करने के काबिल माने जाने की अनुमति देता हो।''

लेकिन भारत सचिव ने भारत सरकार के निर्णय[3] को ही सही माना और उसके कारण देते हुए कहा कि:–

''इस तरह की प्रक्रिया कार्यकारिणी पर पूरी तरह से नियंत्रण रखने वाली जन–प्रतिनिधि सभा में ही लागू हो सकती है। और ऐसी कोई भी शक्ति संसद ने भारत की विधान परिषद् से अलग रखी है।''

---

1. मद्रास को लिखा वैधानिक पत्र संख्या 765, दि. 11 जुलाई, 1871
2. 19 सितम्बर, 1871 को मद्रास सरकार के वित्तीय विभाग द्वारा भारत सचिव को लिखा गया पत्र और इसके साथ ही पूरा पत्र–व्यवहार।
3. 18 जनवरी, 1872 को भारत सरकार को भेजा गया वैधानिक संदेश सं. 4

अतः सुझाव वापस ले लिया गया और 1921 तक उसे लागू नहीं किया गया। चूंकि साम्राज्यवादी और प्रांतीय सरकारों के बीच वित्तीय समझौते की रूपरेखा तय होते समय जनता की आवाज को कोई महत्व[1] नहीं दिया गया, अतः यह बात कोरी महत्व की नहीं कि अगर जनता की आवाज को महत्व दिया गया होता तो परिणामों के प्रति उनकी रुचि भी होती। जहां तक पिछले परिणामों का सवाल है तो हमें उन परिणामों की जानकारी लेनी है जिनमें समझौते के बाकी दो पक्षों की रुचि थी और ये हैं:– साम्राज्यवादी कोष को लाभ तथा प्रांतीय सरकारों को मिलने वाली समुचित राशि। पहले प्रांतीय सरकार को मिलने वाली राशि की उचित मात्रा की परीक्षा करने के लिए उस अवधि के परिणामों को प्रांतीय बजट व्यवस्था के दायरे में लाए गए प्रांतों में से प्रत्येक प्रांत के वित्त में हुए वार्षिक घाटे और बचत से आंका जा सकता है।

प्रांतीय बचत और घाटा

प्रांत	1871–72 पौंड	1872–73 पौंड	1873–74 पौंड	1874–75 पौंड	1875–76 पौंड	1876–77 पौंड
सी. पी. (सेंट्रल प्रोविंसेज)	20,988	8,423	2,268	13,108	8,307	16,800
ब्रिटिश बर्मा	27,634	33,832	9,922	21,889	5,471	5,100
असम	–	–	–	5,159	590	9,833
बंगाल	180,622	74,622	393,955	271,044	27,397	46,998
उत्तर पश्चिमी प्रांत और अवध	31,595	64,836	36,358	11,693	29,945	128,501
पंजाब	109,828	28,008	33,347	117,644	92,724	26,908
मद्रास	40,787	19,264	56,381	4,303	14,210	504
बंबई	65,553	128,805	64,373	9,929	18,354	140,718

वर्ष विशेष के लिए भारत सरकार के वार्षिक वित्त और राजस्व लेखा से तैयार।

इन आंकड़ों से स्पष्ट है कि आवृत्ति और मात्रा में घाटे की तुलना में बचत इतनी अधिक थी कि घाटे को आसानी से एकत्रित बचत द्वारा पूरा किया जा सकता था, साथ की इस बचत के खत्म होने का खतरा भी नहीं था। हालांकि प्रांतीय सरकारों की इस खुशहाली के कारण समझाने में सतर्कता बरतनी होगी। हमें यह पता करना है कि क्या वास्तव में प्रांत साम्राज्यवादी सरकार द्वारा नियतन

1. यह मुद्दा कि विकेन्द्रीकरण का तब तक विसतार न किया जाए जब तक कि जनप्रतिनिधियों की राजनीतिक तथा वित्तीय शक्तियां कम न की जाएं 1908 तक नहीं उठाया गया। इस मुद्दे को स्वर्गीय माननीय श्री गोखले ने भारत के विकेन्द्रीयकरण के रायल कमीशन के समक्ष गवाही देते हुए कहा था।

से आय तथा प्राप्तियों का संतुलन बनाए रखने में सफल रहा। इस सवाल का जवाब स्पष्ट शब्दों में नहीं दिया जा सकता क्योंकि जिन संपूर्ण संसाधनों और परिवर्तनों की ओर उपरोक्त आंकड़े इंगित करते हैं कि उनमें प्रांतीय प्रबंधन के लिए अलग रखे आय और नियतन से भी अधिक शामिल है। साम्राज्यवादी नियतन और शामिल की गई सेवाओं से हुई आय के अतिरिक्त उनमें स्थानीय निधियों का हिस्सा भी शामिल था। उल्लेखनीय है कि प्रांतीय वित्त को साम्राज्यवादी वित्त से अलग करने के बहुत पहले ही 1855 में ब्रिटिश इंडिया में साम्राज्यवादी वित्त और प्रांतीय वित्त को अलगखानों में बांटा जा चुका था। जब स्थानीय निधियों को अलग किया गया तो उसका फौरी तौर से प्रबंधन अनेक प्रांतीय सरकारों के जिम्मे आ गया और दो अलग-अलग श्रेणियों में बांट दिया गया– (अ) वह धन राशि जो कानून अथवा परंपरा के तहत उन्हीं जिलों तथा उन्हीं मदों पर खर्च की जानी थी जिन जिलों से और जिन मदों के लिए वह एकत्रित की गई थी, (ब) वह धनराशि जो पूरे प्रांत के स्तर पर एकत्रित की गई थी और जिसके खर्चे का एकमात्र अधिकार प्रांतीय सरकार को ही था। जब प्रांतीय वित्त योजना का शुभारंभ हुआ तो श्रेणी की स्थानीय निधि को प्रांतीय निधि में मिला देना ही व्यावहारिक समझा गया। यह जान पाना कठिन है कि प्रांतीय संसाधनों में कुल कितनी बढ़ोतरी हुई लेकिन तत्कालीन[1] वित्त मंत्री सर जान स्ट्रेची की मान्यता है कि यह बढ़ोतरी ''साधारण थी अतः नई व्यवस्था के वित्तीय परिणामों को किसी खास स्तर तक प्रभावित करने में असमर्थ थी।[2]''

साम्राज्यवादी कोष को हुए फायदे की मात्रा के सवाल पर हमें बहुत समय तक उलझे नहीं रहना चाहिए। प्रांतीय सरकारों द्वारा सेवाओं के मितव्ययी प्रबंधन से हुए फायदे की चर्चा हम प्रांतीय वित्त के विकास के दूसरे चरण को लाने में प्रभावी महत्त्वपूर्ण कारणों की जांच करते समय करेंगे। साम्राज्यवादी कोष को हुए सीधे लाभ का प्रभाव प्रांतीय कटौती के रूप में हम देख चुके हैं। उल्लेखनीय है कि भारत सरकार ने अन्तरित सेवाओं के बदले 10 लाख पौंड स्टर्लिंग तक की वार्षिक छूट की योजना बनाई थी। लेकिन भारत सरकार को जल्दी ही महसूस हो गया कि इन कटौतियों के बदले प्रांतीय सरकारों को कर लगाने की जरूरत पड़ जाएगी। सैनिक विद्रोह के समय से ही भार बढ़ चुका था और अब इस भार को प्रत्यक्ष रूप से केन्द्रीय कर अथवा अप्रत्यक्ष रूप से प्रांतीय करों के माध्यम से और अधिक बढ़ाने में अनिच्छुक भारत सरकार ने प्रांतीय नियतन में मांगी जा रही छूट को 1,000,000 पौंड कर 350,000 पौंड से घटा करने का निर्णय लिया। यदि हम विशेष परिस्थितियों

1. 1877-78 के वित्तीय वक्तव्य में संलग्न 15 मार्च, 1877 की उनकी कार्यवाही देखें।
2. 1876 से इस मिश्रण को छोड़ दिया गया था ताकि भारत सरकार पुरानी व्यवस्था की तुलना में नई व्यवस्था के वित्तीय परिणामों को जान सके।

के अधीन बर्मा को दी गई 19,199 पौंड की राशि को घटा दें तो घटाई गई छूट का सही अंक 350,801 पौंड पहुंचता है।

उस अवधि के परिणामों का सारांश निकालते हुए कहा जा सकता है कि भारत सरकार ने 330,801 पौंड की वार्षिक छूट से मिलने वाले पूरे फायदे का इस्तेमाल किया। हालांकि इससे प्रांतीय वित्त में थोड़ी बहुत कमी आ गई। लेकिन प्रांतों पर डाले गए बोझ के बावजूद जैसा कि परिणामों से स्पष्ट है, प्रांतों की स्थिति बहुत असंतोषजनक नहीं कही जा सकती थी।

प्रांतीय वित्त का शुभारंभ एक अवांछनीय विशेषता के कारण बदरंग हो गया। इससे स्थानीय सुधार कार्यों के लिए कर और चुंगी में वृद्धि की गई।

1870 से बढ़ाई गई चुंगी और आय के नए संसाधनों से हुई आमदनी :

	1870–71 पौंड	1871–72 पौंड	1872–73 पौंड	1873–74 पौंड	1874–75 पौंड	1875–76 पौंड
अवध						
सामान्य चुंगी	38,813	29,018	34,354	34,259	33,208	33,166
भूमि राजस्व (लगान) पर						
मार्जिन फंड पर	7,363	3,461	–	–	–	–
स्थानीय कर पर	–	36,820	42,535	42,883	41,097	41,461
योग	46,176	69,289	76,889	77,142	74,305	74,607
असम						
भूमि राजस्व (लगान) पर सामान्य चुंगी	6,506	4,333	711	1,916	17,149*	–
पुरानी निधि पर						
नई निधि पर	–	–	–	–	15,267	16,300
योग	6,506	4,333	711	1,916	32,416	16,300
बंगाल						
सड़क चुंगी निधि	–	–	22,917	59,039	120,128	158,516
उत्तर पश्चिमी प्रांत	168,532	201,548	216,818	213,672	215,968	150,619
पंजाब	58,330	214,441	216,194	208,063	211,862	193,573
मद्रास						
सड़क चुंगी	212,813	234,567	377,031	368,031	371,311	369,325
यात्री चुंगी	–	–	12,144	12,234	14,860	26,531
योग	492,357	724,178	922,704	940,333	1,040,850	980,545

*. सड़क और सरकारी संपत्ति उत्थान निधि के लिए बंगाल से उगाही गई बकाया राशि उपरोक्त आय और चुंगी के नए संसाधनों के लिए देखें स्थानीय सरकारों की वित्तीय शक्तियों के विस्तार पर आलेख आदि, पृ. 494

इससे पता लगता है कि 1870-71 की अपेक्षा 1875-76 में 488,188 पौंड की प्राप्तियों से बढ़ोतरी मुख्यत: उत्तर पश्चिमी प्रांतों, पंजाब और मद्रास प्रेसीडेंसी में भूमि राजस्व पर 6¼ प्रतिशत चुंगी लगा कर, पंजाब तथा मद्रास में भूमि राजस्व में 5 प्रतिशत चुंगी बढ़ा कर, बंगाल में सड़क चुंगी लगा कर और असम में भूमि राजस्व पर 3 प्रतिशत के स्थान पर 6¼ प्रतिशत कर लगाए गए। बंबई प्रेसीडेंसी में कुछ वर्ष पहले 6¼ प्रतिशत चुंगी लगाई गई थी जो उपरोक्त सूची में शामिल नहीं है। एकमात्र प्रांत जिसने किसी तरह की अतिरिक्त चुंगी नहीं लगाई सेंट्रल प्रोविंस था। हालांकि यहां भी 1870 में भूमि राजस्व पर 6¼ प्रतिशत चुंगी का विचार व्यावहारिक तो माना गया था लेकिन उचित नहीं।

यह तर्क दिया जा सकता है कि यदि प्रांतीय वित्त व्यवस्था भविष्य में कर लगाने की आवश्यकता को खत्म नहीं कर सकती तो उसका क्या फायदा? यदि कर लगाया जाना इतना ही जरूरी था तो साम्राज्यवादी सरकार ने खुद यह जिम्मेदारी उठाने की बजाय प्रांतीय बजट के रूप में प्रांतीय सरकारों के मत्थे क्यों डाल दी? इसके जवाब में कहा जा सकता है कि प्रांतीय वित्त की अच्छाईयां दूसरी दिशाओं में देखी जा सकती हैं और सही जगह पर यह दर्शाया जाएगा कि प्रांतीय वित्त की व्यवस्था सही थी। यद्यपि उसकी स्थापना के बाद करों में थोड़ी बहुत वृद्धि अवश्य हुई। वास्तव में कर के खिलाफ सामान्य आवाज उठाना गैर-बुद्धिमत्तापूर्ण कदम होगा, क्योंकि बिना मूल्य दिए फायदा नहीं उठाया जा सकता। लेकिन कर लगाए जाने का विरोध नहीं करना भी अन्यायपूर्ण होगा क्योंकि सवाल कर लगाए जाने का नहीं था बल्कि कर की असमानता का था। प्रांतीय वित्त के घाटे की पूर्ति के लिए अपनाए गए तरीकों के तहत पहले से ही करों के बोझ से दबे करदाताओं, भूस्वामियों पर नए कर और चुंगियां लाद दी गई प्रांतीय बजट में शामिल सेवाएं जिनके लिए ये कर और चुंगी लगाई गई थी, यद्यपि स्थानीय कही गई थीं लेकिन वे उतनी ही स्थानीय थीं जितनी साम्राज्यवादी सरकार द्वारा अपने पास रखी गई सेवाएं। दूसरी ओर क्षेत्रों की दृष्टि से प्रांतीय सेवाएं प्रांतों के लिए उतनी ही भारी थीं जितनी कि केन्द्र के लिए। फिर भी स्थानीय क्षेत्रों पर लगाए गए करों और चुंगी के द्वारा उन्हें वित्तीय सहायता दी गई थी मानों कि वे उन्हें सीधे फायदा पहुंचा रहे हों, जबकि ऐसा बिल्कुल नहीं था। यह और भी अधिक सोचनीय है क्योंकि कटौती की आवश्यकता, जिसके कारण कर और चुंगी लगानी पड़ी, उस समय पड़ी जबकि आयकर हटा दिया गया था। न्यायसंगत तो यही था राज्य और कर दाता की राहत के लिए आय कर लागू रहता। लेकिन भारत सरकार के वित्तीय सचिवालय से न्याय बहुत दिनों तक गायब रहा। बहुत थोड़े लोगों ने ही इसकी परवाह की, लेकिन किसी ने भी इसे प्रांतीय अथवा स्थानीय वित्त जुटाने का एक अहम् हिस्सा नहीं माना। और चूंकि इसे मान्यता नहीं मिल पाई अत: प्रांतीय सरकारों द्वारा इसका उल्लंघन प्रांतीय वित्त के विकास के आड़े नहीं आया।

5

निर्दिष्ट राजस्व बजट

(1877-78 से 1881-82 तक)

प्रांतीय बजट योजना जिसके दूसरे चरण का हम आज अध्ययन करेंगे, चालू करते समय मिली-जुली प्रतिक्रिया हुई थी। असीमित उम्मीदें लगाई गई थीं, हालांकि शंका की भावना भी दिल में छिपी थी। इस योजना से बंधी उम्मीदों का जायजा सन् 1870 में योजना का उद्घाटन करते समय दिए गए सर रिचर्ड टेम्पिल की टिप्पणी में लिया जा सकता है:-

''हमें उम्मीद है कि यह छूट (राजस्व और खर्च पर बढ़े नियंत्रण में) स्थानीय सरकारों को खर्चों में कटौती लागू करने तथा उसके अध्ययन में रुचि पैदा करेगी, उन्हें समय-समय पर लोगों द्वारा सबसे अधिक ग्राह्य या लोक आलोचना से मुक्त तरीकों से अपनी स्थानीय आय को बढ़ाने का प्रलोभन देगी, वित्तीय संसाधनों के विकास को सम्मान देते हुए करदाता वर्ग और प्रशासकीय अधिकारियों के बीच बेहतर समझ पैदा करने में सक्षम होगी, जनता को प्रांतीय वित्त में व्यावहारिक हिस्सा लेने का पाठ पढ़ाएगी, जनता को धीरे-धीरे स्थानीय स्वशासन की ओर अग्रसित करेगी, और इस तरह प्रशासकीय तथा वित्तीय बेहतरी का माहौल पैदा करेगी।''[1]

इन उम्मीदों के साथ-साथ सर टेम्पिल ने इस अवसर का फायदा उठाते हुए परिषद को असफलता के लिए भी तैयार रहने को कहा क्योंकि उन्होंने आगे लिखा:-

''मेरे द्वारा व्यक्त उम्मीदें भले ही कितनी ही आशावादी तथा आत्मविश्वासपूर्ण हों, आखिर हैं तो उम्मीदें ही, और दूसरी उम्मीदों की तरह हो सकता है यह भी पूरी न हों पाएं। लेकिन यह सब घटित होने दीजिए, मुझे जरा भी शंका नहीं

1. 1860-61 से 1873-74 के अधिकारिक वर्षों के लिए जारी वार्षिक वित्त वक्तव्य, परिशिष्ट के साथ, कलकत्ता, सरकारी मुद्रण के अधीक्षक का कार्यालय 1873, पृ. 348

है यह कदम ब्रिटिश इंडिया के साम्राज्यवादी बजट के लिए फायदेमंद ही होगा। क्योंकि वर्तमान में इसका सीधा प्रभाव सामान्य कोष से घोषित कुछ महत्त्वपूर्ण नागरिक मदों पर होने वाले खर्चों को सीमित करने पर पड़ेगा। ये वही मद है जहां समय के विकास के साथ-साथ व्यय की मांग भी लगातार बढ़ती रही है, और जिनमें सर्वोच्च केन्द्रीय सत्ता स्थानीय अधिकारियों की आवश्यकताओं पर अंकुश लगाने में सबसे कम सफल रही है।''

हालांकि वास्तविक परिणाम इन साधारण उम्मीदों से कहीं आगे थे और प्रांतीय वित्तीय संस्थान को शक की नजर से देखने वालों की शंकाओं को दूर करने के लिए जरूरी थे। यदि हम स्वयं को भारत सरकार अथवा प्रांतीय सरकारों को तुरंत प्रभावित करने वाले मुद्दों तक ही सीमित रखें तो यह भलीभांति सिद्ध हो जाएगा कि प्रांतीय प्रबंधन केन्द्रीय प्रबंधन से ज्यादा मितव्ययी था। यदि हम साम्राज्यवादी सरकार के अधीन रहने पर सेवाओं पर होने वाले खर्चे को प्रांतीय सरकार को हस्तांतरित किए जाने के बाद सेवाओं पर आए खर्चे से तुलना करें तो प्रांतीय प्रबंधन की उच्च स्तर की मितव्ययिता सिद्ध हो जाती है।

वर्ष	पंजीकरण सेवाओं के अतिरिक्त सभी अंतरित सेवाओं से अंशदानों सहित कुल प्राप्तियों की तुलना में उन पर हुआ कुल अधिक व्यय जिनमें साम्राज्यवादी प्रबंधन के अंतर्गत बंगाल के अकाल पर हुआ व्यय सम्मिलित नहीं है।
1863-64	5,111,297
1864-65	5,606,248
1865-66	5,587,779
1867-68	5,821,438
1868-69	6,030,214
1869-70	5,856,310
1870-71	5,197,250
	...प्रांतीय प्रबंधन के अंतर्गत बंगाल के अकाल पर हुआ व्यय सम्मिलित नहीं है।
1871-72	4,835,238
1872-73	4,964,407
1873-74	5,329,180
1874-75	5,379,509
1875-76 (अनुमानित)	5,135,677

1876 की साम्राज्यवादी प्रांतीय और स्थानीय वित्त पर टिप्पणी के सरकारी खंड से तैयार।

अतः इसकी उपयोगिता पर पूर्ण विश्वास और सहायता की भावना से प्रेरित हो भारत सरकार ने स्थानीय नियंत्रण योग्य अथवा स्थानीय प्रकृति के अतिरिक्त सेवाओं को प्रांतीय बजट में शामिल करने का निर्णय लिया। लेकिन पहले से मौजूद सेवाओं में अतिरिक्त सेवाएं शामिल करने से प्रांतीय सरकारों को दी जाने वाली निधियों की समस्या ज्यादा गंभीर हो गई। पहली अवधि में शामिल की गई सेवाओं से हुई आय और उन पर होने वाले कुल खर्चे का अंतर बहुत कम था। इस अंतर को पूरी तरह से नियतन के माध्यम से पाटने का तरीका विस्तारित योजना की सफलता के लिए उपयुक्त नहीं समझा गया। नियतन बजट की व्यवस्था का मुख्य दोष इसकी दृढ़ता में निहित था। प्रांतों ने इसे पूर्ति का साधन बनाने से इंकार कर दिया क्योंकि उनके द्वारा प्रबंधित सेवाओं पर खर्च तो बढ़ता गया, लेकिन उसकी भरपाई के लिए मिलने वाली नियतन राशि स्थिर ही रही। योजना को एक कदम आगे बढ़ाने के लिए जिम्मेदार सर जान स्ट्रेची योजना की इस कमजोरी से भलीभांति परिचित थे। प्रांतों को स्थिर नियतन के स्थान पर वह राजस्व के कुछ ऐसे स्रोत देना चाहते थे जिनसे होने वाली आय अच्छे प्रबंधन पर निर्भर थी। निस्संदेह ऐसा करने के पीछे उनका उद्देश्य प्रांतीय सेवाओं की बढ़ती आवश्यकताओं को ज्यादा बेहतर तथा ज्यादा लचीला बनाना था। लेकिन नियतन के स्थान पर निर्दिष्ट राजस्व व्यवस्था प्रतिस्थापित करने के पीछे भी एक अन्य और उनकी नजर में ज्यादा जरूरी कारण था। यह आम धारणा बन चुकी थी कि मितव्ययिता अच्छे प्रबंधन का परिणाम है लेकिन अच्छा प्रबंधन होता क्या है यह कुछ लोग ही जानते थे। सबसे पहले सर जान स्ट्रेची ने ही अच्छे प्रबंधन के अपने विचार को सही भाषा में परिभाषित किया। इस परिभाषा का उनके बाद से लगातार प्रांतीय वित्त के विकास में बढ़-चढ कर इस्तेमाल किया गया। उनकी नजर में वित्त का अच्छा प्रबंधनः—

> ''सैकड़ों हजारों मील दूर कलकत्ता या शिमला में बैठे वित्तीय विभाग अथवा सर्वोच्च सरकार के किसी अन्य विभाग के महानुभावों द्वारा की गई कार्यवाही नहीं है यह आंकड़ों की जांच और सर्कुलर लिखना भी नहीं है बल्कि स्थानीय सरकारों को कार्यकुशल प्रशासन देने में सीधी तथा व्यक्तिगत रुचि लेने को प्रेरित करना है।''[1]

और ऐसा सोचने के लिए उनके पास हाल के अनुभव का शक्तिशाली आधार था क्योंकि पिछले चरण के परिणामों को लेते हुए प्रांतों ने साम्राज्यवादी शासनकाल की तुलना में न केवल कम लागत पर सेवाओं पर प्रबंधन किया बल्कि दूर स्थित अनभिज्ञ और इसलिए नपुंसक सतर्कता वाली साम्राज्यवादी सरकार की तुलना में प्रांतों की सरकारों द्वारा अपेक्षाकृत अधिक राजस्व जुटाया।

---

1. वित्त वक्तव्य, 1877-78

निगमित सेवाओं से प्राप्तियां

साम्राज्यवादी प्रबंध के अधीन **प्रांतीय प्रबंध के अधीन**

निर्धारित सेवाएं	1865–66 पौंड	1867–68 पौंड	1868–69 पौंड	1869–70 पौंड	1870–71 पौंड	1871–72 पौंड	1872–73 पौंड	1873–74 पौंड	1874–75 पौंड	1875–76 पौंड
जेल	89.260	96,910	141,218	133,806	128,773	149,888	195,755	271,915	297,198	326,023
पुलिस	140,166	231,859	277,179	287,529	270,855	203,624	97,735	90,708	80,509	89,895
शिक्षा	53,256	66,869	67,207	72,848	60,740	76,789	80,869	101,306	99,537	101,909
रजिस्ट्रेशन	86,997	127,070	153,488	165,048	147,152	155,262	171,735	121,470	172,111	184,461
प्रिंटिंग	3,333	3,282	2,803	3,718	9,244	10,923	14,383	21,174	18,220	18,066
चिकित्सा	–	–	–	–	3,273	20,594	30,649	36,370	43,097	26,583
प्रकीर्ण	4,070	5,666	4,076	4,489	6,116	20,991	31,345	32,396	39,666	36,234

उपरोक्त स्रोत से संकलित

एक लंबे समय तक सर जान स्ट्रेची यह मानते रहे कि जब तक प्रांतीय सरकारों ने भारत सरकार के लिए राजस्व एकत्रित किया तब तक उन्होंने राजस्व की चोरी रोकने पर ध्यान नहीं दिया, जबकि वे ऐसा जरूर करती यदि राजस्व उन्हें अपने फायदे के लिए एकत्रित करना होता, या जैसा उन्होंने कहा:–

> ''जब स्थानीय सरकारें यह महसूस करती हैं कि राजस्व विभागों का अच्छा प्रशासन भारत सरकार को ही नहीं बल्कि उन्हें भी अधिक आय और उनके मन मुताबिक बदलाव लाने के साधन उपलब्ध कराता है तभी प्रत्येक का मन पसंद अच्छा प्रशासन स्थापित किया जा सकता था।''

अत: प्रांतीय सेवाओं की बढ़ती आय का यह साक्ष्य एक ऐसा सुखद आश्चर्य था जो सर जान स्ट्रेची के विचारों की पुष्टि करता था। इसीलिए प्रांतों को दी जाने वाली पूर्तियों के माध्यम के रूप में नियतन राजस्व के स्थान पर निर्दिष्ट राजस्व व्यवस्था अपनाने के पीछे सर जान स्ट्रेची के दो उद्देश्य थे– एक, प्रांतों के राजस्व की बढ़ोतरी और दूसरा प्रांतीय वित्त में लचीलापन पैदा करना।

सर जान स्ट्रेची द्वारा अपनाई गई योजना न तो नई थी और न ही पहली बार सामने लाई गई थी। यह योजना उन लोगों के दिमाग में भी थी जिन्होंने 1870 में प्रांतीय वित्त पर विचार–विमर्श में भागीदारी की थी। वास्तव में सर जान स्ट्रेची ने इस योजना की पैरवी 1872 में कर दी थी।[1] 1870 में भारत सरकार ने योजना का पक्ष इसलिए नहीं लिया क्योंकि उसे डर था कि कहीं वह राजस्व के स्रोतों को हमेशा के लिए खो न दे जबकि उन स्रोतों के विकास पर ही सरकार का स्थायित्व टिका हुआ था। हालांकि तब तक भारत सरकार की वित्तीय स्थिति कुछ सुधर चुकी थी और प्रांतीय प्रबंधन का छ: वर्षों का प्रयोग भी योजना के बारे में उन लोगों में भी विश्वास भर चुका था जिन्होंने कभी भी योजना की प्रशासकीय उपयोगिता को पूर्ण रूप से स्वीकारा नहीं था। प्रांतीय सरकारों के स्रोतों में बढ़ी उत्पादकता और खर्चों में कटौती का माध्यम बन जाने की संभावना इस योजना में जुड़ गई थी। इन सभी कारणों के दबाव ने मिलकर प्रांतीय वित्त के विकास में एक नए चरण की रचना की जिसे, पूर्ति के विशिष्ट तरीके अपनाने से, निर्दिष्ट राजस्व द्वारा बजट का चरण कहा जा सकता है।

वास्तव में नियतन अभी भी नई व्यवस्था का हिस्सा बने रहे, लेकिन ऐसा उन राजस्व के नियतन की दिक्कत को लेकर था जिनकी आय शामिल किए गए खर्चों के बराबर ही होती। किन्हीं भी परिस्थितियों में कुछ न कुछ अंतर तो होना ही था।

---

1. दिनांक 27 जुलाई, 1872 के उनके सारांश देखें।

अतः प्रदत्त राजस्व से होने वाली सामान्य अनुमानित प्राप्तियां जरूरतों से कम रहीं और प्रत्येक प्रांत के संदर्भ में अंतर को नियतन के समायोजन से पूरा करना पड़ा।

विभिन्न प्रांतों के लिए नियतन के समायोजन को निर्धारित करने का तरीका थोड़ा बहुत जटिल था और इसलिए विकास के दूसरे चरण के तहत विभिन्न प्रांतों के प्रांतीय बजटों की संरचना की जांच करने से पहले उसे आसानी से समझाया जा सकता है।

यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि (1) प्रांतों के कुल संसाधनों की (नियमित सेवाओं से होने वाली आय), (2) निर्दिष्ट राजस्व से हुई आय, और (3) नियतन के समायोजन की प्रणाली के अंतर्गत पूरा किया गया व्यय प्रांत विशेष के लिए समंजनकारी नियतन तय करना सही आंकड़ों को बैठाने का सवाल था। समंजनकारी नियतन की एक निश्चित संख्या तय करने के पहले जरूरी था कि निगमित सेवाओं से प्राप्त सामान्य आय और खर्च हुई राशि का लेखा-जोखा करना टेढ़ी खीर था। मोटे तौर पर भारत सरकार ने कुछ वर्षों के आधार पर प्रत्येक वर्ष की औसत आय को सामान्य आय मानते हुए उसे ही नियतन के आकलन का आधार बनाया। इसी प्रकार पिछले वर्षों में राजस्व के सालाना विकास को आधार बनाकर प्रत्येक स्रोत के बढ़ने की एक विशेष सामान्य दर मान ली गई ताकि मानी गई वार्षिक बढ़ोतरी की सामान्य दर पर प्रत्येक आने वाले वर्षों की सामान्य आय पिछले वर्षों की सामान्य आय से बढ़ती गई और जैसे-जैसे मानी गई सामान्य विकास की दर पर निर्दिष्ट राजस्व की सामान्य मात्रा बढ़ती गई वैसे-वैसे उसी अनुपात में अगले वर्षों के नियतन घटते गए। निर्दिष्ट राजस्व के लिए मानी गई इस सामान्य विकास दर की अवधारणा कभी-कभी उनकी पिछली उत्पादकता द्वारा अन्यायपूर्ण साबित होती रही। चूंकि सभी स्थितियों में बढ़ोतरी की ऊंची दर का मतलब नियतन के ह्रास से था, अतः प्रांतों ने इसके विस्तार पर सवाल उठाने शुरू कर दिए। प्रांतों को संतुष्ट करने और अनुमान की गलतियों की भरपाई करने की गरज से भारत सरकार ने कपट रहित छूट दे डाली। उसने सहमति जताई कि यदि वास्तविक परिणाम अनुमानित सामान्य आय से भिन्न रहे, या कम अधिक रहे तो उन्हें साम्राज्यवादी और प्रांतीय सरकारों के बीच बराबर-बराबर बांट दिया जाएगा। यदि वास्तविक आय सामान्य से अधिक हो तो वर्ष के लिए साम्राज्यवादी सरकार से तय समंजनकारी नियतन जितनी राशि बढ़े उसे घटा दिया जाएगा और यदि यह सामान्य से कम रही तो नियतन में जितना घाटा हुआ है उसे बढ़ा कर पूरा कर दिया जाएगा।

इस अत्यंत नाजुक तरीके को अपनाने का मुख्य उद्देश्य भारत सरकार को फायदे की उस स्थिति में पहुंचाना था जहां से वह किसी भी पक्ष के लिए अनचाही परेशानी

पैदा किए बगैर नियतन का समायोजन कर सके। लेकिन इसके पीछे एक अन्य फायदा भी था जिसे भले ही उस समय नहीं समझा गया लेकिन जो काफी प्रभावशाली था। प्रांतों से सामान्य अनुमान से संभावित घाटे को आधा बांटने की सहमति लेकर अलग हुए राजस्व का मितव्ययी और न्यायसंगत प्रशासन द्वारा प्रबंधन की गारंटी ले ली गई। यदि भारत सरकार अनुमानित आय से नीचे के घाटे को पूरी तरह से स्वयं ही वहन करने पर राजी हो जाती है तो यह कहना मुश्किल होगा कि प्रांतीय सरकारें अपनी आय को सामान्य स्तर पर लाने के लिए अपने स्रोतों के विकास के लिए आवश्यक प्रयास करेगी लेकिन उनके इस भय ने आधे घाटे को सहने की उनकी मजबूरी वहीं व्यापक रूप न ले ले, राजस्व में तेज गिरावट से जिसकी पूरी संभावना थी उन्हें अधिक सचेत रहने के लिए मजबूर कर दिया। इस तरह जबकि ढिलाई पर प्रभावी नियंत्रण लग चुका था योजना क्रियाशीलता को बढ़ावा देने में भी पीछे नहीं थी। सामान्य से ऊपर की आय का आधा मिलने की गुंजाइश ने प्रांतों को अपने स्रोतों को सामान्य से अधिक बढ़ाने को प्रेरित किया। यदि साम्राज्यवादी सरकार उनकी अधिक आमदनी को पूरा ले लेती तो शायद वे ऐसा करने के लिए प्रेरित नहीं होते। संक्षेप में, घाटे को सहने का कठोर असर और लाभ कमाने के उत्साहवर्द्धक प्रभाव ने मिल कर प्रांतीय वित्त व्यवस्था को खर्चे में मितव्ययता और स्रोतों की उत्पादकता की दृष्टि से उतना पूर्ण बना दिया जितना बनाया जा सकता था।

प्रांतीय वित्त में इस नए कदम की अवधारणा और कार्यान्वयन के पीछे के कारणों और इसकी विशेषता के गुणों की चर्चा कर लेने के पश्चात् हम अब प्रांतीय बजटों की संरचना और उनमें शामिल किए गए राजस्व तथा खर्चों का अध्ययन करने की दिशा में बढ़ सकते हैं। दुर्भाग्य से पूर्ण रूप से प्रांतीय बजटों का खुला दृश्य पेश करना संभव नहीं है। क्योंकि खर्चे के मद सभी प्रांतीय बजटों में एक ही रूप में शामिल नहीं किए गए थे। प्रत्येक प्रांत को व्यक्तिगत रूप में लिया गया था। यह हमें मजबूर करता है कि 1877-78 में विभिन्न प्रांतों के लिए पुनर्गठित अलग-अलग प्रांतीय बजट का विवेचन करें।

उत्तर पश्चिमी प्रांत और अवध[1]

कुछ अन्य प्रांतों की तरह इस प्रांत का बजट भी पहले से शामिल मदों में अतिरिक्त मद जोड़ कर पुनः तैयार किया गया था न इसका विस्तार नए रूप में प्रांत के बजट में खर्चे और आय के निम्न मद शामिल किए गए थेः–

---

1. वित्तीय विभाग की अधिसूचना सं. 1807, भारत का गजट, भाग-1, 31 मार्च, 1877, पृ. 172

	खर्चे के मद/शीर्ष		राजस्व के मद/शीर्ष
3.	समस्त निर्दिष्ट राजस्व की वापसी	I	भूमि राजस्व, तराई मिरजापुर में दूधी रियासत और पत्थर की खानों से उगाही।
4.	भूमि राजस्व व्यक्तियों, जिला एवं ग्रामीण अधिकारियों और बराबर रियासतों को मिलने वाले भत्ते, और उत्तर पश्चिम प्रांत में प्रशासकों को मिलने वाले विशेष अस्थाई मुआवजे को छोड़कर	IV	आबकारी
		IX	टिकटें
		XIII	कानून एवं न्याय
6.	आबकारी	XIV	पुलिस
10.	टिकटें	XVI	शिक्षा
14.	प्रशासन (लेखा और मुद्रा अधिकारियों को छोड़कर)		
16.	कानून एवं न्याय (उत्तर पश्चिम प्रांत में प्रशासकों को मिलने वाले विशेष अस्थाई मुआवजे को छोड़कर)	XX	प्रकीर्ण (विनिमय लाभ) बिलों पर लाभ (दावे रहित बिलों और 10,000 रु. से अधिक के अलिखित मदों को छोड़कर)
17.	पुलिस		प्रांतीय बजट में लोकनिर्माण के खर्चे से जुड़ी लोक निर्माण की प्राप्तियां, सैनिक निर्माण कार्यों तथा सिंचाई शाखाओं में लोकनिर्माण कार्यों के अतिरिक्त लोकनिर्माण विभाग के सभी प्रतिष्ठान, साम्राज्यवादी सरकार के वे कार्य जिनकी लागत का 20 प्रतिशत साम्राज्यवादी निधियों से भुगतान।
19.	शिक्षा		
21.	चिकित्सा (नागरिक स्टेशनों के प्रभारी चिकित्सा अधिकारियों के वेतन को छोड़कर)		
22.	स्टेशनरी और मुद्रण सामग्री		
28.	प्रकीर्ण (कोष की जमा राशि और 10,000 रु. से अधिक का कोई भी अलिखित मद) लोक निर्माण सामान्य सड़कें तथा विभिन्न प्रकार के सार्वजनिक विकास कार्य नागरिक भवन, डाकघर तथा तार भवनों को छोड़कर तथा आयकर (संयत) किया जाता है तथा इनकी मरम्मत।		

राजस्व के शीर्षों को निष्पादित करते समय भारत सरकार ने निम्न परंतुक जोड़ दिया:–

"उत्तर पश्चिम प्रांतों तथा अवध की सरकारों का आबकारी, टिकट और कानून तथा न्याय (जेल तथा पंजीकरण को छोड़कर) से होने वाली आय में से वापसी तथा शीर्ष 6 आबकारी तथा 10 टिकटों के खर्चे घटाकर शेष राशि में से 83,75,000 रुपयों से अधिक आय की आधी राशि साम्राज्यवादी कोष में जमा करनी होगी।" और उपरोक्त राशि से कम आय होने पर प्रांत को कुल घाटे की आधी राशि देने को तैयार हो गई। यह सामंजस्य प्रांत की बचत को आधार बनाकर प्रभावी किया गया, ताकि निगमित सेवाओं पर उत्तर पश्चिमी प्रांतों एवं अवध का खर्चा आकलित राजस्व तथा उनके सहयोग में प्रांतीय योगदान की राशि 83,75,000 रुपये से कम होने पर उस अंतर को जोड़ा जाना था और यदि अतिरिक्त खर्चा 83,75,000 रुपये से अधिक हो तो उस अंतर को उत्तर पश्चिमी प्रांतों तथा अवध की सरकार की बचत से घटाकर साम्राज्यवादी कोष में जमा करना था।

बंगाल

बंगाल के बजट में शामिल खर्चे के मद	1877 में विद्यमान अनुदान	कटौती	प्रस्तावित संचित अनुदान
1	2	3	4
3. आबकारी, टिकट, कानून एवं न्याय के राजस्व की वापसी और जमाराशि	4,91,000	–	4,91,000
4. भूमि राजस्व (कलेक्टर, उप आयुक्त आदि प्रतिष्ठान और भूमि राजस्व संग्रहण पर खर्चे)	22,62,000	–	22,62,000
6. दवाओं और स्प्रिट पर उत्पादन शुल्क	2,92,000	–	2,92,000
8. सीमाशुल्क	6,93,000	–	6,93,000
9. नमक	39,000	–	39,000
11. टिकट	2,38,000	–	2,38,000
15. प्रशासन (लेखा कार्यालय, प्रेसीडेंसी, बैंकों के भत्ते, प्रेसीडेंसी में स्टेशनरी कार्यालय और देश में खरीदी गई स्टेशनरी को छोड़कर)	12,61,000	–	12,61,000
16. लघु विभाग (मौसम तथा पुरात्त्व विभागों, जनगणना व गजेटीयर्स को छोड़कर)	1,68,000	–	1,68,000
17. कानून एवं न्याय (कानून अधिकारियों को छोड़कर)	63,97,000	1,00,000	62,97,000

1	2	3	4
बंगाल के बजट में शामिल खर्चे के मद	1877 में विद्यमान अनुदान	कटौती	प्रस्तावित संचित अनुदान
18. सामुद्रिक	10,92,000	–	10,92,000
23. राजनीतिक (सरकारी) आवास, पुलिस सुरक्षाकर्मी	7,000	–	7,000
26. प्रकीर्ण (खजाने की जमा राशि छोड़कर)	25,000	–	25,000
स्टेशनरी और टिकट	4,98,000	50,000	4,48,000
27. वर्तमान में विद्यमान रूप में प्रांतीय आबंटन,	1,10,59,000	4,40,000	1,06,19,000
बिशप के महल का रखरखाव आदि	7,000		7,000
योग	2,45,29,000	5,90,000	2,39,39,000

पहले से समाविष्ट राजस्व और खर्चों में अतिरिक्त राशि बढ़ा कर बंगाल प्रांत[1] के बजट का वास्तव में विस्तार किया गया था न कि उसमें बदलाव किया गया। योजना के द्वितीय चरण के उपरोक्त चार्ट में दिखाए गए खर्चों के लिए बंगाल सरकार को जिम्मेदार ठहराया गया था।

इन खर्चों की पूर्ति के लिए बंगाल को निम्न राजस्व इस्तेमाल के लिए दिए गए:–

राजस्व शीर्ष	1876–77 के मानी गई विकास की दर पर अनुमानित आय अनुमानित आय	1877–78	1878–79	1879–80	1880–81	1881–82
IV दवाओं और स्प्रिट पर उत्पादन शुल्क	6,300	6,400	6,500	6,600	6,700	6,800
VI सीमाशुल्क (विविध सीमा शुल्क, मालगोदाम और जहाज का माल उतारने का किराया देखें)	3,600	3,600	3,600	3,600	3,600	3,600

1. भारत का गजट, पहला भाग, मार्च, 31 1877, पृष्ठ 174

राजस्व शीर्ष	1876-77 के मानी गई विकास की दर पर अनुमानित आय अनुमानित					
	आय	1877-78	1878-79	1879-80	1880-81	1881-82
VII नमक (मालगोदामों का किराया, जुर्माना जब्ती और विविध)	220	220	220	220	220	220
IX टिकटें, XIII कानून एवं न्याय	10,300	10,575	10,850	11,125	11,400	11,675
XIV सामुद्रिक (पोतचालन प्राप्तियां, पंजीकरण तथा अन्य शुल्क और विविध	1,091	1,084	1,084	1,084	1,084	1,084
XVI प्रकीर्ण (बिलों पर लाभ बेदावेदार बिलों और 10,000 से अधिक राशि के न शामिल किए गए मद को छोड़कर	771	792	792	792	792	792
योग		22,671	23,076	23,421	23,596	24,171

उपरोक्त संदर्भित भारत के गजट में विवरणों में से संकलित

लेकिन चूंकि निर्दिष्ट राजस्व अंतरित समाविष्ट निगमित खर्चों को पूरा करने में पर्याप्त नहीं थे, अतः सरकार साम्राज्यवादी कोष से निम्नलिखित राशि बंगाल सरकार को देने के लिए राजी हो गई:–

वर्ष	नियतन (राशि)
	(रु.)
1877-78	48,32,000
1878-79	44,57,000
1879-80	40,82,000
1880-81	37,07,000
1881-82	33,32,000

प्रांत सेंट्रल प्रोविंसेज

केन्द्रीय प्रांतों के बजट में निम्नलिखित अतिरिक्त मदों को शामिल कर दिया गया :

खर्चे के शीर्ष	1877–78 के लिए पहले से ही निश्चित अनुदान राशि	कटौती	प्रस्तावित कुल संचित अनुदान राशि
	रु.	रु.	रु.
उत्पाद शुल्क, टिकट, कानून तथा न्याय और विविध की वापसी	47,000	–	47,000
आबकारी शुल्क	52,000	–	52,000
टिकट	14,000	–	14,000
केवल समझौते के खर्चे (भूमिराजस्व)	6,66,000		
प्रशासन (लेखा और मुद्रा कार्याल्य) केवल छोटे विभाग	3,39,000	10,000	17,74,000
(केवल मौसम और पुरात्त्व विभाग)	4,000		
न्याय और कानून	6,91,000		
स्टेशनरी और टिकट	69,000		
प्रकीर्ण (खजाने की वापसी और पूर्ति बिलों में छूट को छोड़कर)	5,000		
अतिरिक्त			
प्रांतीय सेवाओं के लिए वर्तमान आबंटन	27,73,000	–	27,73,000
केन्द्रीय प्रांतों के बजट से सेवाओं के लिए कुल अनुदान	46,60,000	–	45,70,000

इन खर्चों की पूर्ति के लिए केन्द्रीय प्रांतों की सरकार को राजस्व के निम्नलिखित स्रोतों के इस्तेमाल का अधिकार दिया गया है:–

निर्दिष्ट राजस्व के शीर्ष	1876–77 में मानी गई विकास दर पर अनुमानित आय अनुमानित आय			
	रु.	रु.	रु	रु.
उत्पाद शुल्क	13,90,000	14,50,000	15,10,000	15,70,000
टिकट	9,70,000	9,75,000	9,80,000	9,85,000
कानून और न्याय	1,67,000	1,75,000	1,83,000	1,91,000
प्रकीर्ण बिलों पर प्रीमियम विनिमय के न निकाले गए बिल्स और 10,000 रु. से अधिक के किसी में न शामिल किए गए मद को छोड़कर	7,000	7,000	7,000	7,000
कुल रुपए	–	26,07,000	26,80,000	27,53,000

संदर्भित उपरोक्त गजट में से संकलित

चूंकि ये राजस्व पर्याप्त नहीं थे अत: भारत सरकार ने साम्राज्यवादी कोष से निम्न नियतन द्वारा उन्हें पूरा करने का जिम्मा लिया:–

वर्ष	नियतन (रु.)
1877–78	19,63,000
1878–79	18,90,000
1879–80	18,17,000

निर्दिष्ट राजस्व पर लागू होने वाले उपबंध के कारण ये नियतन बदले जा सकते थे। उस उपबंध के आधार पर भारत सरकार को उनकी सामान्य आय के ऊपर होने वाली सम्मिलित वार्षिक आय की कुल वृद्धि का आधा हिस्सा लेना था और घाटे के आधे हिस्से की पूर्ति होनी थी, यदि वास्तविक सम्मिलित आय सामान्य से कम होती है और यदि सामान्य से अधिक आय होती है तो वृद्धि के आधे के बराबर नियतन को कम करना था और यदि घाटा होता है तो नियतन को घाटे के बराबर राशि से बढ़ाया जाना था।

बंबई

बंबई सरकार के प्रांतीय बजट[1] में निम्नलिखित खर्चे किए गए:–

1. भारत का गजट, भाग 1, दिनांक 4 अगस्त, 1877 पृष्ठ, 468

खर्चे के शीर्ष	1877–78 के लिए पहले ही निश्चित अनुदान राशि	कटौती	संचित अनुदान
	रु.	रु.	रु.
3. वापसी	1,10,000		
4. भूमि राजस्व	65,07,000		
6. उत्पाद शुल्क	80,000		
7. सीमा-शुल्क	8,09,000		
8. नमक	5,69,000		
14. प्रशासन	11,43,000		
15. छोटे विभाग	1,13,000		
16. कानून और न्याय	43,12,000	5,67,000	2,13,96,000
18. सामुद्रिक	31,000		
20. इक्लास्टिकल (धार्मिक)	3,25,000		
21. चिकित्सा	2,68,000		
22. स्टेशनरी और टिकट	2,29,000		
24. भत्ते और नियतन	64,81,000		
26. पेंशन	8,00,000		
28. प्रकीर्ण	28,000		
अतिरिक्त			
प्रांतीय सेवाओं के लिए वर्तमान आबंटन	1,04,54,000		1,04,54,000
कुल योग	3,24,17,000	5,67,000	3,18,50,000

समाविष्ट सेवाओं से होने वाली आय के अतिरिक्त भारत सरकार ने बम्बई सरकार को राजस्व के निम्नलिखित स्रोतों का नियमन किया :–

निर्दिष्ट राजस्व (000 छोड़कर)

निर्दिष्ट राजस्व के शीर्ष		अनुमानित आय	मानी गई विकास दर पर अनुमानित आय			
	1876–77	1877–78	1878–79	1879–80	1880–81	1881–82
	रु.	रु.	रु.	रु.	रु.	रु.
1. भूमि कर इनामदारी समायोजन और सेवाएं सम्प्रेषण की प्राप्तियां	5,199	6,624	6,624	6,624	6,624	6,624
2. उत्पाद शुल्क	3,946	4,000	4,100	4,200	4,300	4,400
टिकट	4,186	4,300	4,350	4,500	4,550	4,600
कानून और न्याय	277	270	270	270	270	270
योग	–	8,750	8,720	8,970	9,120	9,270

1	2	3	4	5	6	7
प्रकीर्ण (विनियम बिल पर प्रीमियम और मनीऑर्डर से फायदा, समय सीमागत मनीआर्डर, बिक्री, दरबार के उपहारों से आय तथा 10,000 रु. से अधिक के न शामिल किए गए मदों को छोड़कर)	52	70	70	70	70	70
योग	–	15264	15,414	15,664	15,814	15,964

भारत के गजट से संकलित

राजस्व और खर्चों के अंतर को पूरा करने के लिए बंबई बजट में शामिल किए गए समायोजन नियतन निम्न हैं:–

वर्ष	नियतन (रु.)
1877–78	1,53,20,000
1878–79	1,51,70,000
1879–80	1,49,20,000
1880–81	1,47,70,000
1881–82	1,46,20,000

उल्लेखनीय है कि केन्द्रीय प्रांतों के ही समान ये नियतन भी उसी उपबंध के अधीन थे।

पंजाब

निर्दिष्ट राजस्व के सिद्धांत पर निर्मित एकमात्र शेष प्रांतीय बजट पंजाब का था। इस बजट में निम्नलिखित खर्चे के मद शामिल किए गए थे:–

समाविष्ट खर्चे के शीर्ष	1877–78 के लिए निश्चित अनुदान राशि	कटौती	प्रस्तावित कुल संचित अनुदान राशि
1	2	3	4
	रु.	रु.	रु.
पावतियाँ	65,000		
भूमि राजस्व (समझौते के खर्चे को छोड़कर)	16,21,000		
उत्पादन शुल्क	58,000		

1	2	3	4
	रु.	रु.	रु.
टिकट		72,000	
प्रशासन (लेखा और मुद्रा) अधिकारी तथा समझौता सचिव को छोड़कर)	9,74,000	2,24,000	51,38,000
छोटे विभाग	16,00,000		
कानून एवं न्याय	20,94,000		
पेंशन एवं सेवानिवृत्ति भत्ता, करुणा भत्ता, और ग्रेच्युटी	3,38,000		
प्रकीर्ण (कोष की जमा राशि को छोड़कर)	41,000		
स्टेशनरी और टिकट	83,000		
अतिरिक्त			
प्रांतीय सेवाओं के वर्तमान आबंटन	54,22,000	–	54,52,000
कुल	1,07,84,300	2,24,000	1,05,60,000

इन खर्चों की पूर्ति के लिए पंजाब की सरकार को निम्नलिखित राजस्व देने का प्रस्ताव किया गया

निर्दिष्ट राजस्व के शीर्ष	1876–77 में वास्तविक राजस्व	अनुमानित वास्तविक आय		
		1877–78	1878–79	1879–80
	रु.	रु.	रु.	रु.
निर्धारित कर	–	–	12,00,000	12,00,000
टिकट	–	24,85,000	25,05,000	25,25,000
कानून एवं न्याय	–	4,15,000	4,15,000	4,15,000
उत्पाद शुल्क	–	10,30,000	10,50,000	10,70,000
	–	39,30,000	39,70,000	40,10,000
प्रकीर्ण (विनिमय से लाभ, बिलों पर लाभ और बेदावेदार विनिमय बिलों को छोड़कर	–	60,000	60,000	60,000
	–	39,90,000	52,30,000	52,70,000

इन राजस्वों को देने में भारत सरकार ने टिकट, कानून और न्याय तथा उत्पाद शुल्क से हुई वास्तविक आय में बढ़ोतरी का एक हिस्सा अपने लिए आरक्षित कर लिया। अनुमानतः वास्तविक आय के अनुमानित खर्चे से कम होने पर भारत सरकार ने पंजाब सरकार को निम्नलिखित नियतन देने का फैसला किया ताकि पंजाब सरकार के बजट में संतुलन लाया जा सके:–

वर्ष	नियतन रु.	उत्पाद शुल्क, कानून और न्याय से प्राप्त वास्तविक रास्व में बढ़ोतरी का घटाया गया हिस्सा (रु.)	वास्तविक नियतन रु.
1877–78	65,70,000	107,000	64,63,000
1878–79	53,40,000	85,000	52,55,000
1879–80	53,10,000	–	53,10,000

ध्यान देने योग्य है कि मद्रास सरकार ने निर्दिष्ट राजस्व के नए सिद्धांत पर आधारित प्रांजीय बजट की जिम्मेदारी उठाने से मना कर दिया। उसने पुरानी व्यवस्था में रहना ही पसंद किया। इस अध्याय में असम और बर्मा के प्रांतीय बजट शामिल नहीं हैं चूंकि उनकी संरचना में निहित सिद्धांत का अध्ययन अगले अध्याय में हुआ है। अतः उन्हें अभी शामिल करना उचित नहीं समझा गया।

प्रांतीय बजट के विकास के दूसरे चरण का अध्ययन समाप्त करने से पहले यह जान लेना उचित होगा कि प्रांतीय सरकारों को मिली उचित सहायता तथा साम्राज्यवादी कोष को हुए फायदे की दृष्टि से इसके परिणाम कैसे रहे। प्रांतों को मिली उचित सहायता की दृष्टि से इस चरण के परिणाम निम्न हैं:–

प्रांत	वार्षिक बचत या घाटा (पौंड)				
	1877–78 (पौंड)	1878–79 (पौंड)	1879–80 (पौंड)	1880–81 (पौंड)	1881–82 (पौंड)
सी.पी. (केन्द्रीय प्रांत)	5,992	7,049	–28,133	2,956	95,221
बंगाल	173,380	158,732	82,523	–11,313	2,55,189
उत्तर पश्चिमी प्रांत तथा अवध	4,469	237,100	320,729	280,790	667,613
पंजाब	18,578	48,195	7,017	59,497	135,979
बंबई	–609,672	61,249	–11,201	37,855	418,783

भारत सरकार के वित्त एवं राजस्व लेखा से संकलित

इससे स्पष्ट है कि साम्राज्यवादी सरकार द्वारा दी गई निधियों को छोड़कर बाकी सभी प्रांतीय बजटों में शामिल सेवाओं को चलाने के उद्देश्य के लिए काफी ही नहीं थीं बल्कि खर्चे के बाद राजस्व की बचत भी होती थी। प्रांतीय सरकारों द्वारा अपनी पूंजी को नुकसान पहुंचाए किना साम्राज्यवादी सरकार को वर्ष 1879–80 और 1880–81 में दी गई सहायता से सिद्ध होता है कि प्रांतों के पास काफी धन था। सन्

1879 में साम्राज्यवादी सरकार की वित्तीय हालत काफी ढीली हो गई थी। रुपये के अवमूल्यन तथा अफगानियों के साथ झड़पों की शुरुआत के कारण वर्ष 1979-80 में घाटा। 395,000 पौंड तक पहुंच जाने की उम्मीद थी। रक्षा के पहले कदम के तौर पर भारत सरकार ने तमाम स्थानीय सरकारों और प्रशासनों से प्रार्थना की कि वे देश का सामान्य खर्चा कम से कम करें और उन्हें निर्देश दिए कि साम्राज्यवादी प्रांतीय अथवा स्थानीय सभी तरह के स्वैच्छिक खर्चों को तुरंत रोके जाने के प्रयास किये जाने चाहिए तथा वास्तविक आवश्यकता के बिना केवल अथवा प्रतिष्ठान में बढ़ोतरी के किसी भी प्रस्ताव पर ध्यान नहीं दिया जाना चाहिए।[1] रक्षा के दूसरे कदम के रूप में भारत सरकार ने आदेश दिया कि तब तक "स्थानीय सरकारों के साथ व्यवस्था या प्रबंध किए जा सकते हैं.... 2,500 रुपये से अधिक लागत का कोई भी नया कार्य साम्राज्यवादी अथवा प्रांतीय निधि से आरंभ नहीं किया जा सकता। भले ही उसे सरकार की संस्तुति मिल चुकी हो।"[2] और उत्पादक लोक निर्माण के कार्यो पर खर्चे में खासी कटौती करने का निर्णय लिया। जब यह पता चला कि खर्चा पर ये कटौतियां साम्राज्यवादी बजट में बराबरी लाने के लिये अधिक नहीं थी, तब भारत सरकार ने प्रांतीय बचत पर जबरी ऋण लगाने की व्यवस्था अपनाई। वास्तव में यह कदम प्रांतीय वित्त की मूलभूत शर्तों में से एक शर्त का हनन करता था। यह शर्त थी कि साम्राज्यवादी सरकार के आधिपत्य में होने के बावजूद प्रांतीय बचत एक पवित्र ट्रस्ट थी जिन्हें प्रांतों द्वारा आवश्यकता पड़ने पर ही निकाला जा सकता था। लेकिन प्रांतीय वित्त की शर्तों की पवित्रता की तुलना में भारत की सम्पन्नता को अधिक पवित्र समझा गया। उसी के अनुसार प्रांतीय सरकारों की बचत में से साम्राज्यवादी सरकार द्वारा निम्न राशि निकाल ली गई:"

प्रांत	साम्राज्यवादी सरकार को दिया गया अंशदान		
	1879-80	1880-81	कुल योग, लाख में
	रु.	रु.	रु.
1	2	3	4
उत्तर पश्चिमी प्रांत	10	10	20
उत्तर पश्चिमी प्रांत	7½	7½	15
बंबई	4	4	8
पंजाब	3	3	6

1. वित्तीय विभाग का प्रस्ताव, संख्या 4063, दिनांक 9 नवंबर, 1878
2. वित्तीय विभाग का प्रस्ताव, दिनांक 1 मई, 1879 का भारत का गजट, भाग एक, 3 मई, 1879, पृष्ठ 329

1	2	3	4
बर्मा	3	3	6
सी. पी. (केन्द्रीय प्रांत)	2½	2½	5
मद्रास	2	2	4
असम	1½	1½	3
कुल	33½	33½	67

यह अंशदान प्रांतों को 1882-83 में दिया गया लेकिन उस समय तो इस राशि ने साम्राज्यवादी कोष के लिए लाभ अथवा राहत का काम किया। साम्राज्यवादी कोष को वास्तविक लाभ तो प्रांतीय प्रबंधन को अंतरित सेवाओं के लिए आबंटन में कटौती करने से हुआ। प्रत्येक प्रांत की राशि में की गई कटौती संक्षेप में निम्नलिखित है :-

प्रांत	रु.	कटौती
उत्तर पश्चिमी प्रांत	3,54,000	कुल आबंटन का 5 प्रतिशत
अवध	73,000	कुल आबंटन का 5 प्रतिशत
बंगाल	5,90,000	कुल आबंटन का 5 प्रतिशत
केन्द्रीय प्रांत	90,000	कुल आबंटन का 5 प्रतिशत
बंबई	73,000	कुल आबंटन का 5 प्रतिशत
पंजाब	2,41,000	कुल आबंटन का 5 प्रतिशत

यह साम्राज्यवादी सरकार द्वारा उठाए गए लाभ का पूरा ब्यौरा नहीं है। इसके साथ-साथ लाभ कमाने के दो और रास्तों का जिक्र करना जरूरी है। ध्यान देने योग्य है, कि इतिहास द्वारा न्यायोचित स्तर से ऊपर स्तर पर निर्दिष्ट राजस्व की मानक आय लेकर भारत सरकार प्रांतीय सेवाओं के लिए घटी हुई राशि नियत कर सकी। यदि मानक आय निचले स्तर पर ली गई होती तो यह ऐसा कतई नहीं कर पाती। अलग किए गए राजस्व के बढ़े-चढ़े अनुमान के कारण आबंटन में हुई घटत सीधा लाभ था। मानक से अधिक आय ने राजस्व रोकने वाली धारा के कारण लाभ की अतिरिक्त संभावनाओं के द्वार खोल दिए। हालांकि यह भी सत्य है कि मानक से कम राजस्व प्राप्ति की स्थिति में उसी धारा के तहत भारत सरकार नुकसान उठाने के लिए

भी बाध्य थी। लाभ के इन शर्तों वाले रास्तों से भारत सरकार को कितना फायदा हुआ, यह कहना कठिन है। फिर भी इसे नकारा नहीं जा सकता कि स्राम्राज्यवादी कोष को अच्छा खासा लाभ हुआ।

इस प्रकार परिणाम दर्शाते हैं कि निर्दिष्ट राजस्व पर आधारित प्रांतीय वित्त की योजना प्रांतीय और साम्राज्यवादी दोनों ही सरकारों की दृष्टि से सफल थी। यही कारण है कि योजना के विकास को आगे बढ़ाने के लिए दोनों सरकारें परस्पर राजी हो गईं। यही योजना का तीसरा चरण है।

6

सांझा राजस्व बजट
(1882–83 से 1920–21)

हर कदम पर प्रांतों के बजट में वृद्धि करने की दिशा में एक कठिन समस्या, जिसका पहले ही जिक्र किया जा चुका है, वह थी राजस्व और व्यय की मदों के संतुलन संबंधी कठिनाइयां जिन्हें कि उसमें सम्मिलित करना प्रस्तावित था। प्रांतीय वित्त के विकास की दिशा में जो अब तक दो कदम उठाए गए थे, एक सन् 1871 में, दूसरा 1877 में, उनमें प्रांतीय बजट संतुलन के लिए दो भिन्न विधियां अपनाई गई थीं। प्रथम अवसर पर शाही (साम्राज्यवादी) सरकार ने प्रांतीय सरकारों को शाही कोष से एकमुश्त निश्चित आवंटन का प्रावधान किया था, दूसरे अवसर पर इस प्रकार के प्रदाय को आंशिक तौर पर प्रांतीय सरकारों के व्यय हेतु राजस्व प्राप्ति के विशेष स्रोत निर्धारित कर दिए गए। निर्दिष्ट राजस्व की योजना ने यद्यपि सन् 1871–72 के उपायों की अत्यंत गंभीर त्रुटि को काफी हद तक दूर करने में सहायता की, जिसने स्थानीय सरकारों को व्यय-भार-वहन करने का उत्तरदायित्व दे दिया था, निसंदेह जिनकी कि वृद्धि की संभावनाएं बनी रहती थी। आमदनी के साथ, जो कि यद्यपि बिल्कुल निश्चित नहीं थी, उसके बढ़ने के कम आसार थे, जिससे लोच की दृष्टि से प्रांतीय वित्त की आवश्यकताएं अपूर्ण रह गई थीं। सन् 1877 के उपाय, जो कि हर हालत में 1871 से श्रेष्ठ थे, वित्तीय लोच की पूर्णतम आवश्यकताओं को पूरा करने में यहां तक असमर्थ थे कि मद्रास सरकार ने संशोधित योजना को मानने से इंकार कर दिया और सन् 1871 के उपायों को मानने में प्राथमिकता बरती। सन् 1877 की योजना बर्मा अथवा असम में लागू नहीं की गई थी। लेकिन जब भारत सरकार ने सन् 1879 में यह प्रस्ताव रखा तो इसने एक नये अध्याय की शुरुआत की, यद्यपि बढ़े हुए व्यय भार को नियत आवंटन के अंतर्गत कुछ प्रांतों को किफायत और अच्छे इंतजाम के जरिए सफलता मिली, लेकिन बार्मा प्रांत में इसे पूरी तरह अनुभव किया गया। प्रांतीय वित्त की योजना के पहले के सात वर्षों में प्रांतीय व्यय का कुल जोड़

1,98,45,970 रुपए था, जबकि बाद में सात वर्षों के आवंटन का कुल जोड़ विशेष परिवर्द्धन के अतिरिक्त 2,20,22,770 रुपये था, जो 21,76,800 रुपये आंशिक था, और जो कुल मिलाकर लगभग 3 लाख रुपये प्रतिवर्ष था। लेकिन उसी अवधि में व्यय 2,40,77,885 रुपये था, जो 42,31,915 रुपये अधिक बैठता था, यानी लगभग छः लाख रुपये प्रति वर्ष। इसलिए 3 लाख के अतिरिक्त आबंटन और 6 लाख प्रतिवर्ष के अतिरिक्त व्यय का जो अंतर था उसे साम्राज्यवादी सरकार ने प्रांत की ऋण शोधन क्षमता को औसतन 2¾ लाख प्रतिवर्ष के विशेष अनुदान के जरिए बरकरार रखा।[1] भारत सरकार पूरक आबंटन की व्यवस्था करते समय बेखबर नहीं थी कि इस प्रकार की खैरात देने से कोई नैतिक पतन करने वाला प्रभाव न पड़े। वास्तव में यह स्वीकार कर लिया गया था कि यह अच्छा होगा कि बर्मा प्रांत के आबंटन की अगर जरूरत महसूस हो तो 22½ लाख, प्रारंभ में ही कर दिया जाय, बजाय पूरक मदद के रूप में उतनी ही धनराशि का अनुदान प्रदान करने के, जो किफायत और अच्छे प्रबंध के लिए बाधा हो सकता था। बर्मा के उदाहरण ने आबंटन की पूर्ति के ढंग की त्रुटि को उजागर कर दिया था और भारत सरकार ने यह अनुभव कर लिया था कि प्रांतीय वित्त की सफलता के लिए राजस्व में लोच एक महत्त्वपूर्ण शर्त थी। इसलिए बर्मा के लिए राजस्व देयता अपरिहार्य थी। प्रांत की आवश्यकताओं से दबे रहने के कारण और इस तथ्य से कि प्रांत ने शाही कोष में काफी बेशी समर्पित की है, भारत सरकार ने यह स्वीकार किया कि ''प्रांत को यह अधिकार है कि वह अपनी वास्तविक आवश्यकताओं को पहले की अपेक्षा मुक्त रूप से निर्दिष्ट करे।''[2]

इस उद्देश्य के लिए जो विधि अपनाई गई कि बर्मा प्रांत के साथ उदारतापूर्वक व्यवहार किया जाय, प्रांत को सम्पूर्ति विधि का नया कदम उठाया गया। सन् 1877-78 में पांच प्रांत—मध्य प्रांत, उत्तर पश्चिम प्रांत और अवध, पंजाब, बंबई और बंगाल के बंदोबस्त के समय राजस्व और व्यय के लेखा शीर्ष के अंतर्गत, भारत के बजट को भिन्न श्रेणियों में विभाजित किया गया : (1) पूर्णतया शाही (साम्राज्यवादी या केन्द्रीय) (2) पूर्णतया प्रांतीय। लेकिन बर्मा के मामले में लेखा शीर्ष तीन भिन्न श्रेणियों में बांटा गया : (1) पूर्णतया शाही (2) पूर्णतया प्रांतीय और (3) शाही और प्रांतीय संयुंक्त[3]। जहां तक शाही अथवा प्रांतीय सरकार के राजस्व, और व्यय की मदों का सम्बंध है, बंदोबस्त भावनात्मक तौर पर दूसरे प्रांतों से प्राप्ति के मामले में अलग नहीं था। लेखा की जो तीसरी श्रेणी संयुक्त रूप से शाही और प्रांतीय बनाई गई थी उसमें अंतर विद्यमान था। इसके द्वारा कुछ विशेष राजस्व और व्यय शेष से अलग दर्शाए गए थे और शाही और प्रांतों के मध्य कुछ निश्चित तौर पर

1. वित्त विभाग संकल्प संख्या 1488, दिनांक मार्च 26, 1879, पैरा, 2
2. वही, पैरा 2
3. वित्तीय लेखा, 1879-80, पैरा 24

निर्धारित मात्रा में बांट लिए गए थे। इस व्यवस्था का उद्देश्य प्रांतीय राजस्व की अपरिवर्तनशीलता को लोच में बदलना था। अन्य प्रांतों के वित्त में लोच था जहां तक कि उनके आबंटन राजस्व के निर्धारित स्रोतों में बदल दिए गए। लेकिन उनके राजस्व की मात्र जो कि उनके निर्धारित आबंटन से बनी थी, उनके वित्त अपरिहार्य रूप से अपरिवर्तनशीलता के शिकार बने। बर्मा के मामले में यद्यपि, निश्ति आबंटन के लिए बढ़ते हुए राजस्व की भागीदारी के मिलान से प्रांतीय वित्त को पूर्ण लोच प्राप्त हुआ जिसके बिना बढ़ते हुए व्यय का निर्वाह बड़ा दुष्कर हो गया था।

भागीदारी के राजस्व के सिद्धांत पर आधारित बर्मा के प्रांतीय बजट के ढांचे की पुनर्रचना में आय और व्यय के सभी शीर्ष पूर्णतया प्रांतीय बना दिए गए थे, निम्नलिखित को छोड़ कर जिन्हें कि पूर्णतया शाही (साम्राज्यवादी) समझा गया था:–

1. सेना	–	आय और व्यय
2. पोस्ट ऑफिस	–	आय और व्यय
3. टेलीग्राफ	–	आय और व्यय
4. लेखा विभाग	–	आय और व्यय
5. मौसम विभाग	–	आय और व्यय
6. राजनीतिक	–	आय और व्यय
7. कोष और विनिमय बिलों पर प्रीमियम तथा विनियम के बिना दावे के बिल	–	आय और व्यय

राजस्व और व्यय की तीसरी श्रेणी, जिसे संयुक्त रूप से शाही और प्रांतीय कहा गया, उसमें निम्न मदें सम्मिलित थीं :–

1. भूराजस्व, प्रतिव्यक्ति शुल्क सहित, लेकिन मत्स्य पालन को छोड़कर, साथ में भूराजस्व वापिसी, संग्रह और निपटान संबंधी व्यय जिन्हें मात्र मत्स्य पालन से ही नहीं जोड़ा जा सकता।
2. वन राजस्व, व्यय और वापिसी।
3. चावल पर निर्यात शुल्क, तथा वापिसी।
4. नमक राजस्व, व्यय और वापिसी।

जो मदें तृतीय श्रेणी में सम्मिलित की गई थी उन्हें शाही (साम्राज्यवादी) और प्रांतीय सरकारों के मध्य, प्रथम को 5/6 तथा दूसरे को 1/6 के अनुपात में विभाजित किया गया था। सम्पूर्ति के इस सिद्धान्त को अपनाकर दूसरे प्रांतों की अपेक्षा बर्मा ने लोचनीय चरित्र की धनराशि प्राप्त की, यद्यपि सहभागिता निश्चित रही, एक वर्ष में जो धनराशि प्राप्त की, उसमें सकल निर्दिष्ट अथवा सांझा राजस्व प्राप्ति के अंतर से भिन्नता थी। वास्तव में यह सब कुछ इस बात पर निर्भर करता था कि बर्मा के नियंत्रण में जो राजंस्व है वह उसका इस्तेमाल किस प्रकार करता हैं लेकिन यदि उसने, दूसरे प्रांतों से भिन्न अपने कर्त्तव्य का यथोचित पालन किया है तो उसकी मेहनत अपुरस्कृत नहीं जाएगी। सांझा राजस्व का यही सिद्धांत असम प्रांत पर भी लागू किया गया जो कि अब तक सन् 1871 के पुराने आधार पर चल रहा था। यद्यपि उस प्रांत के साथ बर्मा के पश्चात् जो समझौता हुआ उसे लागू किया गया था, लेकिन प्रांतीय बजट को संतुलित करने के लिए सांझा राजस्व के सिद्धांत को उत्साहवर्धक तरीके से नहीं अपनाया गया था। इस सिद्धान्त के उत्तरोत्तर व्यवहार में जो व्यवधान आया उसमें भारत सरकार की किसी भी अनिच्छा के दर्शन नहीं होते, परन्तु इसका मुख्य कारण मामले की आवश्यकता को जाता है।

जैसा कि विचार था कि इस प्रांत का बंगाल में विलय कर दिया जाय लेकिन असम का प्रांतीय बजट तैयार किया गया, जैसा कि बंगाल का निर्धारित हुआ, ताकि उनके वित्तीय संयोजन उतने ही आसान हों जितने प्रशासनिक। इस प्रकार राजस्व और व्यय के लेखे जो सन् 1877 से बंगाल में प्रांतीय थे, सन् 1879 में असम में भी प्रांतीय बना दिए गए, विधि अधिकारियों समेत, जो कि अस्थायी कारणों से बंगाल में साम्राज्यवादी निर्धारित किए गए थे। लागू किये गये नये सिद्धांत के अंतर्गत एक ही बिन्दु पर समानता मिली, वह था असम में भू-राजस्व को संयुक्त शीर्ष में रखना जिस पर साम्राज्यवादी और प्रांतीय सरकारों की कुल प्राप्ति में भागीदारी पांचवें में चौथाई हिस्से की प्रथम के लिए और दूसरे के लिए पांचवें में एक हिस्से की थी।[1]

इन दो प्रांतों में नए बंदोबस्त के अंतर्गत लाभदायी परिणाम निम्न तुलनात्मक तालिका में बड़ी आसानी से देखे जा सकते हैं जिन्हें उनके बजट अनुमानों में पुराने आधार पर तैयार किया गया था और नए आधार पर पुनरीक्षित किया गया था :–

1. वित्त विभाग संकल्प 1598, दिनांक 17 अप्रैल, 1879

	असम के बजट अनुमान				ब्रिटिश बर्मा के बजट अनुमान			
	पुराना आधार		नया आधार		पुराना आधार		नया आधार	
	1878-79	1879-80	1878-79	1879-80	1878-79	1879-80	1878-79	1879-80
	पौंड	पौंड	पौंड	पौंड	पौंड	पौंड	पौंड	पौंड
राजस्व	2,115	2,110	3,657	3,596	4,013	4,078	9,459	9,673
व्यय	2,253	2,261	3,480	3,566	4,169	5,111	8,926	10,119
बेशी (लाभ)	–	–	177	30	–	–	533	–
घाटा	138	151	–	–	156	1,033	–	526
रोकड़ बाकी	206	55	521	555	873	161	1,562	1,436

भारत सरकार के वित्त और वाणिज्य विभाग के संकल्प संख्या 1249, दिनांक मार्च 13, 1879 से उद्धृत

एक बार जब असम और बर्मा के बारे में सांझा राजस्व का नया सिद्धांत लागू कर दिया गया तो भारत सरकार के लिए यह संभव नहीं था कि इसे अन्य प्रांतों में लागू होने से रोक सके। कई प्रांतों के सन् 1877 में जो बंदोबस्त हुए उसमें कई त्रुटियां ही नहीं थीं, वरन् वह गैर बराबरी की समयावधि से भी ग्रसित थे। सिर्फ बंबई और बंगाल का सन् 1877-78 में संपन्न बंदोबस्त 5 वर्ष की अवधि का था। मध्य प्रांत और पंजाब का तीन वर्ष के लिए किया गया था, जबकि उत्तर-पश्चिम प्रांत का मात्र दो वर्ष की अवधि के लिए सन् 1877-78 में सम्पन्न हुआ। इससे यह स्पष्ट होता है कि बर्मा और असम के बन्दोबस्त की अवधि पूरी होने तक अन्य प्रांतों के बंदोबस्त शीघ्र ही समाप्त हो गए और सांझा राजस्व के सिद्धान्त पर उनकी पुनर्रचना की आवश्यकता महसूस हुई। भारत सरकार ने जबकि प्रक्रिया में ढील अपनाई और ऐसा करके अपनी निपुणता का परिचय दिया क्योंकि शीघ्र ही एक नये सांझे राजस्व और व्यय के सिद्धान्त को अपनाना पड़ा जिसे सब पर लागू करना था। यह सब परीक्षण काल था और चतुराई के अतिरिक्त और कुछ नहीं था। दूसरे, प्रांतीय बजट की एकपक्षीय त्रुटियां ज्ञात हो चुकी थी। इस प्रकार भारत सरकार को समझ आ गई कि कई प्रांतों के बजट एक पूर्णाकार के यानी साम्राज्यवादी बजट के अंशमात्र हैं। यह जाहिर तौर पर सलाह योग्य था कि प्रांतीय बजट को स्वतंत्र रूप में एक दूसरे के दावों, आवश्यकताओं और प्राथमिकताओं से भिन्न बनाया जाय। लेकिन इस प्रकार एक बात के तुलनात्मक एवं समझौते पूर्ण दावों के क्रियान्वयन को दूसरे की आवश्यकताओं के प्रकाश में देखते हुए विभिन्न प्रांतों को भी उसी समदृष्टि से देखना आवश्यक था ताकि इसका वांछित प्रभाव स्पष्ट हो, और यह भी जरूरी था कि सभी प्रांतों के बजट का निपटारा एक साथ ही हो। बर्मा और असम के अनुभवों से लाभ उठाने की इच्छा और इस पर विचार करने की महत्ता ने भारत सरकार को बाध्य किया कि प्रांतीय सरकारों की सहमति से, जैसा भी मामला हो, प्रांतों से संबंधित वित्तीय करार की अवधि या तो बढ़ाई जाय अथवा घटाई जाय, ताकि सबकी 31 मार्च, 1882 तक समकालिक समाप्ति संभव हो सके।

1882-83 का वित्तीय बंदोबस्त

बर्मा के विषय में सन् 1878 से लागू सिद्धान्त को बढ़ाकर सन् 1882-83 से सभी प्रांतों के साथ नये बंदोबस्त किए गए। राजस्व और व्यय के कुछ विशेष शीर्ष, जहां तक संभव था कम से कम, पूर्णरूपेण अथवा सूक्ष्मतम स्थानीय आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए, साम्राज्यवादी शीर्ष में वर्गीकृत किए गए। दूसरों को पूर्णतया

प्रांतीय वर्गीकृत किया गया था। जो शेष थे उन्हें एक बीच की सूची में रखा गया जिसे संयुक्त कहा गया और जिनमें अधिकतर साम्राज्यवादी और प्रांतीय सरकारों की बराबर की सांझेदारी थी। उन मामलों में जहां प्रांतीय व्यय संसाधनों से अधिक हो जाता था, उस राजस्व से जो प्रांतीय था और साथ ही साथ सांझे में था, उसका शेष बजाय साम्राज्यवादी खजाने के निश्चित आबंटन में से देने से हर प्रांत के भू-राजस्व के निश्चित प्रतिशत के साथ ठीक कर दिया गया था जो कि पूर्णतया राजस्व का एक साम्राज्यवादी शीर्ष था, सिर्फ बर्मा के मामले को छोड़कर जहां पर साम्राज्यवादी चावल निर्यात शुल्क और साथ ही नमक राजस्व का प्रतिशत बढ़ा दिया गया था।

सन् 1882 में प्रांतीय वित्त योजना के विस्तार के साथ-साथ भारत सरकार भी इच्छुक थी कि राजस्व और व्यय के विभिन्न शीर्ष जो अब तक तीन श्रेणियों में विभाजित थे उनमें सरलता और एकरूपता लाई जाय। यह स्मरण रखना होगा कि सन् 1877 से प्रभावी करार असमानता और जटिलता ग्रस्त थे। एक से व्यय सभी प्रांतों में प्रांतीयकृत नहीं किए गए थे। पुनः खर्चे को बांटने के लिए अनुदान राशि को विभाजित करना पड़ता था ताकि एक हिस्सा प्रांतीय और एक भाग साम्राज्यवादी भाग के रूप में संरक्षित रखना पड़ता था। निर्दिष्ट राजस्व के मामले में यह गणना व्यवस्था कम जटिल नहीं थी। लेकिन जब 1882 का बंदोबस्त हुआ उन त्रुटियों को दूर कर दिया गया, और यहां यह बताना आवश्यक है कि राजस्व और व्यय के शीर्षो को प्रांतीय बना दिया गया जो कि साम्राज्यवादी थे और किसको किस सीमा तक विभाजित किया गया वह निम्न प्रयास में दृष्टव्य है :-

राजस्व

	साम्राज्यवादी	प्रांतीय
(1)	(2)	(3)
i. भू राजस्व	सम्पूर्ण, सिर्फ उसे छोड़कर जो प्रांत के खाने में दर्ज हैं	बर्मा में मत्स्य पालन, उत्तर पश्चिम प्रांत और अवध में तराई, भावर और दूधी की रियासतों से उगाही, जलमिलों और खदानों से किराया, बंबई में पुनर्ग्रहीत सेवा भूमि और सेवा परिवर्तन विषयक किराया, सभी प्रांतो में एक निश्चित प्रतिशत साम्राज्यवादी भू-राजस्व पर जिससे प्रांतीय राजस्सव और प्रांतीय व्यय के मध्य अंतर को ठीक किया जा सके।

(1)		(2)	(3)
ii.	नजराने	सम्पूर्ण	कुछ नहीं
iii.	जंगलात	आधा	आधा
iv.	आबकारी (उत्पाद शुल्क)	यथोपरि	यथोपरि
v.	निर्धारित कर	यथोपरि	यथोपरि
vi.	प्रांतीय दरें	कुछ नहीं	सम्पूर्ण
vii.	सीमा शुल्क	समस्त सिर्फ उसे छोड़कर जो प्रांत के खाने में दर्ज है	सभी मदें सिर्फ सीमा शुल्क को छोड़कर और सिर्फ बर्मा में वही प्रतिशत निर्यात शुल्क जैसा कि भू-राजस्व पर देय है।
viii.	नमक	समस्त सिर्फ उसे छोड़कर जो प्रांत के खाने में दर्ज है	सभी मदें नमक और नमक की बिक्री पर शुल्क को छोड़कर और बर्मा में सिर्फ नमक पर वही राजस्व प्रतिशत जो भू-राजस्व पर देय है।
ix.	अफीम	सम्पूर्ण	कुछ नहीं
x.	स्टाम्प (टिकटें)	आधा	आधा
xi.	पंजीकरण	यथोपरि	यथोपरि
xii.	पोस्ट ऑफिस	कुछ नहीं	सम्पूर्ण
xiii.	लघु विभाग	यथोपरि	यथोपरि
xiv.	कानून और न्याय	यथोपरि	यथोपरि
xv.	पुलिस	यथोपरि	यथोपरि
xvi.	सामुद्रिक	जैसा कि वर्तमान में है	जैसा कि वर्तमान में है
xvii.	शिक्षा	कुछ नहीं	सम्पूर्ण
xviii.	चिकित्सा (स्वास्थ्य)	कुछ नहीं	यथोपरि
xix.	स्टेशनरी एवं मुद्रण	कुछ नहीं	यथोपरि

	(1)	(2)	(3)
xx.	ब्याज	सम्पूर्ण, सिर्फ उसे छोड़कर जो प्रांत के खाने में दर्ज है	सरकारी प्रतिभूतियों पर ब्याज (प्रांतीय)
xxi.	पेंशन	सेना और चिकित्सा निधि और इन निधियों पर चंदे का किताबी हस्तांतरण	अवशेष
xxii.	प्रकीर्ण	साम्राज्यवादी लेन-देन पर विनिमय लाभ, बिलों और बिना दावे वाले विनिमय बिलों पर प्रीमियम (लाभ)	यथोपरि
xxiii.	रेलवे	जैसा कि वर्तमान में है	हर प्रांत में जैसा कि अब प्रांतीय है
xxiv.	सिंचाई और नौ परिवहन	यथोपरि	यथोपरि
xxv.	अन्य लोक निर्माण कार्य	सैनिक निर्माण कार्य से प्राप्तियां	अवशेष
xxvi.	लंदन के साथ विनिमय अन्तरण से लाभ	सम्पूर्ण	कुछ नहीं

व्यय

(1)	साम्राज्यवादी (2)	प्रांतीय (3)
1. ब्याज	सम्पूर्ण, सिर्फ उसे छोड़कर जो प्रांत के खाने में दर्ज है	स्थानीय ऋण पत्रों पर ब्याज। 4½ प्रतिशत वर्ष आरंभ होने पर पूंजी मूल्य पर, 2½ प्रतिशत पूंजी मूल्य पर वर्ष के दौरान, सभी सार्वजनिक निर्माण कार्यों पर, चाहे वह उत्पादक सार्वजनिक निर्माण कार्य वर्गीकृत किया गया हो अथवा नहीं जिसके कि पूंजी और राजस्व लेखे-रखे जाते हैं, सदैव, उनको छोड़कर जिनकी कीमत का कोई भी अंश जिसकी पूर्ति प्रांतीय राजस्व अथवा स्थानीय ऋण पत्रों से हुई है। सुरक्षात्मक सार्वजनिक निर्माण कार्य की लागत पर ब्याज दर विशेष करार के अंतर्गत की जाएगी।

(1)		(2)	(3)
2.	सेवा निधि और अन्य लेखों पर ब्याज	सेवा निधि और बचत बैंकों में जमा राशि पर ब्याज	... अवशेष
3.	रकम वापसी और चुंगी वापिसी	राजस्व पर साम्राज्यवादी भागीदारी	राजस्व पर प्रांतीय भागीदारी
4.	भू-राजस्व	भू-राजस्व संग्रह और सर्वेक्षण पर वही प्रतिशत (उस व्यय के साथ जो अब तक केन्द्र सरकार के लेखे में दिखाया गया है।) तथा बंबई और मद्रास के अतिरिक्त बंदोबस्त जैसा कि भू-राजस्व में रखा गया है।	...अवशेष
5.	जंगलात	आधा	आधा
6.	आबकारी/ उत्पाद शुल्क	यथोपरि	यथोपरि
7.	निर्धारित कर	यथोपरि	यथोपरि
8.	प्रांतीय दरें	कुछ नहीं	सम्पूर्ण
9.	सीमा-शुल्क	कुछ नहीं	यथोपरि
10.	नमक	मद्रास में सम्पूर्ण, अन्य स्थानों पर नमक की खरीद और उत्पादन, बंगाल में सुरक्षात्मक कार्य और क्रियान्वयन, बंबई में पुर्तगीज भारत में नमक राजस्व प्रशासन संबंधी व्यय	...अवशेष
11.	अफीम	सम्पूर्ण	कुछ नहीं

(1)		(2)	(3)
12.	स्टाम्प/टिकट	आधा	आधा
13.	पंजीकरण	आधा	आधा
14.	पोस्ट ऑफिस	कुछ नहीं	सम्पूर्ण
15.	टेलीग्राफ	कुछ नहीं	यथोपरि
16.	प्रशासन	लेखा और मुद्रण ऑपिस और प्रेसीडेंसी बैंक को भत्ते	... अवशेष
17.	लघु विभाग	पुरातत्व विभाग एवं मौसम विज्ञान विभाग, जनगणना, गजेटियर्स और सांख्यिकी स्मारिकाएं	
18.	कानून और न्याय	कुछ नहीं	... सम्पूर्ण
19.	पुलिस	सीमा प्रांत पुलिस और नमक प्रतिरोधात्मक सेवाओं में साम्राज्यवादी स्टेट रेलवे में नियुक्त पुलिस	... अवशेष
20.	नौपरिवहन	जो भी अब साम्राज्यवादी है	... जो भी अब प्रांतीय है
21.	शिक्षा	यथोपरि	यथोपरि
22.	धर्मादा	सम्पूर्ण	कुछ नहीं
23.	चिकित्सा	कुछ नहीं	सम्पूर्ण
24.	स्टेशनरी और मुद्रण	केन्द्रीय भंडार हेतु क्रय की गई स्टेशनरी	अवशेष, केन्द्रीय भंडार से प्राप्त की की गई स्टेशनरी की कीमत सहित
25.	राजनीतिक	सम्पूर्ण	कुछ नहीं
26.	भत्ते और समनुदेशन	सम्पूर्ण, प्रांतीय खाते में दर्ज को छोड़कर	... बंबई में, मदें जो प्रांतीय हैं

(1)		(2)	(3)
27.	नागरिक छुट्टी और गैर हाजिरी भत्ते	सम्पूर्ण	कुछ नहीं
28.	सेवानिवृत्ति	मदें, जो प्रांतीय खाते में दर्ज नहीं हैं	पेंशन और ग्रेच्युटी उन पेशनों को छोड़कर जिनका भुगतान चिकित्सा और चिकित्सा निधि से होना है, जिन्हें भारत में रखा गया है, पेंशन और ग्रेच्युटी के लिए हर सरकार का उत्तरदायित्व, जिसे वह प्रदान करती है अनुमति देती है सिफारिश करती है जैसे भी अर्जित या देय हो।
29.	प्रकीर्ण	कोष प्रेषण और पूर्ति बिलों पर कटौती	... अवशेष
30.	अकाल राहत	द्वितीय श्रेणी की जिम्मेवारी	पूर्णरूपेण प्रांतीय
31.	रेलवे	जैसा कि वर्तमान में है	जो भी अब प्रांतीय है
32.	सिंचाई	यथोपरि	यथोपरि
33.	अन्य लोक निर्माण	सैनिक लोक निर्माण कार्य सिर्फ ब्रिटिश बर्मा को छोड़कर केन्द्र सरकार के कार्यालय, नमक, अफीम, पोस्ट ऑफिस, इम्पीरियल, टेलीग्राफ, धर्मादा विभाग और टकसाल एवं मुद्रण विभाग में लोक निर्माण कार्य, तथा बंगाल सर्वेयर जनरल का कार्यालय	... अवशेष
34.	विनिमय हानि	... सम्पूर्ण	... कुछ नहीं

सन् 1881-82 के लेन-देन में, सरकार ने एक वर्ष में 470,000 पौंड के लाभ की उम्मीद की थी। तथापि इसने मध्य प्रांत को अधीनस्थ नागरिक सेवाओं और अन्य सामान्य उद्देश्यों की दशा सुधारने के लिए 77,900 पौंड, मद्रास को 20,000 पौंड, प्रांतीय लोक निर्माण कार्य हेतु उत्तर-पश्चिम प्रांत और अवध को 326,000 पौंड जिसमें से 10,000 पौंड अवध में अतिरिक्त कानूनगोई

पर व्यय हेतु थे, और अवशेष 316,000 पौंड स्थानीय करों के भुगतान हेतु प्रदान किए। इन आर्थिक उदारता (उपहारों) के साथ ही साथ भारत सरकार ने एक अच्छी शुरुआत के लिए बंगाल को 285,000 पौंड, बर्मा को 20,000 पौंड, उत्तर पश्चिम प्रांत को 55,000 पौंड और दिए ताकि वे वर्ष 1881–82 की समाप्ति से पहले अपने संतुलन में वृद्धि कर लें। इस आर्थिक उपहार ने जो एक वर्ष में 496,000 पौंड बैठता था, और जिससे 470,000 पौंड के वार्षिक लाभ की संभावना थी, उसने साम्राज्यवादी खजाने को 26,000 पौड के वार्षिक नुकसान में बदल दिया।[1]

इस संबंध में यह भी स्मरणीय है कि भारत सरकार ने प्रांतीय सरकारों को प्रतिपूर्ति में वह राशि उदारतापूर्ण दान के रूप में वापिस कर दी जो वर्ष 1879–80 और 1880–81 में करों के रूप में लगाई थी। लेकिन सन् 1882 के संशोधन के थोड़े अर्से के बाद ही भारत सरकार ने जो उदारतापूर्ण नीति अपनाई थी उसे धक्का लगा और प्रांतीय सरकार के भुगतान शेष पर जो सन् 1886–87 में दिखाई दिया, जबरी ऋण लगाने के लिए बाध्य होना पड़ा। उस साल का वित्तीय लेखा प्रस्तुत करते हुए भारत सरकार के वित्त सदस्य ने कहा था :–

"22 जब 1885–86 के अनुमान प्रस्तुत किए गए... भारतीय प्रशासन और वित्त एक नये दौर में प्रविष्ट हो चुके थे। सन् 1882 से देश ने जो थोड़ी सी अवधि में सुख भोगा है वह समाप्त हो चुका है। ...गत वर्षो में मध्य एशिया में जो घटनाएं घटित हुई हैं उसमें भारत स्वयं को यूरोपीय शक्तियों में से एक की निकटता अनुभव करता है। इसलिए वह अपनी सैन्य शक्ति की जो बढ़ती हुई आवश्यकता है उससे स्वयं को अलग नहीं कर सकता। जो घटनाएं घटित हो चुकी हैं वे निश्चय ही बदल चुकी हैं और जैसाकि ज्ञात था, उन्हें बदलना भी चाहिए था, हमारे अनुमानों का स्वरूप आंतरिक प्रगति के शांतिमय रास्ते पर तेजी से बढ़ने की ओर प्रेरित करता है जिसकी कि हमने कामना की थी कि हमें अबाधित छोड़ दिया।"

भारत सरकार द्वारा दूसरी बार प्रांतीय संसाधनों को जुटाने के लिए जो अन्य रास्ते अख्तियार किए गए और उनके संतुलन से विनियोग के जरिए 400,000 पौंड की राशि वर्ष 1886–87 में इकट्‌ठी की गई, निम्न तालिका में इस काल की प्रांतीय वित्त दशा संक्षेपित की जा रही है :–

प्रांत	वार्षिक लाभ और घाटा

1. वित्तीय लेखा, 1882–83, पृष्ठ 15

	1882–83 पौंड	1883–84 पौंड	1884–85 पौंड	1885–86 पौंड	1886–87 पौंड
सी. पी (सेन्ट्रल प्रोविंसेज)	33,775	76,212	18,047	22,080	115,656
बर्मा	171,207	–90,030	–89,725*	+	71,743++
असम	13,887	5,216	–40,577	26,299	28,576
बंगाल	539,611	146,027	48,910	26,777	52,911
उत्तर पश्चिम प्रांत और अवध	281,222	357,630	–69,276	–180,060	–12,408
पंजाब	–110,966	–15,765	–41,545	42,447	3,106
मद्रास	108,421	10,820	–87,284	146,692	–78,689
बंबई	–149,894	–2,585	6,006	291,976	–161,369

* वर्ष के अंत में कोई अधिशेष नहीं था।

\+ संतुलन

++ उस वर्ष के चालू व्यय के ऊपर चालू राजस्व के आधिक्य से प्राप्त अधिशेष। भारत सरकार के वार्षिक वित्त और राजस्व लेखे से संकलित।

सन् 1882–83 में प्रांतीय सरकारों के साथ जो बंदोबस्त किए गए वे सिर्फ पिछले बंदोबस्त में साम्राज्यवादी राजस्व में निश्चित सांझा आबंटन में परिवर्तन के मामले में न केवल भिन्न थे, वरन् वे एक अन्य महत्त्वपूर्ण मामले में भी भिन्न थे और वह था उनकी समयावधि। यद्यपि प्रांतीय वित्त योजना के परिणामों को जो 1871–77 की अवधि के हैं एक तालिका में दर्शाया गया है, लेकिन यह नहीं समझ लेना चाहिए कि विभिन्न प्रांतों के साथ जो बंदोबस्त किए गए थे वह छः वर्ष की अवधि के लिए ही थे। दूसरी ओर, बंदोबस्त केवल वार्षिक आधार पर किए गए थे जोकि लगातार नवीनीकरण की प्रक्रिया द्वारा सन् 1877 तक चलते रहे। जो सम्मिलित नतीजे थे वे जारी रहने वाले काल के लिए थे इसलिए नहीं कि बंदोबस्त उस समय में किए गए थे, लेकिन इसलिए कि जिस सिद्धांत पर वे आधारित थे वह उसी काल के लिए था। सन् 1877 के पश्चात् जो बंदोबस्त किए गए वे निसंदेह लंबी अवधि के लिए हुए थे। दो मामलों में वे 5 वर्ष के लिए थे, शेष के लिए समय–सीमा दो से तीन वर्ष की थी। अल्प समय की अवधि का सिद्धान्त जैसे कि निश्चित आबंटन सिद्धान्त, साम्राज्यवादी कोष के लिए बड़े फायदे का था। यह स्मरणीय है कि, इस बंदोबस्त का उद्देश्य प्रथमतः प्रांतीय सरकारों की मांगों पर एक निश्चित सीमारेखा तय करना था, क्योंकि साम्राज्यवादी सरकार के स्रोत पहले ही बहुत कम थे। सच्चाई तो यह

है कि यह उद्देश्य बहुत सफल होता यदि बंदोबस्त की अवधि वर्तमान काल से लंबी अवधि के लिए होती। लेकिन एक लंबी अवधि शाही कोष को उसके लाभ के अधिकार से वंचित रखती यदि समझौते के अनुसार राजस्व पक्ष का शीघ्र संशोधन कर दिया जाता। यही वह विचार था जिससे देर तक धनाभाव सहन नहीं किया जा सकता था जिसने कि भारत सरकार को करार की अवधि को जितना भी संभव था कम करने के लिए प्रेरित किया। लेकिन साम्राज्यवादी कोष के लिए जो एक फायदा था वह प्रांतीय सरकारों की दृष्टि में उनके लिए गहरा नुकसान था। बंदोबस्त की अवधि कम होने की वजह से प्रांतीय सरकारें ऐसी स्थिति में नहीं थीं कि उनके पास जो धनराशि थी उसे समन्वित सेवाओं में व्यय करके अपने वित्तीय इतिहास में एक नए अध्याय की शुरुआत कर सकें। वे एक सुनिश्चित अर्थनीति नहीं अपना सकीं, क्योंकि उन्हें भय था कि नवीनीकरण की नई शर्तें या तो उन्हें योजना छोड़ देने अथवा उसमें बहुत अधिक परिवर्तन के लिए इतना बाध्य करेंगी, जिसके परिणाम पूर्वाग्रह ग्रसित होंगे। एक अकेला बजट इस तथ्य से और अधिक कुछ नहीं कि उसमें वर्ष की आर्थिक घटनाओं की वैचारिकता निहित होती है जिससे कि वह संबंधित है लेकिन वित्तपोषक के लिए जो उसकी वर्ष दर वर्ष रचना करता है उसमें एक निश्चित नीति का समावेश करता है जो उसे संसिद्धि की ओर ले जाती है। लेकिन एक नीति चाहे वह कितनी भी बुद्धिमत्ता से अपनाई गई हो और जिन परिस्थितियों की एकरूपता पर उसकी सफलता निर्भर है एक मूर्खतापूर्ण अवरोध से बिखर जाती है। इसी झंझावात ने प्रांतीय वित्त के युक्ति-युक्त प्रचलन को क्षति पहुंचाई, बारंबार के नवीनीकरण ने इसे नुकसान पहुंचाया और उनमें से किसी भी दो के मध्य समयावधि वास्तव में इतनी अल्प थी कि जिससे हालात को स्थायित्व प्राप्त नहीं हुआ।

इस तथ्य से प्रभावित होकर कि साम्राज्यवादी कोष के फायदे के लिए अल्पावधि की शर्त प्रांतीय वित्त की हानियों से पूरी तरह असंतुष्ट थी, भारत सरकार ने सन् 1882 के बंदोबस्त को संशोधित करने के अवसर पर एक निश्चित नियम बना दिया कि उनकी समयावधि पांच वर्ष की होगी, यानि उनका संशोधन उनके शुरू होने की तिथि से पांच वर्ष खत्म होने तक नहीं किया जा सकेगा।

1887-88 का संशोधन

इस नियम के आधार पर जो बंदोबस्त 1882-83 में हुए वे सन् 1887 में समाप्त हुए। बाद में जो संशोधन किए गए साथ में पूरक भी, उन्होंने नियम के मुताबिक राजस्व और व्यय की पूर्ण प्रांतीय अथवा पूर्ण साम्राज्यवादी दोनों ही श्रेणियों को अबाधित छोड़ा। अंततः यह एक परंपरा बन गई कि सन् 1882 के विभाजन के

बाद उन्हें यथावत छोड़ दिया जाए, जबकि प्रांतीय बजटों की रचना का पूरी तरह काया पलट और समन्वयन किया जा रहा था। राजस्व और व्यय के केवल जो शीर्ष संशोधित किए गए, क्योंकि संशोधन देय हो गया था, और तीसरी श्रेणी के अंतर्गत वर्गीकृत किया गया अथवा पूर्णरूपेण साम्राज्यवादी और प्रांतीय उन्हें ''विभाजित शीर्ष'' नाम से भी जाना गया।

सन् 1887-88 के संशोधन में निर्णायक तथ्य साम्राज्यवादी वित्त की असंतोषजनक स्थिति थी जिसका पहले उल्लेख किया जा चुका है। इसकी आर्थिक दशा में सुधार हेतु संयुक्त शीर्ष के अंतर्गत भागीदारी को बदला गया जिससे कि प्रत्येक स्थानीय सरकार को तीन चौथाई स्टाम्प्स (टिकटों) और एक चौथाई आबकारी राजस्व के विनियोग की अनुमति प्राप्त हो गई और उनसे आशा की गई कि ठीक अनुपात में उन शीर्षों के अंतर्गत व्यय भार सहन कर सकें। भू-राजस्व का अनुपात भी बदला गया जिसे तीन चौथाई साम्राज्यवादी बना दिया गया और एक चौथाई प्रांतीय। लेकिन साम्राज्यवादी कोष की आवश्यकताएं इतनी अधिक थीं कि भारत सरकार को अन्य दो श्रेणियों के कुछ शीर्षों को भी अपने लाभ के लिए बदलना पड़ा जैसे कि नमक, सीमा शुल्क, ब्याज, सिंचाई और रेलवे। साम्राज्यवादी कोष को जो लाभ प्राप्त हुए उसका विवरण निम्न प्रकार है :-

राजस्व	साम्राज्यवादी भागीदारी बढ़ी हुई, घटी हुई	शुद्ध लाभ
(1)	(2)	(3)
भू-राजस्व	437,500	
स्टाम्प्स (भागीदारी 1/2 से 1/4 कर दी गई)	-810,000	
आबकारी (भागीदारी 1/2 से 3/4 बढ़ाई गई)	947,500	
नमक राजस्व (बर्मा का) साम्राज्यवादी कर दिया गया	5,000	
सीमा शुल्क (बर्मा का) साम्राज्यवादी कर दिया गया	155,000	
निर्धारित कर आधा कर दिया गया	290,000	215,000
राज्य रेलवे की सकल आय		
नागपुर-छत्तीसगढ़ पटना-गया कानपुर-अछनेरा	-310,000	

(1)	(2)	(3)
पूर्वी बंगाल, प्रान्तीयकरण किया गया	–540,000	
व्यय	**बढ़ा हुआ/घटा हुआ**	**शुद्ध लाभ**
भूराजस्व सर्वेक्षण और बंदोबस्त का सम्पूर्ण प्रांतीयकरण	145,000	
नमक (बंबई में) साम्राज्यवादी कर दिया गया	–90,000	
सीमा शुल्क (बंबई में) साम्राज्यवादी कर दिया गया	–50,000	
राज्य रेलवे		
परिचालन व्यय :–		
प्रांतीय किया गया	305,000	395,00
साम्राज्यवादी किया गया	215,000	
ब्याज प्रांतीयकरण किया गया	–70,000	
साम्राज्यवादी किया गया	–65,000	
सिंचाई प्रांतीय की गई–बंगाल	65,000	
प्रांतीय की गई–मद्रास	230,000	
पुनश्चः लेखे की छोटी मदें अगणनीय		20,000

साम्राज्यवादी कोष को यह शुद्ध लाभ हो जाता यदि इसने बर्मा को 10,000 पौंड की धनराशि प्रदान की होती। इस प्रकार शुद्ध लाभ 530,100 पौंड प्रतिवर्ष की दर से कम हो गया।

सन् 1887-92 की अवधि के प्रांतीय वित्त की स्थिति का निर्णय निम्नलिखित तालिका से किया जाना चाहिए जो विभिन्न प्रांतों के वार्षिक लाभ या घाटे को दर्शाती है:–

प्रांत	वार्षिक लाभ और घाटा				
	1887-88	1888-89	1889-90	1890-91	1891-92
	रु.	रु.	रु.	रु.	रु.
सी.पी.	13,148	22,583	–12,322	–31,573	17,540
बर्मा	77,088	11,560	64,072	106,216	50,598
असम	7,751	26,343	20,090	–17,871	31,185
बंगाल	131,007	–65,792	102,157	–120,377	–11,934
उत्तर पश्चिम प्रांत	–53,900	45,949	102,710	–12,544	–4,399
पंजाब	12,446	32,142	29,264	31,367	–1,719
मद्रास	105,371	113,932	144,571	–136,739	–241,779
बंबई	–24,574	18,322	41,361	–123,887	–53,189

भारत सरकार के वार्षिक वित्त और राजस्व लेखे रो संकलित

साम्राज्यवादी कोष को जो लाभ प्राप्त हुआ वह निम्न अनुपात में प्रांतों में वितरित कर दिए थे :–

प्रांत	के आधार पर राजस्व के प्रमुख प्रांतीय शीर्षों के अंतर्गत वार्षिक संसाधनों की अनुमानित वृद्धि (1882 और 1887 की तुलना)			1887 के संशोधन द्वारा घटाई गई वार्षिक प्रांतीय संसाधनों की राशि
	भू-राजस्व	स्टाम्प और आबकारी	योग	
	पौंड	पौंड	पौंड	पौंड
सी.पी.	2,200	45,500	47,700	15,600
बर्मा	4,700	9,200	13,000	–
असम	22,300	21,300	43,600	24,600
बंगाल	19,200	171,550	190,750	103,600
उत्तर पश्चिम प्रांत	8,000	130,150	138,150	100,000
पंजाब	32,800	23,100	55,900	–
मद्रास	27,750	142,550	150,300	174,400
बंबई	99,000	198,550	297,550	221,900
योग	195,950	741,900	937,850	640,100

1892-93 का संशोधन

पंचवर्षीय संशोधन नियम के अंतर्गत प्रांतीय बंदोबस्त का अगला संशोधन सन् 1892-93 में हुआ। उस वर्ष जो बंदोबस्त हुआ वह सैद्धांतिक रूप में उनसे भिन्न नहीं था जो सन् 1887-88 में हुआ था। संयत राजस्व में सांझेदारी का इस प्रकार पुनर्व्यवस्थापन किया गया था जिससे कि साम्राज्यवादी कोष को प्रांतीय संसाधनों की बढ़ती हुई प्राप्तियों से अधिकाधिक लाभ प्रदान किया जा सके। हिस्सेदारी के पुनर्व्यवस्थापन से साम्राज्यवादी सरकार को इस संशोधन से जो धन की पुनर्प्राप्ति होनी थी उसे निम्न तालिका में दर्शाया गया है :-

प्रांत	सन् 1887-88 - 1891-92 के करार के अनुमान की तुलना में सन् 1891-92 में राजस्व की वृद्धि संशोधित अनुमान	भारत सरकार द्वारा पुनप्रप्ति धन राशि
	रु.	रु.
सी. पी.	119,200	22,700
लोअर बर्मा	334,900	58,900
बंगाल	517,700	51,900
उत्तर पश्चिम प्रांत और अवध	53,300	56,900
पंजाब	195,400	41,000
मद्रास	313,200	103,800
बंबई	399,200	131,100
असम	99,800	
योग	2,042,700	466,300

लेकिन साम्राज्यवादी कोष को प्राप्त इस फायदे ने अनुघटित होने वाली अवधि के प्रांतों के सामान्य आंके गए अनुमानित व्यय और उन पर छोड़े हुए सामान्य अनुमानित राजस्व के मध्य संतुलन को गड़बड़ा दिया। उनके सामान्य व्यय और सामान्य राजस्व के मध्य संतुलन कायम रखने के लिए भारत सरकार ने निश्चित समंजक आबंटन के त्याज्य तरीके को पुनः अपनाया ताकि बंदोबस्त के दौरान जबकि अनुमानित वास्तविक राजस्व और व्यय से जिन्हें सामान्य समझा गया था हट गई और साम्राज्यवादी सरकार द्वारा हर प्रांत को स्वीकृत समायोजित प्रविष्टि पूरी अवधि में निश्चित रही। विभिन्न प्रांतों के अनुमानित सामान्य व्यय और राजस्व का लेखा जो उनके समंजक आबंटन से संबंधित है और जो नई अवधि में निश्चित किया गया वह निम्न प्रकार है :-

प्रांत	प्रांतीय राजस्व			प्रांतीय व्यय
	साधारण राजस्व जो निश्चित प्राप्तियों का एक अंश है	समंजक आबंटन	योग	
	रु.	रु.	रु.	रु.
सी.पी.	567,600	220,500	788,100	788,100
लोअर बर्मा	1,427,500	414,300	1,841,800	1,841,800
असम	657,700	−112,700	545,00	545,000
बंगाल	4,249,300	−143,900	4,105,500	4,105,500
उत्तर पश्चिम प्रांत और अवध	3,403,500	−250,000	3,152,900	3,152,900
पंजाब	1,370,400	348,500	1,718,900	1,718,900
मद्रास	2,479,300	325,400	2,804,700	2,804,700
बंबई	3,123,900	771,400	3,895,300	3,895,300

भारी मात्रा में प्रत्यादान और निश्चित आबंटन का जो बुरा असर हुआ वह स्पष्टतः प्रांतीय वित्त की स्थिति में देखा जा सकता है जैसा कि बंदोबस्त की अवधि के बाद वार्षिक लाभ और घाटे से परिलक्षित होता है :–

			वार्षिक लाभ अथवा घाटा		
प्रांत	1892–93	1893–94	1894–95	1895–96	1896–97
(1)	(2)	(3)	(4)	(5)	(6)
	रु.	रु.	रु.	रु.	रु.
सी.पी.	−21,798	−60,772	105,108	19,653	−37,408*
बर्मा	66,642	−90,653	−272,319	226,505	780
असम	9,336	28,532	−27,422	30,507	−25,421
उत्तर पश्चिम प्रांत और अवध	−16,752	−25,155	−165,987	−139,798	−164,740
बंगाल	−9,826	36,887	169,796	149,808	−186,558
पंजाब	−106,050	−22,699	−24,811	−7,156	−64,073
मद्रास	−159,081	33,636	92,328	44,118	−200,579
बंबई	−23,888	19,443	−102,462	100,690	−221,199

* कुछ भी बकाया नहीं रहा।

भारत सरकार के वार्षिक वित्त और राजस्व लेखे से संकलित

इस तथ्य को स्वीकार कर लेना चाहिए कि प्रांतों के वित्तीय व्यवस्थापन इस अवधि में जब बंदोबस्त समाप्तप्राय था अकाल और प्लेग फैलने से बुरी तरह प्रभावित हुए। इन दोनों दैवी आपदाओं का सामना करने के लिए प्रांतों ने जो व्यय किया उसने सबके संसाधनों में कमी की और मध्य प्रांत तथा उत्तर पश्चिम प्रांतों को लगभग दिवालिया बना दिया, जिससे कि भारत सरकार ने उनके संतुलन के लिए वर्ष 1896-97 में निम्न अंशदान की मदद करके प्राण रक्षा की :-

मध्य प्रांत (सी.पी.) को	526 लाख रुपए
उत्तर पशिम प्रांत और अवध को	1,609 लाख रुपए

1896-97 का संशोधन

प्रांतीय वित्त में जो ह्रास आ गया था उसे कम से कम किसी हद तक 1896-97 के संशोधित बंदोबस्त में प्रांतों के व्यय और राजस्व को एक उच्च स्तर प्रदान करके जो सन् 1892 में उन्हें स्वीकृत किया गया था दूर कर दिया गया।

निम्न तालिका में पुराने और नए व्यय स्तर को उनके अंतर की प्रतिशतता के साथ दर्शाया गया है:-

प्रांत	मानक शुद्ध व्यय	वृद्धि प्रतिशत	
	रु.	रु.	
सी.पी.	653,300	710,700	8.8
लोअर बर्मा	1,064,600	1,206,100	13.3
असम	467,600	564,900	20.8
बंगाल	2,816,700	3,125,500	10.9
उत्तर पश्चिम प्रांत	2,215,400	2,428,700	9.6
पंजाब	1,384,600	1,537,300	11.0
मद्रास	2,054,800	2,238,600	8.9
बंबई	2,049,500	2,544,100	5.6
योग	13,066,500	14,355,900	9.9

इस नए और बढ़े हुए व्यय स्तर के फलस्वरूप साम्राज्यवादी और प्रांतीय सरकारों के संयुक्त राजस्व के अंशदान के संशोधन की आवश्यकता महसूस हुई। लेकिन इस संशोधन का क्रियान्वयन इस प्रकार करना था कि इससे प्रांतों को संसाधनों का अधिक हिस्सा मिले और यह जहां तक संभव हो निश्चित आबंटन

की आवश्यकता को प्रतिबंधित करे क्योंकि भारत सरकार ने कीमत अदा करके यह सीख लिया था कि बड़े पैमाने पर निश्चित आबंटन प्रांतीय वित्त के संसाधन पक्ष को एक असुविधाजनक मात्रा तक कठोर बनाते हैं। यदि व्यय की परिवर्तनशीलता प्रांतीय बजट में सम्मिलित राजस्व की विस्तारशीलता का अतिक्रमण कर जाती है तो इसे मजबूरन एक कठिन स्थिति को संभालने के लिए अनुकंपा राशि वितरित करने के लिए बाध्य होना पड़ेगा। दूसरे ये निश्चित आबंटन एक निश्चित मात्रा में असमानता को भी जन्म देते हैं जैसी कि पिछड़े और उन्नत प्रांतों के मध्य होती है। उन्नत प्रांतों में निश्चित आबंटन उनके संसाधनों का तुलनात्मक रूप में एक छोटा सा हिस्सा ही बना, जबकि पिछड़े प्रांतों के मामले में आनुपातिक तौर पर यह भिन्न था। और चूंकि प्रांत तभी अधिक व्यय कर सकते थे जबकि उनके राजस्व-वृद्धि होती, उन्नत प्रांतों के अधिकतर राजस्व की प्रवृत्ति परिवर्द्धनशील थी इसलिए पिछड़े प्रांतों की तुलना में उनके साथ अच्छा बर्ताव होता था जिसके कि संसाधनों का एक बड़ा हिस्सा स्थिर प्रवृत्ति का था। भारत सरकार का यह अभिमत ठीक ही था कि जैसा कि उसके विपरीत भी हो सकता था, पिछड़े प्रांतों की जरूरतें उन्नत प्रांतों के मुकाबले अधिक निरंकुश थीं। इस अन्याय को दूर करने के लिए भारत सरकार ने पिछड़े प्रांतों की साझेदारी पिछले संशोधन में निश्चित आबंटन को घटाकर संयुक्त राजस्व में बढ़ा दी। सिर्फ 25 की बजाय भू-राजस्व का इसने पंजाब को 4 और मध्य प्रांत को 5 प्रदान किया। भू-राजस्व में बर्मा का हिस्सा 66 बढ़ा दिया गया और ऊपरी बर्मा के जुड़ने के कारण बढ़े हुए व्यय का प्रावधान किया गया। इससे रेलवे राजस्व की वापिसी के बदले बर्मा को मात्र .25 के बजाए .5 का उत्पाद शुल्क लगाने का अधिकार प्रदान किया गया। उत्तर पश्चिम प्रांत की आर्थिक दशा बहुत अच्छी नहीं थी। इसके राजस्व में कोई बहुत वृद्धि नहीं हुई। इसका राजस्व इतना भारी अप्रगतिशील था कि 1892 और 1897 के मध्य मात्र 2 प्रतिशत की बढ़ोतरी हुई। सन् 1892 के संशोधन में उत्तर पश्चिम प्रांत के साथ जो व्यवहार किया गया उसमें थोड़ा अन्याय अवश्य था। संशोधन में इसके मानक व्यय में 5 लाख के राजस्व का घाटा रहा, जिसे इसके संतुलन में कमी करके पूरा किया गया। इसके सुधार के लिए भारत सरकार ने उत्तर पश्चिम प्रांत के लाभ हेतु भू-राजस्व में हिस्से को पुनर्विभाजित किया। इसके अतिरिक्त भारत सरकार ने उस प्रांत को वर्ष 1897-98 के लिए 4 लाख का अनुदान प्रदान किया ताकि यह आर्थिक रूप से स्वतंत्र आधार पर जिला निधि स्थापित कर सके जिसे ब्रिटिश भारत के हर प्रांत में बहुत पहले ही लागू किया जा चुका था। पिछड़े और साथ ही उन्नत प्रांतों के साथ न्यायोचित व्यवहार सुनिश्चित करने की दिशा में इसने यह महसूस कर लिया था कि एक असमान व्यवहार ही सबसे अच्छा तरीका था। इसलिए इसने बदोबस्त की शर्तों के संशोधन में बंगाल, मद्रास और बंबई

जैसे अधिक उन्नत प्रांतों के साथ कम उदार रवैया अख्तियार किया। पिछड़े प्रांतों के मुकाबले इसने उनको आनुपातिक दृष्टि में कुछ कम व्यय बढ़ाने की इजाजत प्रदान की, जैसाकि ऊपर उदाहरण दिया जा चुका है और उनके राजस्व के हिस्से में थोड़ी कमी कर दी गई।

इस संशोधन से साम्राज्यवादी कोष को व्यावहारिक तौर पर नगण्य लाभ हुआ। सन् 1877 में कटौती करके इसको इस वर्ष में पूर्ण लाभ 40 लाख का हुआ। सन् 1882 में साम्राज्यवादी सरकार इतनी भारी समृद्ध थी कि बजाय लाभ प्राप्ति के उसने 26 लाख वार्षिक का साम्राज्यवादी राजस्व राज्यों को सौंप दिया। लेकिन 1889 में इसने 63 लाख और 1892 में 46 लाख की धनराशि फिर से प्राप्त की। इस अवसर पर यद्यपि लाभ नगण्य था, क्योंकि जो कुछ भी उसने उन्नत प्रांतों से हासिल किया था उसे पिछड़े प्रांतों को दे दिया।

यद्यपि बंदोबस्त की शर्तें न्यायोचित और उदार थीं लेकिन असामान्य स्थितियों ने पूरे बंदोबस्त काल को गड़बड़ा दिया था। प्रांतीय संसाधनों पर ऐसी भारी मांगें थोप दी गई थीं जो यद्यपि काफी थीं, लेकिन उनसे प्रांतों की जरूरतें पूरी नहीं हो सकती थीं। सन् 1896 और 1897 के अकाल ने सभी प्रांतों को कमोबेश मात्रा में प्रभावित किया। उत्तर पश्चिम प्रांत और अवध, मध्य प्रांत और बर्मा में अकाल की छाया का असर बहुत ही गंभीर था। मद्रास, बंगाल और पंजाब में यह चिंताजनक था। बर्मा में थोड़ा कम था। दूसरी ओर 1899 और 1900 का अकाल बंबई और मध्य प्रांत में बहुत गंभीर था। पंजाब में बहुत चिंताजनक और शेष प्रांतों में इसका असर थोड़ा कम था। और असम यद्यपि इन दोनों ही अकालों के प्रभाव क्षेत्र से मुक्त था लेकिन सन् 1897 के जून में उसे भीषण भूकंप का सामना करना पड़ा। अकाल के साथ-साथ प्लेग ने भी भीषण तबाही मचाई और जन-धन की हानि हुई। इन अदृश्य प्राकृतिक प्रकोपों की रोकथाम की कार्यवाहियों पर सभी प्रांतों को असाधारण व्यय करने की मजबूरी झेलनी पड़ी जिसका बंदोबस्त के समय के मानक निर्धारित राजस्व में पहले से किसी भी प्रकार का प्रावधान नहीं किया गया था। इन अदृश्य प्राकृतिक आपदाओं पर असाधारण प्रकृति का जो व्यय हुआ उसे साम्राज्यवादी सरकार ने झेला और उसकी अदायगी साम्राज्यवादी खजाने से हुई, लेकिन यह आड़े वक्त की मदद जरूरतों को देखते हुए बराबर की सिद्ध नहीं हुई, और भारत सरकार को प्रांतीय राजस्व में विशेष अनुदान के लिए बाध्य होना पड़ा जैसा कि आगे तालिका (पृ. 184) में दर्शाया गया है।

इस प्रकार भारत सरकार को अकाल की कीमत ही नहीं चुकानी पड़ी, वरन् संतुलन स्थापित करने के लिए और उस समय की असाधारण परिस्थितियों में प्रांतीय सरकारों द्वारा आवश्यक सेवाओं में रुकावट या कमी कर दिए जाने पर उन्हें पुनः चालू करने के लिए धन की व्यवस्था भी करनी पड़ी।

साम्राज्यवादी सरकार ने यह सब मदद उपलब्ध कराई, वह इसलिए भी कि उस पूरे समय में साम्राज्यवादी वित्त की स्थिति बहुत ही समृद्धि की थी। यद्यपि यह अच्छा होता है कि सामान्य तौर पर सरकारें हमेशा अभावग्रस्त रहें, लेकिन साम्राज्यवादी वित्त में लाभ एक सामयिक संसाधन सिद्ध हुआ और उसका उपयोग दुगना प्रशंसनीय था, जिस तरीके से यह खर्च किया गया। लाभकारी सार्वजनिक निर्माण कार्यों को सम्पन्न करने हेतु अनुदान प्रदान करने के साथ-साथ साम्राज्यवादी सरकार के अनावश्यक कोष को प्रांतों के निम्नलिखित अतिरिक्त राहतकार्यों पर व्यय किया गया :-

1. 50,94,000 रुपये के साम्राज्यवादी भू-राजस्व की छूट और 59,81,000 रुपये प्रांतों को उनके हिस्से की अदायगी हेतु, कुल राशि 1,10,75,000 रुपये।
2. मध्य प्रांत में 7,000 रुपये वार्षिक के पंधारीकर की समाप्ति।
3. अजमेर में पटवारी दर में 10 प्रतिशत के राजस्व से घटाकर 6¼ प्रतिशत की गई, स्थानीय राजस्व में प्रतिशत धनराशि 13,000 रुपए थी, लेकिन स्थानीय निधि में जो अंशदान प्रदान किया गया वह 23,000 रुपये था।[1] प्रांतीय राजस्व की मदद के लिए इस सब अंशदान को दृष्टिगत रखते हुए निम्नलिखित तालिका प्रस्तुत की जा रही है जो बंदोबस्त अवधि के दौरान थी, प्रांतीय वित्त स्थिति को दर्शाती है :-

1. भारत सरकार : वित्तीय लेखा 1902-3, पैरा 146

प्रांतों का लाभ अथवा घाटा

प्रांत	1897–98	1898–99	1899–1900	1900–1	1901–2	1902–03	193–4
	रु.	रु.	रु.	रु.	रु.	रु.	रु.
सी.पी.	(अ)	12,288	–1,22,883	(अ)	22,42,408	–705	–7,40,742
बर्मा	1,69,435	4,11,494	26,14,312	15,16,220	7,55,285	–	–
असम	–45,580	86,742	–8,15,488	–86,829	1,47,353	10,08,393	11,40,517
बंगाल	–303,250	2,19,449	7,01,899	4,43,224	6,44,170	6,23,640	87,23,496
उत्त्री पश्चिम प्रांत	(अ)	3,28,562	7,53,815	8,04,789	–	–	–
पंजाब	–2,278	1,15,379	–16,53,794	(अ)	14,96,350	10,28,770	6,74,880
मद्रास	–1,57,707	1,60,706	–17,58,029	–3,21,013	40,41,297	–15,810	52,40,809
बंबई	–1,29,663	1,00,427	15,04,271	(अ)	58,23,235	24,23,235	1,23,000
संयुक्त प्रांत आगरा और अवध	–	–	–	–	–9,63,788	–64,372	37,11,281

अ. बजट संतुलन के कारण कोई बाकी नहीं,

भारत सरकार के वार्षिक वित्त और राजस्व लेखे से संकलित

प्रांतों को प्रदत्त साम्राज्यवादी विशेष सहायतानुदान (*)

वर्ष		भारत	सी.पी.	असम	बंगाल	उत्तर प. प्रांत और अवध	पंजाब	मद्रास	बंबई	बर्मा
		रु.	रु.	रु.	रु.	रु.	रु.	रु.	रु.	रु.
1897–98		–	7,72,000	8,00,000	–	10,27,000	–	–	12,18,000	–
1898–99		–	5,00,000	18,00,000	17,00,000	10,00,000	5,00,000	16,90,000	48,75,000	–
1899–1900		–	19,32,000	–	–	–	95,000	3,49,000	34,37,000	–
1900–1901		–	34,15,000	–	–	–	5,98,000	–	64,79,000	–
1901–1902		–	26,89,000	2,00,000	–	–	12,40,000	32,14,000	91,00,000	–
		–	6,50,000	–	–	–	4,00,000	10,00,000	19,50,000	–
1902–1903	1.	–	2,00,000	1,00,000	10,00,000	5,00,000	4,00,000	8,00,000	6,00,000	4,00,000
	2.	17,70,000	2,00,000	2,80,000	6,00,000	4,50,000	5,00,000	5,50,000	5,50,000	–
	3.	11,00,000	2,00,000	1,50,000	–	3,50,000	3,00,000	3,50,000	3,50,000	–
1903–1904	4.	–	2,00,000	1,00,000	5,00,000	5,00,000	4,00,000	8,00,000	6,00,000	4,00,000
	5.	–	5,00,000	5,00,000	2,00,000	3,00,000	10,00,000	5,00,000	10,00,000	–
	6.	–	1,90,000	1,11,000	–	2,26,000	2,76,000	3,50,000	3,50,000	–

1. शिक्षा के लिए आवर्ती
2. लोक निर्माण हेतु
3. जिला और अन्य प्रतिष्ठानों में सुधार हेतु

(अ) बलूचिस्तान, राजपूताना और मध्य भारत (सी.पी.) में लोक निर्माण हेतु प्रावधान

(ब) भारत के अंतर्गत अनुमानित धनराशि प्रांतों में क्रमशः वितरणार्थ

भारत सरकार के वार्षिक वित्तीय लेखे से संकलित

1902-3 का संशोधन

1897 में राज्यों के साथ जो बंदोबस्त हुआ उसके समाप्त होने की सामान्य अवधि 1902-03 थी। बंदोबस्त में सामयिक संशोधन की केन्द्रीय कार्यवाही के अंतर्गत आगामी पांच वर्ष के लिए मानक प्रांतीय व्यय का निर्धारण करना और निर्णय की एक काम चलाऊ विधि द्वारा समाप्त होने वाले पांच वर्ष के दौरान औसतन व्यय को प्रारंभ होने वाले पांच वर्ष की अवधि के लिए मानक व्यय मान लिया गया। मौटे तौर पर इस प्रक्रिया में कोई भी त्रुटि नहीं थी यदि विगत और प्रारंभ होने वाली पांच वर्ष की अवधि जिससे वह संबंधित थी समान रूप से सामान्य होती। लेकिन जैसा कि हमने देखा था गत पांच वर्षों की घटनाएं पूरी तरह असामान्य थीं, और फलत: किसी भी गणना का विश्वसनीय आधार नहीं बनाया जा सकता था। भारत सरकार ने यही उचित समझा कि जब तक सामान्य स्थिति नहीं हो जाती प्रांतीय बंदोबस्त का पूर्णतया संशोधन हाथ में लेना ठीक नहीं होगा। बर्मा को छोड़कर संशोधन के लिए 1902-3 का अवसर इसलिए स्थगित कर दिया गया क्योंकि उस प्रांत के लिए अन्य प्रांतों की तुलना में गत संशोधन अनावश्यक रूप में बड़ा अनुकूल सिद्ध हुआ था। इन सब तथ्यों से पूरे 1896-97 के बंदोबस्त बहुत अच्छे और समानता के परिकलन पर आध ारित थे। व्यय पर राजस्व की बढ़ोतरी में किस सीमा तक वृद्धि हुई वह निम्न तालिका में दर्शाया गया है:-

बर्मा	सन् 1897-98 से 1901-2 के बंदोबस्त का अनुमानित स्तर	1902-3 के अनुमान	अंतर
	रुपये	रुपये	रुपये
राजस्व	2,93,81,000	3,73,86,000	80,05,000
व्यय	2,93,81,000	3,31,86,000	38,05,000
लाभ		42,00,000	

इस प्रकार के परिणाम को जारी रखना साम्राज्यवादी सरकार के लिए खराब और अन्य प्रांतीय सरकारों के लिए अन्यायपूर्ण समझा गया। बर्मा का आर्थिक बंदोबस्त

नियमानुसार संशोधित किया गया। समकालिक संशोधन के स्थापित नियम के होते हुए, जबकि वह मौका 1902–3 में स्वयं आ गया था। इस संशोधन के परिणाम स्वरूप भारत सरकार ने इस लाभ को संयुक्त राजस्व में प्रांत के हिस्से में समायोजित कर दिया। भू–राजस्व के हिस्से में दो तिहाई से आधे की कमी कर दी गई आबकारी में आधे से एक तिहाई और अन्य लघु शीर्षों को व्यय के प्रांतीयकृत शीर्षों में पहले ही मिला दिया गया। इन परिवर्तनों के कारण बर्मा का मानक राजस्व और व्यय 1903 से 1906 के नए संशोधन में निम्नलिखित योग से प्राप्त हुआ :–

राजस्व	समंजक	कुल राजस्व	कुल व्यय
रु.	रु.	रु.	रु.
2,78,31,000	53,02,000	3,31,33,000	3,31,33,000

एक अन्य प्रांत जिसका बंदोबस्त संशोधित किया गया पंजाब था। लेकिन इसका कारण भिन्न था। उत्तर पश्चिम प्रांत में जो भू–क्षेत्र आता था वह उत्तर पश्चिम सीमा प्रांत और संयुक्त प्रांत आगरा और अवध में विभाजित था, जिसे आमतौर पर संयुक्त प्रांत कहा जाता है। इसके साथ ही पंजाब के कुछ जिले भी इससे अलग किए गए थे और उन्हें नवसृजित उत्तर पश्चिम सीमा प्रांत में विलीन कर दिया गया था। इससे प्रांतीय राजस्व और व्यय का पुनः समायोजन करना पड़ा, लेकिन बंदोबस्त के किसी भी पूर्णतया संशोधन की आवश्यकता नहीं हुई। जो भी परिवर्तन हुए समंजक आबंटन में आवश्यक रूपांतरण तक ही सीमित थे।

1904–5 का अर्द्धस्थाई संशोधन

उपर्युक्त अपवादों के साथ 1897 के बंदोबस्त वर्ष 1904 के अंत तक बढ़ा दिए गए। संशोधन के स्थगन का प्रमुख कारण जैसाकि ऊपर बताया जा चुका है वर्ष 1901–2 की असामान्य स्थितियों की वजह से है। लेकिन एक अन्य कारण यह भी था, जिसकी वजह से भारत सरकार इतनी अधिक इच्छुक थी कि संशोधन का कोई भी कदम उठाने से पूर्व सामान्य स्थिति बहाल हो जाए। ऐसे ही समय में भारत सरकार ने प्रांतीय वित्त में स्थायित्व लाने का प्रयत्न किया। सन् 1881 में प्रांतीय वित्त के आधार के रूप में वार्षिक बजट प्रणाली के स्थान पर पांच वर्षीय बजट प्रणाली प्रतिस्थापित की गई। यद्यपि निरंतरता और स्थायित्व की ओर यह स्पष्ट सुध ार था लेकिन इसे पूरी तरह काफी नहीं माना गया। इसके अंतर्गत प्रांतीय सरकारों को

स्वतंत्रता दी गई कि वे व्यय के मामले में और सफलतापूर्वक अपने संसाधन बढ़ाने में पांच वर्ष तक अपनी अर्थव्यवस्था के फल भोगें।

यद्यपि यह यथासंभव लाभप्रद था, लेकिन समय की पाबंदी ने प्रांतीय वित्त पर बड़ा कठोर असर डाला। पांच वर्षीय बजट प्रणाली में ऐसा हुआ कि नई परिस्थितियों में प्रांतीय सरकारें प्रथम कुछ वर्षों में कंजूसी करने लगीं थी, जब तक कि उनके व्यय राजस्व से अधिक प्रमाणित नहीं हो जाएं। और अंतिम कुछ वर्षों का फिजूल खर्च ऐसा न हो कि उनका व्यय एक स्तर से बढ़ कर अधिक हो जाए कि भारत सरकार को उनके बंदोबस्त करते समय जो अधिक अंतर है उसे रद्द करना पड़े। किसी भी स्थानीय सरकार ने ऐसी आशा नहीं की थी कि वह पांच वर्ष के अल्पकाल में सुधार की कोई परिपक्व और सुविचारित योजना लागू कर सके। यह सिर्फ इतना ही कर सकती थी कि पहले दो तीन वर्ष किसी योजना को बनाने में लगाती और बाकी दो तीन वर्ष इस पर अमल करने में, जैसाकि बहुत से प्रांतों ने किया। इस प्रकार की योजनाओं को चलाने की प्रवृत्ति जिसका कि मात्र गुण यह था कि इसे संशोधन के पूर्व लागू किया जा सकता था और वह इस लिए कि मानक व्यय के करीब पहुंचा जा सके, जो कि निश्चय ही पंचवर्षीय बजट प्रणाली का सीधा नतीजा था। यह किसी भी प्रकार एक पूर्व आकलित परिणाम नहीं हैं। प्रांतों के वार्षिक लाभ का अध्ययन करने पर पता चलता है कि पांच वर्ष की अवधि के शुरुआत में वृद्धि दिखाई देती है और इसके अंत में गिरावट। इन किफायत और फिजूल खर्ची के दोषों के निराकरण हेतु मात्र उपचार यह था कि पंचवर्षीय संशोधन प्रणाली से छुटकारा पाया जाए और भारत सरकार ने इस पर साहसपूर्वक अमल भी किया। संशोधन का अधिकार बहुत दिनों से विचार किया हुआ अधिकार था और भारत सरकार इस पर अमल करने में असफल नहीं हुई जबकि प्रांतों की ओर से इसका विरोध किया जा रहा था। इसे तभी लागू किया गया जब यह पाया गया कि इस पर अमल करना हानिकारक है।

वर्ष 1903-4 को सामान्य वर्ष मानते हुए भारत सरकार ने विभिन्न प्रांतों के बंदोबस्त संशोधित करने का निश्चिय किया। विचार यह था कि साम्राज्यवादी और प्रांतीय सरकारों के मध्य राजस्व को पूर्ण व्यय के आधार पर जिसे वे क्रमशः नियंत्रित किए हुए थे समायोजित किया जाए। ऐसा ज्ञात हुआ कि प्रांतीय व्यय का योग संपूर्ण व्यय के एक चौथाई से भी कम था, जबकि साम्राज्यवादी व्यय जिसमें सेना और गृह व्यय भी शामिल था तीन चौथाई से भी अधिक था। व्यय का यह औसत साम्राज्यवादी और प्रांतीय व्यय के मध्य राजस्व के विभाजन का आधार माना गया

और निम्नलिखित राजस्व और व्यय के मानक हिस्से संयुक्त शीर्षों के अंतर्गत इस प्रकार माने गए :–

	साम्राज्यवादी	प्रांतीय
बंगाल, यू.पी., बंबई, मद्रास	3/4	1/4
पंजाब, बर्मा	5/8	3/8
मध्य प्रांत (सी.पी.), असम	1/2	1/2

पंजाब, बर्मा, मध्य प्रांत और असम के मामले में विभाजन की विभिन्न मानक दरें अपनाने का मुख्य कारण था कि पिछड़े प्रांतों को विकास के उसी अनुपात में अवसर प्रदान किए जाएं जैसा कि उन्नत प्रांतों को प्राप्त थे।

सन् 1904–05 में जो बंदोबस्त हुआ उसमें भारत सरकार ने घोषित किया कि बंगाल, मद्रास, असम और संयुक्त प्रांत के बंदोबस्त स्थाई हैं और भविष्य में उनका संशोधन नहीं होगा, जब तक कि यह पता न चले कि दूसरों की तुलना में उस प्रांत को वित्तीय परिणाम बुरे थे, अथवा भारत सरकार के लिए भी ये अनुचित थे जबकि उसे असाधारण आपदा का सामना करना पड़े। इस व्यवस्था के फलस्वरूप उनके बंदोबस्त अर्द्ध–स्थाई करार किए गए। बंदोबस्त के दौरान इस अनौचित्य की पुनरावृत्ति के निराकरण हेतु भारत सरकार ने यह आवश्यक समझा कि राजस्व और व्यय के संयुक्त शीर्षों के विभाजन के मानक अनुपात उन प्रांतों के संबंध में जहां अर्द्ध–स्थाई बंदोबस्त लागू किए जा चुका है विशेष परिवर्तन किए जाएं जो निम्न प्रकार थे:–

राजस्व	प्रांतीय हिस्सा			व्यय	प्रांतीय हिस्सा		
	बंगाल	मद्रास	संयुक्त प्रांत		बंगाल	मद्रास	संयुक्त प्रांत
आबकारी उत्पाद शुल्क	7/16	–	–	आबकारी उत्पाद शुल्क	7/16	–	–
स्टाम्प्स	1/2	1/2	1/2	स्टाम्प्स	1/2	1/2	1/2
पंजीकरण	सम्पूर्ण	सम्पूर्ण	–	पंजीकरण	संपूर्ण	–	–
सिंचाई	–	–	संपूर्ण	भू–राजस्व	सम्पूर्ण	सम्पूर्ण	सम्पूर्ण

भारत सरकार के वित्तीय लेखा, 1904–5, पृष्ठ 67 से संकलित

इन संशोधनों के अतिरिक्त भारत सरकार ने उन्हें निम्नलिखित अनुदान प्रदान किए:—

बंगाल	मद्रास	संयुक्त प्रांत
1. कर निर्धारण में चार लाख की वृद्धि जिससे कि सरकारी कर्मचारियों की वेतन व्यवस्था को सुधारा जा सके।	1. सर्वेक्षण बंदोबस्त हेतु 20 लाख का अनुदान	1. 40 लाख के सिंचाई राजस्व की गारंटी
2. अतिरिक्त धनराशि का प्रावधान जो 2½ लाख से अधिक न हो, जिससे डिप्टी कलेक्टर स्टाफ को सुदृढ़ किया जा सके।	2. कुछ स्थानीय निकायों के राहत कार्य हेतु 75,000 रु. वार्षिक का आवर्ती अनुदान	2. स्थानीय निकायों की राहत हेतु 2½ लाख रु. का वार्षिक अनुदान।
	3. कृषि प्रयोग हेतु 50,000 रुपए का वार्षिक अनुदान	3. जिला परिषद् वित्त के सुधार हेतु आधे लाख रुपए का प्रति वर्ष का प्रावधान
	4. जिला प्रशासन के पुनर्गठन हेतु व्यय भार वहन करना।	

भारत सरकार के वित्तीय लेखा, पृ. 67 (जैसा उपरोक्त है) से संकलित

संयुक्त राजस्व में उनकी संबंधित भागीदारी में संशोधनों को देखते हुए अर्द्ध–स्थाई बंदोबस्त वाले प्रांतों के मानक राजस्व और व्यय इस प्रकार थे :—

मानक राजस्व और व्यय

(हजार रुपयों में)

प्रांत	व्यय	राजस्व	राजस्व नियतन	योग
मद्रास	35,048	29,082	5,966	35,048
बंगाल	49,887	44,984	4,903	49,887
संयुक्त प्रांत	36,664	36,264	400	36,664
असम	72,07	607	1,200	7,207

साम्राज्यवादी खजाने के राजस्व पक्ष को प्रांतों के अर्द्ध–स्थाई बंदोबस्त के संशोधन के फलस्वरूप 2,06,000 रुपए का लाभ हुआ। लेकिन इस संशोधन के

कारण साम्राज्यवादी सरकार को 36,000 रुपए के अतिरिक्त व्यय भार को वहन करना पड़ा जिसे अभी तक प्रांतीय बजट में दिखाया गया था। अतः इसका शुद्ध लाभ सिर्फ एक वर्ष में सामान्य तौर पर 1,70,000 रुपए था।

जैसा कि प्रांतीय बजट योजना के प्रारंभ में भारत सरकार ने सोचा था कि अर्द्ध-स्थाई बंदोबस्त वाले प्रांतों को निम्न प्रकार प्रारंभिक अनुदान देकर एक अच्छी शुरुआत की जा सकेगीः–

बंगाल को	50 लाख रुपए (कलकत्ता विश्वविद्यालय के लिए अतिरिक्त 50 लाख)
मद्रास को	50 लाख रुपये (20 लाख के अतिरिक्त खर्चे बंदोबस्त के लिए शामिल थे)
सुयंक्त प्रांत को	30 लाख रुपये (ऋण ग्रस्त भू-संपत्तियों पर खर्चे की भरपाई करने के लिए 1½ लाख रुपए के अतिरिक्त)।
असम को	20 लाख रुपए।

सन् 1905-06 से बंबई और पंजाब के शेष प्रांतों में आगे चल कर अर्द्ध-स्थाई बंदोबस्त की व्यवस्था होनी थी।

उनके बंदोबस्त को नया रूप देने में भारत सरकार ने 1904-05 में हुए अर्द्ध-स्थाई बंदोबस्त वाले प्रांतों के विभाजन की मानक दर से थोड़ा हट कर कार्य किया। निम्नलिखित कतिपय विशेष अपवादों को छोड़कर राजस्व और व्यय के संयुक्त शीर्ष को आधा-आधा विभाजित किया गया, इसमें बम्बई में सिंचाई को सम्मिलित किया गया और साम्राज्यवादी और प्रांतीय के मध्य तीन चौथाई और एक चौथाई हिस्से को शामिल नहीं किया गया। इस नियम के निम्नलिखित अपवाद थे :–

	प्रांतीय हिस्सा			प्रांतीय हिस्सा	
राजस्व के लेखाशीर्ष	बंबई	पंजाब	व्यय के लेखाशीर्ष	बंबई	पंजाब
भू-राजस्व	189¼ लाख तक की गारंटी	3/8	भू-राजस्व	पूर्णतया	पूर्णतया
पंजीकरण	पूर्णतया	पूर्णतया	–	–	–
सिंचाई	½	3/8 28 लाख तक की गारंटी			

भारत सरकार के वित्तीय लेखे से संकलित

इन दो प्रांतों के मानक राजस्व और व्यय अर्द्ध–स्थाई बंदोबस्त के अंतर्गत निम्न प्रकार थे :–

प्रांत	व्यय		राजस्व	
		राजस्व	निश्चित नियतन	रुपए
बंबई	4,91,75,000	4,48,000	42,77,000	4,91,75,000
पंजाब	2,49,50,000	2,46,50,000	3,00,000	2,49,50,000

अकाल और प्लेग पीड़ित प्रांतों के मामलों में उदारतापूर्ण हिस्सेदारी में वृद्धि और आबंटन निश्चित करने के कारण साम्राज्यवादी सरकार को इस लेनदेन में हानि उठानी पड़ी। राजस्व के नए मानक के आधार पर भारत सरकार को दो प्रांतों पर एक साथ 5,95,000 रुपए का नुकसान हुआ। व्यय के संयुक्त शीर्ष में प्रांतीय हिस्सेदारी में जो समानांतर वृद्धि हुई, उससे तथापि एक वर्ष में साम्राज्यवादी व्यय में 2,21,000 रुपए कम हुए। इसलिए कुल मिलाकर साम्राज्यवादी सरकार ने 3,74,000 रुपए के सामान्य लाभ की बलि दे दी ताकि इन दोनों प्रांतों के वित्त को स्थायित्व और मजबूती मिल सके। यह सब 50,00,000 रुपए के प्रारंभिक अनुदान के अलावा था जो प्रत्येक को प्रदान किया गया था ताकि वे अपना कार्य ठीक प्रकार से निभा सकें।

एक वर्ष के उपरांत मध्य प्रांत के बंदोबस्त को पहली अप्रैल, 1906 से अर्द्ध–स्थाई बनाया गया। राजस्व और व्यय के संयुक्त शीर्ष में हिस्सेदारी बढ़ाई गई जैसा कि बंबई और पंजाब के मामले में किया गया था, विशेषकर इसलिए भी कि इसमें बरार को भी जोड़ दिया गया था जो अब तक सीधे तौर पर साम्राज्यवादी सरकार द्वारा शासित होता था, साम्राज्यवादी और प्रांतीय के मध्य तीन चौथाई और एक चौथाई से एक का आधा और भू–राजस्व में 82½ लाख की भागीदरी की गारंटी प्रदान की गई। इस सम विभाजन के नियम का एकमात्र अपवाद पंजीकरण राजस्व था जिसे पूर्णतया प्रांतीय कर दिया गया था। राजस्व का व्यय के साथ संतुलन रखने के लिए एक वर्ष में 27,07,007 रुपये का आबंटन निश्चित किया गया और एक अच्छी शुरुआत के लिए 30,00,000 रुपए के प्रारंभिक अनुदान का प्रबंध किया गया।

मध्य प्रांत के बंदोबस्त के साथ–साथ अर्द्ध–स्थाई बंदोबस्त किए गए। बंगाल और असम प्रांतों के बजट को विशेष प्रशासनिक परिवर्तनों की वजह से पुनर्गठित करना आवश्यक था। दो प्रांत जिनका पुनर्गठन किया गया वे थे (1) बंगाल और (2) पूर्व बंगाल और असम। नए प्रांत बंगाल को उसके वित्तीय बंदोबस्त के संशोधन में उसी के अनुपात में संयुक्त राजस्व में हिस्सा दिया गया जैसा कि

बंबई और पंजाब को दिया गया था। अर्थात् सभी संयुक्त शीर्षों में आधा हिस्सा। साम्राज्यवादी सरकार के सीधे नियंत्रण में पंजीकरण और भू-राजस्व का वह भाग जो सरकारी भू-संपत्तियों से प्राप्त होता था उसे पूर्णतया प्रांतीय बना दिया गया। इस अनुकूल व्यवहार की वजह, प्रांत के निश्चित आबंटन को 49.03 लाख से घटा कर 5.75 लाख कर दिया गया।

पूर्व बंगाल और असम के नए प्रांत में सम विभाजन का सिद्धांत सभी राजस्व और व्यय के संयुक्त-शीर्षों पर लागू किया गया पंजीकरण के सिवाय, जिसे पूर्ण प्रांतीय बनाया गया था। हिस्सेदारी में इस वृद्धि ने प्रांतीय बजट के संसाधन पक्ष को इतना बढ़ाया कि संतुलन बनाए रखने के लिए निश्चित समायोजित आबंटन को प्रांतीय से साम्राज्यवादी कोष में निषेधात्मक कार्यवाही के जरिए बहाल करना पड़ा। निम्न तालिका तीन प्रांतों के जहां अर्द्ध-स्थाई बंदोबस्त किया गया मानक व्यय और मानक राजस्व को दर्शाती है:-

प्रांत	व्यय		राजस्व	
		राजस्व	नियतन	योग
सी.पी.	1,76,43,000	1,49,36,000	27,07,000	1,76,43,000
पूर्वी बंगाल एवं असम	2,12,19,000	2,18,42,000	6,23,000	1,12,19,000
बंगाल	4,72,73,000	4,67,01,000	5,72,000	4,72,73,000

बाद में प्रांत के बंदोबस्त में कुछ संशोधन किए गए ताकि प्रति वर्ष 60,000 रुपए साम्राज्यवादी नियतन से प्रांतीय नियतन में डालकर आबंटन का अनुकूल समायोजन किया जा सके।

अर्द्ध-स्थाई प्रणाली की सीमा से बाहर जो प्रांत था वह सिर्फ बर्मा था। इसका अंतिम पांच वर्षीय बंदोबस्त जो 1902-3 में हुआ था, खत्म हो चुका था। अतएव भारत सरकार ने निश्चय किया कि अन्य प्रांतों से एकरूपता स्थापित करने के लिए पहली अप्रैल, 1907 से इसका अर्द्ध-स्थाई बंदोबस्त किया जाए। निष्पक्ष भावना से इसे राजस्व और व्यय के प्रमुख संयुक्त शीर्षों में बराबर की हिस्सेदारी प्रदान की गई और अन्य प्रांतों की तरह नमक को साम्राज्यवादी अधिकार क्षेत्र में रखा गया। इसे 90,68,000 रुपए वार्षिक का समंजक आबंटन प्रदान किया गया ताकि यह अपने मानक व्यय के घाटे की पूर्ति कर सके और 50,00,000 रुपए का एक प्रारंभिक अनुदान भी दिया गया।

सन् 1907 तक सभी प्रांतों को अर्द्ध–स्थाई बंदोबस्त की सीमा के अंतर्गत ले लिया गया और प्रांतीय वित्त योजना के बिना आगे किसी परिवर्तन और बिना बाधा के चलते रहने की उम्मीद की गई। लेकिन जैसा कि घटित हुआ और देखा गया, मद्रास और संयुक्त प्रांत के साथ 1904 में सम्पन्न अर्द्ध–स्थाई बंदोबस्त अन्य प्रांतों की तुलना में जो उनके सामने शर्ते पेश की गई थीं, उनके लिए थोड़ा अन्यायपूर्ण साबित हुआ। इस अन्यायपूर्ण रवैये को दूर करने हेतु जो अर्द्ध–स्थाई बंदोबस्त में संशोधन आवश्यक था दोनों प्रांतों के संयुक्त शीर्षो में पहली अप्रैल 1907 से हिस्सेदारी में आधे की वृद्धि कर दी गई, निम्न अपवादों को छोड़कर :–

मद्रास	संयुक्त प्रांत
राजस्व	राजस्व
1. पंजीकरण, पूर्णतया प्रांतीय	1. भू–राजस्व, 3/8 प्रांतीय कम से कम 240 लाख तक की गारंटी
2. भू–राजस्व। 308 लाख की कम से कम प्राप्ति की गारंटी यदि प्रांतीय हिस्सेदारी इस राशि से कम आती है।	2. सिंचाई। प्रमुख सिंचाई कार्यो से कम से कम 60 लाख की प्राप्ति की गारंटी यदि इस राशि से प्रांतीय हिस्सेदारी में कमी आती है।
(1) पंजीकरण, पूर्णतया व्यय प्रांतीय	
(2) भू–राजस्व, पूर्णतया प्रांतीय	

मानक व्यय यदि मानक राजस्व से अधिक होता है तो उस अधिकता के अंतर को पूरा करने के लिए निश्चित आबंटन निम्न प्रकार थे:–

मद्रास को	22,57,000 रुपए
संयुक्त प्रांत को	13,89,000 रुपए

इस प्रकार ब्रिटिश भारत में प्रांतीय वित्त की योजना नियत बजट, निर्दिष्ट राजस्व बजट और सांझा राजस्व बजट द्वारा धीरे–धीरे लेकिन विभिन्न चरणों में आगे बढ़ी, उस सीमा तक जिन्हें संबंधित पक्षों द्वारा पूरी तरह से अंतिम मान लिया गया था। उनकी उम्मीदें किस प्रकार पूरी हुई इस बात का निर्णय प्रांतीय वित्त के वार्षिक लाभ और घाटे की स्थिति को देखकर किया जा सकता है। साथ ही उनके व्यतिक्रम के प्रभाव क्षेत्र से जैसा कि आगे की तालिका में दर्शाया गया है:–

प्रांतीय लाभ और घाटा

प्रांत	1904-5	1905-6	1906-7	1907-8	1908-9	1909-10	1910-11	1911-12
	रु.	रु.	रु.	रु.	रु.	रु.	रु.	रु.
सी.पी.*	-7,01,000	32,35,000	1,750,607	-9,30,617	-30,97,865	7,21,755	2,80,556	12,14,573
बर्मा+	-15,91,796	-26,13,890	1,890,516	-31,29,590	-20,60,678	25,15,371	19,00,297	-12,60,040
असम+	*2,69,316	-37,20,027	-2,00,140	-25,96,682	-23,57,687	5,49,270	55,39,698	52,18,802
बंगाल	-12,52,818	-19,52,312	-18,77,455	-22,56,994	-13,30,371	32,74,065	39,60,612	82,96,233
संयुक्त प्रांत	-8,69,099	-28,79,192	7,95,600	-35,87,066	10,07,260	20,45,221	36,35,904	1,44,240
पंजाब	47,94,387	-27,96,052	-6,61,214	24,08,818	-15,76,981	13,00,559	41,99,121	33,98,055
मद्रास	-14,02,344	2,20,328	12,17,745	-44,992	20,25,109	12,66,326	23,16,383	29,38,502
बंबई	43,96,000	-42,892	17,52,202	-3,08,925	-26,18,926	71,37,996	75,85,460	-5,41,411

*1906 से बरार को सम्मिलित करके

+1906 से पूर्व बंगाल और असम

भारत सरकार के वार्षिक वित्त और राजस्व लेखे से संकलित

इन नतीजों पर विचार करते समय भारत सरकार द्वारा उसी दौरान प्रांतों को दी गई सहायता अनुदान के रूप में दी गई सुविधाओं पर भी ध्यान देना आवश्यक है। यह सहायता अनुदान निम्न प्रकार पृष्ठ संख्या 196 पर थे :–

लेकिन इस प्रकार की बख्शीश पर विचार करने से पूर्व यह नहीं समझ लेना चाहिए कि एक या दो मामले को छोड़कर वे प्रांतीय वित्त की देनदारी को बरकरार रखने के लिए आवश्यक थे जैसा कि विभिन्न प्रांतों के साथ बंदोबस्त की शर्तों में परिभाषित किया गया था। अभावों के अलावा भी विभिन्न प्रांतों के साथ जो राजस्व तय किया गया था उनकी आवश्यकताओं को देखते हुए काफी था अगर हम पिछले वर्षों को देखें और विचार किया जाए तो बहुत ही विशिष्ट वर्ष थे।

1912 का स्थाई बंदोबस्त

विभिन्न प्रांतों के साथ जैसे ही अर्द्धस्थाई बंदोबस्त की श्रृंखला समाप्त हुई, ब्रिटिश भारत के प्रांतीय और केन्द्रीय वित्त तथा उसी प्रकार के अन्य मामलों की विकेन्द्रीकरण संबंधी रायल आयोग द्वारा जांच पड़ताल की गई। इसकी सन् 1909 की रिपोर्ट में साम्राज्यवादी और प्रांतीय सरकारों के मध्य राजस्व और व्यय के निर्धारण की वर्तमान पद्धति को सिद्धांततः अनुमोदित किया गया। आयोग के समक्ष जो भी साक्ष्य हेतु गवाह प्रस्तुत हुए सबने भारी आलोचनाएं कीं लेकिन आयोग ने इनमें से मात्र दो साक्ष्य विचारणीय समझे (1) समंजक आबंटन और (2) सहायतानुदान अथवा खैरात जैसा कि उन्हें रूखे शब्दों से पुकारा जाता था। ऐसी मांग की गई जिसमें कुछ सच्चाई भी थी कि समंजक आबंटन प्रांतीय राजस्व के लचीलेपन को क्षति पहुंचाते हैं, क्योंकि इस तथ्य के कारण जहां खर्चे बढ़ते हैं, वहां नियतन द्वारा प्राप्त प्रांतीय संसाधन जो कुछ मामलों में उत्साहपूर्ण हिस्सा होते हैं अपरिवर्तित रहते हैं। दूसरे खैरात को अनैतिक करार दिया और यह कहा गया कि इन्हें वृद्धिशील राजस्व में हिस्सेदारी में परिवर्तित किया जाए। ऐसा लगता है कि आयोग पूरी तरह भारी मात्रा में समंजक आवंटन की खामियों से प्रभावित था, लेकिन यह खैरात के विषय में और यह सही भी था, जो भी आलोचना हुई शंकालु था। हर किसी ने प्रांतों को विकेन्द्रीकरण के लाभों की प्रशंसा के पुल बांधे लेकिन थोड़े ही से उन कष्टों को समझ पाए जो भारत सरकार के हिस्से में थे। यह बहुत ही स्पष्ट था कि विकेन्द्रीकरण की प्रक्रिया द्वारा भारत सरकार ने प्रांतों को कमोबेश पूरी स्वतंत्रता दे रखी थी कि वे अपनी निधि में से किसी भी प्रकार का उन सेवाओं पर खर्च कर सकते हैं जिनके प्रबंध का उन्हें अधिकार प्रदान किया गया था। जबकि यह पूरी तरह कानूनन दक्षतापूर्ण अनुरक्षण के लिए

प्रांतों को साम्राज्यवादी सहायता अनुदान

प्रांत	1904–5	1905–6	1906–7	1907–8	1908–9	1909–10	1910–11	1911–12
	रु.	रु.	रु.	रु.	रु.	रु.	रु.	रु.
सी.पी.	28,53,710	69,57,793	1,10,500	27,52,010	29,03,668	35,88,270	34,65,500	20,80,845
बर्मा	5,67,520	18,45,000	72,19,000	6,82,000	2,15,253	18,20,952	42,32,742	36,05,164
असम*	---	33,62,916	3,27,294	2,80,030	23,58,947	44,64,435	46,08,965	61,00,732
बंगाल	24,794	48,06,984	4,75,548	13,62,634	41,57,393	57,53,692	61,37,013	1,11,31,276
संयुक्त प्रांत	13,660	40,36,307	76,41,697	98,79,667	87,70,345	16,24,329	45,13,729	31,36,107
पंजाब	75,26,436	24,67,579	42,09,531	55,41,529	60,37,990	58,39,014	95,92,844	21,01,681
मद्रास	7,00,946	44,30,714	99,80,400	94,73,304	7,04,885	6,12,941	36,91,426	50,08,889
बंबई	1,03,12,828	34,27,325	40,24,512	45,74,284	57,26,162	57,97,603	1,20,09,360	49,35,159
योग	2,21,22,914	3,13,34,618	3,49,82,982	3,45,43,458	3,08,74,643	2,95,02,286	1,54,75,360	3,90,99,853

*1906 से बरार सम्मिलित था

भारत सरकार के वार्षिक वित्त और राजस्व लेखे से संकलित।

जिम्मेदार थी। लेकिन प्रांतों को सेवाओं के वित्तीय प्रबंध की जो स्वतंत्रता प्राप्त थी, जो उनके विशेष नियंत्रण में थी और प्रांतों की आम जनता की आवश्यक उपयोगी सेवाओं के संवर्धन की संभावनाओं के लिए भी थी, दूसरों की अनदेखी करके जिसकी कि उपयोगिता यद्यपि प्रांतों के लिए दूर की चीज थी, समग्र रूप में देश के लिए वास्तविक नहीं थी। राष्ट्रीय महत्त्व की सेवाओं जैसे शिक्षा, सफाई, पुलिस की विशेषतया प्लेग और अकाल जैसी अवधि के दौरान उपेक्षा नहीं की जा सकती थी।

लेकिन भारत सरकार इन सेवाओं के लिए निर्धारित प्रांतीय कोष का विभाजन नहीं कर पाई, क्योंकि प्रांतीय वित्त की शर्तों में से एक यह भी शर्त थी कि प्रांतीय सेवाओं पर व्यय करने की उन्हें स्वतंत्रता हो, जिनका कि वर्गीकरण अनिवार्य और ऐच्छिक किसी भी श्रेणी में नहीं किया गया था, जैसा कि स्थानीय वित्त के विषय में महाद्वीपीय सिद्धांत था।

वास्तव में भारत सरकार इतनी शक्तिहीन नहीं थी जितनी कि इंग्लैंड की केन्द्रीय सत्ता, जैसा कि भली प्रकार मशहूर है वह स्थानीय शासन द्वारा उपेक्षित मामलों को संशोधित नहीं कर सकती, जब तक कि परमाधिदेश जारी न हो। लेकिन एक अड़ियल प्रांत को सही रास्ते पर लाना वैसे बहुत आसान बात थी लेकिन सुखद कतई नहीं थी। ऐसी स्थिति को सुधारने के लिए प्रांतीय वित्त की क्रियाशीलता को स्थगित कर देना काफी था। ऐसी गंभीर कार्यवाही करने के बजाय भारत सरकार ने खुशी से विशेष सेवाओं के लिए अनुदान की धनराशि में कटौती कर दी जो कि प्रांत द्वारा लापरवाही बरतने की दशा में एक सशक्त और परखी[1] हुई सुधारात्मक कार्यवाही थी और जो उन सेवाओं को राष्ट्रीय न्यूनतम आदर्श के रूप में रखने के लिए आवश्यक था और जिसे निश्चय ही लाभप्रद की जगह कष्टकारी माना गया।[2]

विकेन्द्रीकरण अध:पतन को विघटन में घसीटे इसे रोकने में सहायता अनुदान के गुण से अभिभूत आयोग ने सिर्फ यह सिफारिश की कि प्रांतीय वित्त को अधिक लोच प्रदान करने के प्रयत्न करने चाहिए जो कि आवंटन के कम से कम संभव विस्तार को घटाने से संभाव्य थे।

आयोग की सिफारिशों को स्वीकार करते हुए भारत सरकार ने यह निश्चय किया कि राजस्व और व्यय के वर्तमान आबंटन में कुछ संशोधन किए जाएं और 1912 से अर्द्धस्थाई बंदोबस्त को स्थाई बंदोबस्त में बदल दिया जाए। स्थाई बंदोबस्त अर्द्धस्थाई बंदोबस्त से भिन्न नहीं था, जिसे कि प्रतिस्थापित किया गया लेकिन जहां तक आबंटन के सिद्धांत का प्रश्न है इससे कोई विशेष प्राप्ति संभव नहीं थी। उस विषय में उनमें सिर्फ भिन्नता का एक निश्चित समंजक आबंटन का

1. संभवत: यह प्रणाली इंग्लैंड से ली गई हो।
2. एस. बैब, *ग्राण्टस इन एड*, 1911, पृ. 25

आंशिक प्रतिस्थापन था जिसे निम्नलिखित राजस्व और व्यय के संयुक्त शीर्षो में हिस्सेदारी बढ़ाकर किया गया था (देखें पृष्ठ 200)।

राजस्व और व्यय के संयुक्त शीर्ष में हिस्सेदारी के इन संशोधनों का प्रभाव समंजक आवंटन को निम्नलिखित अंकों तक कम करना था :–

प्रांत	साम्राज्यवादी नियतन से प्रांतीय नियतन में लाख रुपयों में	प्रांतीय नियतन से साम्राज्यवादी नियतन लाख रुपयों में
सी.पी.	21.40	–
बर्मा	13.12	–
पूर्व बंगाल और असम	13.55	–
बंगाल	–	18.40
संयुक्त प्रांत	–	19.26
पंजाब	6.77	–
मद्रास	–	21.43
बंबई	–	9.38

पंचवर्षीय और अर्द्धस्थाई बंदोबस्त की तरह स्थाई बंदोबस्त के दौरान और विशेष सेवाओं के लिए सहायतानुदान जिस पर विकेन्द्रीकरण आयोग ने भी आपत्ति नहीं की थी, विभिन्न प्रांतों को इस दौरान अवांछित रूप में प्रदान किए गए यद्यपि जैसा कि तालिका (पृष्ठ संख्या 201) में दर्शाया गया है उनके परिणाम में निरंतर कमी होती गई:–

यह स्वाभाविक ही था कि स्थाई बंदोबस्त के परिणामों को भारी उत्सुकता से देखने के लिए प्रांत प्रतीक्षारत रहे, क्योंकि स्थाई बंदोबस्त में स्थाई लाभ अथवा स्थाई नुकसान निहित था। लेकिन इस मामले में उनकी चिंता पूरी तरह दूर नहीं हो सकती थी जबकि वह पुनरावर्त्ती लाभ द्वारा समर्थित हो उसे तालिका (पृष्ठ संख्या 202) में दर्शाया गया है जो उनके उस समय के चालू संतुलन के वार्षिक जोड़ और कटौती से ज्ञात होता है।

निस्संदेह जबकि प्रांतीय वित्त की स्थिति समृद्ध थी प्रांतीय संतुलन में अनिश्चित गति क्रमबद्ध प्रगति की उम्मीद को बिल्कुल पुष्ट नहीं कर सकी जैसी कि स्थाई बंदोबस्त में व्यवस्था की गई थी। यहां विचारणीय यह है कि यद्यपि जिस दौरान स्थाई बंदोबस्त संपन्न हुआ, वह पूर्णत: सामान्य काल नहीं था। स्थाई बंदोबस्त का कुछ हिस्सा निस्संदेह शांतिकालीन था, लेकिन इसकी अवधि इतनी लंबी नहीं

थी जितनी पांच वर्षो की होती है। इसलिए स्थाई बंदोबस्त के जो गुण थे यह उनमें विमुख नहीं होता जो इसने पांच वर्षीय बंदोबस्त के अवगुणों को जाहिर किया। स्थाई बंदोबस्त की जो अवधि थी वह समय प्रथम विश्व युद्ध का था, और अर्द्ध सामान्य घटनाओं ने प्रांतीय वित्त पर बहुत कुप्रभाव डाला। यदि स्थाई बंदोबस्त दीर्घावधि के लिए हुए होते तो परिस्थितियां भिन्न होतीं और सब कुछ सुलझ जाता। जो हमारा विचारणीय विषय नहीं है। क्योंकि अप्रैल 1921 से ब्रिटिश भारत में प्रांतीय वित्त ने एक नये दौर में प्रवेश किया। इस दौर पर अगले भाग में प्रकाश डाला जाएगा। यहां अध्ययन का विषय जो समाप्त हो रहा है पुराने दौर में प्रांतीय वित्त के विकास को देखना है जैसा कि वह चरणबद्ध रूप में विकसित हुआ। लेकिन यह अध्ययन अधूरा ही रहेगा जब तक कि हम पुराने दौर और प्रांतीय सरकारों के वित्त की परस्पर संबंधित कार्य रचना को नहीं देखते। लेकिन आरंभ करने से पहले यह न सिर्फ दिलचस्प और महत्त्व की होगी कि प्रांतीय वित्त के विकास का यह अध्ययन अंतिम अवस्था में प्रांतीय राजस्व और व्यय का निम्न प्रकार सिंहावलोकन भी प्रस्तुत करता है जो यह दर्शाता है कि भले ही यह छोटी शुरुआत हो यह प्रांतीय वित्त की बड़ी प्रगति और विस्तृत आयामों तक पहुंच सका, अर्द्धशताब्दी के दौरान जिसके अन्तर्गत उसने अपनी यात्रा तय की।

हिस्सेदारी में संशोधन

राजस्व		व्यय	
लेखा शीर्ष	प्रांतीय हिस्सा	लेखा शीर्ष	प्रांतीय हिस्सा
1. भू-राजस्व, इसमें वह हिस्सा भी शामिल है जिसे सिंचाई में जोड़ा गया है।	बर्मा को 5/8, पंजाब को ½	1. भू-राजस्व	5/8 बर्मा को ½ पंजाब को
2. आबकारी/उत्पाद शुल्क	पूर्व बंगाल तथा असम में	2. आबकारी/उत्पादशुल्क	वही जो राजस्व के कालम में है
	पूर्णतया, बम्बई, मध्यप्रांत बंगाल और संयुक्त प्रांत में ¾		
लोक निर्धारित कर			
3. निर्माण विभाग	½	-	
4. जंगलात	पूर्णतया	4. जंगलात	पूर्णतया
5. वृहद सिंचाई कार्य (जोड़े हुए) भू-राजस्व के हिस्से को छोड़कर	पंजाब में ½ कम से कम चार लाख की गारंटी	5. वृहद सिंचाई	½
वृहद और लघु सिंचाई	बंगाल में ½	6. वृहद और लघु सिंचाई	½ बंगाल में

विशेष अनुदान रुपयों में

प्रांत	1912–13	1913–14	1914–15	1915–16	1916–17	1917–18	1918–19
* सी.पी.	47,90,480	26,43,264	51,38,256	44,07,802	37,95,784	38,17,540	27,26,008
बर्मा	85,38,948	22,63,939	38,49,763	38,69,472	2,16,979	–24,78,482	2,490
असम	55,30,991	32,83,011	75,33,878	65,77,619	24,97,861	19,22,252	24,44,730
बंगाल	1,54,01,885	64,80,800	75,94,894	71,86,436	65,38,732	70,74,773	98,89,717
बिहार और उड़ीसा	63,79,420	47,61,028	35,26,567	42,78,854	32,62,214	42,35,205	41,79,425
संयुक्त प्रांत	1,14,70,603	85,42,279	38,42,624	32,29,924	24,53,969	27,06,164	35,90,530
पंजाब	67,00,924	24,24,404	39,88,117	59,08,923	49,25,830	48,62,616	55,63,665
मद्रास	1,22,77,591	50,66,343	16,97,803	12,20,785	10,99,165	14,83,708	15,77,446
बंबई	1,11,92,723	39,96,729	14,68,837	12,00,254	10,65,964	11,54,725	24,79,510
योग	8,22,83,565	3,94,61,797	38,64,07,39	3,78,80,069	2,58,56,498	2,47,78,501	3,54,53,521

भारत सरकार के वार्षिक वित्त और राजस्व लेखे से संकलित

प्रांतीय लाभ अथवा घाटा (रुपयों में)

प्रांत	1912–13	1913–14	1914–15	1915–16	1916–17	1917–18	1918–19
सी.पी.	80,82,246	18,81,245	–6,54,416	18,96,621	94,27,702	1,20,67,708	48,73,587
बर्मा	88,74,174	91,40,26	–37,29,808	18,96,621	94,27,702	1,20,67,708	48,73,581
असम	36,10,494	–22,17,691	–45,50,789	6,58,812	60,44,904	28,00,634	4,35,872
बिहार और उड़ीसा	70,22,199	–9,20,062	–15,70,264	11,33,562	59,19,907	71,76,786	36,43,564
संयुक्त प्रांत	95,88,749	50,704	–46,11,080	–9,73,090	34,27,808	–22,68,311	36,86,945
पंजाब	74,11,069	–6,92,512	–37,30,641	–11,33,541	5,00,995	–6,95,216	11,85,930
मद्रास	43,30,275	–52,98,411	–12,07,754	3,18,508	25,71,241	10,42,303	–9,72,354
बंबई	70,83,281	15,58,566	–26,39,924	–9,51,099	1,22,434	6,11,321	16,81,066
बंगाल	1,47,05,270	4,80,842	–39,67,607	10,28,156	37,08,838	52,80,082	7,32,237

भारत सरकार के वार्षिक वित्त और राजस्व लेखे से संकलित।

प्रांतीय वित्त का विकास

प्रांत	प्रांतीय राजस्व भारत के सकल राजस्व के प्रतिशत के रूप में						प्रांतीय व्यय भारत के सकल व्यय के प्रतिशत के रूप में					
	1871–72	1882–83	1892–93	1904–5	1912–13	1918–19	1871–72	1882–83	1892–93	1904–5	1912–13	1918–19
सी.पी.	.655	1.055	.863	.905	2.52	1.715	.652	1.008	.87	.984	2.19	1.685
बर्मा	.572	1.66	2.256	3.023	4.73	3.57	.592	1.914	2.16	3.31	4.14	3.15
बंगाल	2.8	5.9	4.72	4.12	5.56	4.00	2.7	6.68	4.52	4.26	4.56	3.84
पश्चिम उत्तर प्रांत और अवध	1.99	4.1	3.6	–	–	–	2.04	4.4	3.32	–	–	–
पंजाब	1.66	1.59	1.888	2.08	3.96	3.11	1.55	2.165	2.03	1.83	3.47	2.81
मद्रास	1.595	3.32	3.3	2.88	6.27	3.75	1.61	3.24	3.4	3.09	6.1	4.53
बंबई	1.8	4.9	4.49	4.05	6.17	5.45	1.836	5.08	4.4	3.77	5.7	5.00
असम	–	.61	.738	.597	1.38	1.00	–	.505	.617	.618	1.13	.857
संयुक्त प्रांत	–	–	–	2.99	5.5	4.15	–	–	–	3.01	4.87	3.94
प्रांतीय योग	–	–	–	–	2.6	1.9	–	–	–	–	2.11	1.775
योग	11.11	22.8	21.75	20.4	38.6	29.2	10.8	25.00	21.3	20.8	31.3	27.6

भारत सरकार के वार्षिक वित्त और राजस्व लेखे से संकलित

सांझा राजस्व बजट

''...स्थाई बंदोबस्त की जो अवधि थी वह समय प्रथम विश्व युद्ध का था, और अर्द्ध सामान्य घटनाओं ने प्रांतीय वित्त पर बहुत कुप्रभाव डाला। यदि स्थाई बंदोबस्त दीर्घावधि के लिए हुए होते तो परिस्थितियाँ भिन्न होतीं और सब कुछ सुलझ जाता।''

–डॉ. भीमराव अम्बेडकर

...सन् 1896 और 1897 के अकाल ने सभी प्रांतों को कमोबेश मात्रा में प्रभावित किया। उत्तर पश्चिम प्रांत और अवध, मध्य प्रांत और बर्मा में अकाल की छाया का असर बहुत ही गंभीर था। मद्रास, बंगाल और पंजाब में यह चिंताजनक था। बर्मा में थोड़ा कम था। दूसरी ओर 1899 और 1900 का अकाल बंबई और मध्य प्रांत में बहुत गंभीर था।

पंजाब में बहुत चिंताजनक और शेष प्रांतों में इसका असर थोड़ा कम था। और असम यद्यपि इन दोनों ही अकालों के प्रभाव क्षेत्र से मुक्त था लेकिन सन् 1897 के जून में उसे भीषण भूकंप का सामना करना पड़ा। अकाल के साथ-साथ प्लेग ने भी भीषण तबाही मचाई और जन-धन की हानि हुई। इन अदृश्य प्राकृतिक प्रकोपों की रोकथाम की कार्यवाहियों पर सभी प्रांतों को असाधारण व्यय करने की मजबूरी झेलनी पड़ी जिसका बंदोबस्त के समय के निर्धारित मानक राजस्व में पहले से किसी भी प्रकार का प्रावधान नहीं किया गया था।

–डॉ. भीमराव अम्बेडकर

भाग–III

प्रांतीय वित्तव्यवस्था – इसकी संरचना

7

प्रांतीय वित्तव्यवस्था की सीमाएं

प्रांतीय सरकारों के अस्तित्व में होने परन्तु उनके पास आवश्यक प्रांतीय वित्त न होना—प्रशासन के इतिहास में एक अपूर्ण असंगति के बारे में जिन व्यक्तियों से जानकारी होने की आशा की जाती है, उनके लिए यह अध्ययन काफी रुचिकर होगा कि 1833 में जो असंगति पैदा हुई उसे 1870 में कैसे ठीक किया गया या ठीक किये जाने का आभास हुआ।[1]

1. तथापि यह धारणा व्याप्त है कि 1870 से काफी पहले प्रांतीय वित्तव्यवस्था विद्यमान थी, लेकिन निस्‍संदेह यह एक भूल है, जिसे 1870 से पूर्व वित्तीय विकेन्द्रीकरण के इतिहास को संक्षेप में याद करके यहां सुधारा जा सकता है। भारतीय वित्तव्यवस्था के विकेन्द्रीकरण के इतिहास में 1855 का वर्ष सदैव महत्त्वपूर्ण रहेगा। इसी वर्ष में ही स्थानीय वित्तव्यवस्था का उद्‌गम हुआ, तथापि यह नहीं मान लिया जाना चाहिए कि 1855 से पूर्व कोई स्थानीय राजस्व प्रणाली नहीं थी। इसके प्रतिकूल बहुत छोटी-छोटी निधियां विद्यमान थीं, जैसे नौकाघाट निधि, पथकर निधि, उपकर, आदि और इन्हें स्थानीय जनोपयोगी सेवाओं पर खर्च किया जाता था, लेकिन ध्यान देने योग्य महत्त्वपूर्ण बात यह है कि ऐसी निधियों से जो राशि बच जाती थी उसे अलग खाते में नहीं रखा जाता था, अपितु साधारण ातया उसे देश के सामान्य अधिशेष में मिला दिया जाता था। संभवतः बंगाल तथा उत्तर-पश्चिमी प्रांत इसका अपवाद थे क्योंकि ऐसा लगता है कि वहां ऐसी अधिशेष राशि पृथक स्थानीय निधि लेखाओं में रखी जाती थी (देखिये *कलकत्ता रिव्यू,* 1851, खंड 16, पृष्ठ 464-466)। 11 मई, 1855 के वित्तीय संकल्प के द्वारा ही स्थानीय निधियों को पूर्णतया साम्राज्यिक निधियों से अलग किया गया और उन्हें 'जमा राशियां' – 'ऋण' लेखा शीर्ष का एक उप-विभाजन माना गया (देखिये–*एकाउंटेंट मैन्युअल,* लेखक वाई. वेंकटरामैया, भाग 1, मद्रास, 1866, पृष्ठ 79) और सितम्बर, 1863 के संकल्प के द्वारा प्रत्येक प्रांत के लिए साम्राज्यिक बजट से अलग एक निश्चित स्थानीय निधि बजट की स्थापना करके स्थानीय वित्त की व्यवस्था की गई। ऐसा हुआ कि स्थानीय प्राधिकारियों के अभाव में भारत सरकार ने स्थानीय निधि बजट तैयार करने और उसका निष्पादन करने का काम सम्बंधित प्रांतीय सरकारों को

इस मामले पर सही अर्थों में विचार करने पर यह मान लेना स्वाभाविक ही था कि ब्रिटिश भारत में इस प्रकार स्थापित प्रांतीय वित्त प्रणाली संगठन की दृष्टि से स्वतंत्र थी। वास्तव में ऐसे दृढ़ विश्वास व आस्था के बिना इसके उद्गम और विकास के अध्ययन का आधार बनना कठिन है, किन्तु यदि प्रांतीय वित्त व्यवस्था संगठन की दृष्टि में स्वतंत्र थी तो प्रांतों के पास ऐसी वित्तीय शक्तियां होनी चाहिए जो प्राय: स्वतंत्र राज्यों के पास होती हैं। यह जानने के लिए कि क्या प्रांतीय वित्त व्यवस्था स्वतंत्र वित्त व्यवस्था थी या नहीं, हम बजट बनाने की स्वतंत्रता तथा इससे संबंधित अन्य बातों को इन शक्तियों के विद्यमान होने का प्रमाण मान सकते हैं। स्वतंत्र रूप से बजट बनाने की शक्ति में ऐसी सेवाएं, जिनका देश की आवश्यकताओं के

सौंपा, क्योंकि स्थानीय आवश्यकताओं के बारे में उन्हें अधिक जानकारी थी। इस अप्रत्याशित घटना के कारण बहुत से लोग भ्रम से इसे अनिवार्य रूप से प्रांतीय वित्तव्यवस्था मान लेते हैं। लेकिन यह एक बहुत बड़ी भूल है। 1870 से पूर्व केवल स्थानीय वित्त व्यवस्था ही विद्यमान थी, यद्यपि इसका संचालन प्रांतीय सरकार करती थी जिसके हाथ में स्थानीय निधि एक न्यास के रूप में होती थी। चूंकि प्रांतीय सरकारें स्थानीय निधियों संबंधी आय और व्यय का ब्यौरा पूरे प्रांत के एक स्थानीय निधि लेखा में रखती थी, इसका अर्थ यह नहीं लगाया जा सकता कि वे अपनी इच्छा से इस धनराशि का प्रयोग कर सकती थीं – यदि ऐसा होता तो इसे प्रांतीय वित्त व्यवस्था की संज्ञा दी जा सकती थी। यूनाइटेड किंगडम में उद्गृहीत स्थानीय करों का वित्त मंत्री (चांसलर ऑफ दि एक्सचैकर) के बजट में समावेश करने के अतिरिक्त की गई कार्यवाही से इसकी वित्तीय स्थिति के बारे में संकेत मिल सकता है। स्थानीय निधियों पर प्रांतीय सरकारों का अधिकार नहीं था क्योंकि उन्हें केवल उन्हीं प्रयोजनों के लिए खर्च किया जा सकता था जिनके लिए वे दी जाती थीं। इस अर्थ में वह स्थानीय निधि थी न कि प्रांतीय निधि। कुछ लोग गलती से इसे प्रांतीय वित्त संभवत: इसलिए समझते हैं क्योंकि 'स्थानीय सरकार' शब्द का प्रयोग 'प्रांतीय सरकार' के पर्याय के रूप में किया जाता है। लेकिन जहां स्थानीय सरकार और प्रांतीय सरकार शब्दों का प्रयोग एक-दूसरे के स्थान पर किया जा सकता है, याद रहे वहां स्थानीय और प्रांतीय वित्त का इस प्रकार प्रयोग नहीं किया जा सकता। वास्तव में भारत में वित्तीय संगठन के इतिहास में ऐसा भी समय आया जब स्थानीय वित्तव्यवस्था तो विद्यमान थी लेकिन सही अर्थों में स्थानीय सरकार और प्रांतीय वित्तव्यवस्था विद्यमान नहीं थी जबकि प्रांतीय सरकारें विद्यमान थीं। यह संभव है कि जब तक प्रांतीय सरकार को स्थानीय सरकार पुकारने की आदत बनी रहेगी तब तक यह भ्रांति पूरी तरह खत्म नहीं होगी। जबकि कुछ लोगों ने इस बात पर बल दिया है कि प्रांतीय वित्त व्यवस्था 1870 से काफी पूर्व विद्यमान थी, 14 सितम्बर 1870 के संकल्प को जिसके अंतर्गत प्रांतीय वित्त व्यवस्था की योजना आरंभ की गई, 'स्थानीय वित्त व्यवस्था संबंधी संकल्प' पुकारा जाता है मानों इससे स्थानीय नहीं बल्कि प्रांतीय वित्त का उद्भव हुआ हो। सही शब्दावली का प्रयोग कर ऐसी असंगतियों से बचा जा सकता है।

अनुसार एक अच्छी सरकार को उपक्रम करना चाहिए, और इन सेवाओं पर होने वाले व्यय को पूरा करने के लिए पर्याप्त धनराशि जुटाने हेतु करों अथवा ऋण की पद्धति निर्धारित करने की शक्तियां सम्मिलित हैं। इन शक्तियों के साथ-साथ बजट प्रणाली के अन्तर्गत लेखा-जोखा रखना और उसकी स्वतंत्र लेखा-परीक्षा करवाना भी आवश्यक है।

प्रांतीय बजट पर, जिसके उद्गम और विकास पर हमने इस अध्ययन के पूर्ववर्ती भागों में विचार किया है, ये मापदंड लागू करते समय हम बजटों का विश्लेषण करने की उस स्वतंत्रता के लचीलेपन का पूर्वानुमान नहीं लगा सकते जो स्वतंत्रता का विश्लेषण करते समय ली जाती है। इसके प्रतिकूल भारत के विभिन्न प्रांतों में जो बजट प्रणाली आरंभ की गई उस पर बहुत ही कठोर प्रतिबंध लगाए गए। उन्हें बजट तो दिया गया लेकिन इसके लिए जो अपेक्षित शक्तियां नहीं दी गई। उन्हें लेखा-जोखा रखने तथा लेखा परीक्षा करवाने का बीड़ा भी उठाना पड़ा क्योंकि वे अपने बजट की सीमाओं के भीतर ही स्वतंत्र थे। इस प्रकार के प्रतिबंध क्यों लगाए गए, यह तब स्पष्ट किया जाएगा जब हम प्रांतीय वित्त व्यवस्था के अधि कार क्षेत्र का विस्तार करने के उपायों पर विचार करेंगे। तथापि, इस बात पर बल देना आवश्यक है कि ये प्रतिबंध योजना का एक अभिन्न अंग थे और जैसे-जैसे योजना के अधिकार क्षेत्र और आयाम में विस्तार होता गया वैसे-वैसे ये प्रतिबंध और अधिक कठोर होते गये। वास्तव में उनमें प्रांतीय बजटों की संरचना विधि परिभाषित की गई। अतः ब्रिटिश भारत में प्रांतीय वित्त व्यवस्था के परिचालन की पूर्ण अवधारणा को जानना सरकार के तत्संबंधी नियमों के बारे में पूरी जानकारी प्राप्त किए बिना संभव नहीं है। इन नियमों के महत्त्व का इस स्तर पर ही विश्लेषण करना ही लाभदायक होगा। ये नियम, 1870 जब प्रांतीय वित्त व्यवस्था की योजना अस्तित्व में आई थी, और 1912 जब यह योजना विकसित होकर भारत सरकार के वित्त विभाग में संकल्पों के रूप में अपने अंतिम और स्थायी चरण में पहुंच चुकी थी, के बीच अन्तराल के दौरान विभिन्न अवसरों पर बनाए गए थे। 1870 में जो नियम बनाये गये थे बहुत कम और सरल थे। उस समय बनाए जाने वाले बहुत छोटे बजटों के परिचालन के लिए जटिल नियम बनाना आवश्यक भी नहीं था। तत्पश्चात् व्यवस्था और प्रक्रिया के अप्रत्याशित मामलों को निपटाने के लिए अनेक अनुपूरक नियम जारी किए गए लेकिन प्रांतीय सरकार के वित्तीय लेनदेनों के बारे में 1877[1] तक कोई व्यापक नियम तथा विनियम नहीं बनाए गए। 1877 के नियम बाद में जारी किए गए नियमों का आधार थे। ये नियम पंद्रह वर्ष

की अवधि तक लागू रहे और इस बीच इनमें बहुत कम संशोधन या संवर्धन किए गए। 1892[2] में इनके स्थान पर एक नई नियमावली जारी की गई। लेकिन पांच वर्ष की अल्प अवधि के भीतर इस श्रृंखला के स्थान पर दूसरी श्रृंखला 1897[3] में जारी की गई जो वर्ष 1912 तक लागू रही। वर्ष 1912 में किए गए स्थायी व्यवस्थापन के कार्यचालन को नियमित करने के लिए 1912[4] में एक नई श्रृंखला जारी की गई। यही श्रृंखला वित्त विभाग के दिनांक 24-7-1916 के संकल्प संख्या 361 ई.ए. के द्वारा पुनः जारी की गई। लेकिन चूंकि उसमें किये गये परिवर्तन किसी दृष्टि से संगत नहीं थे अतः 1912[5] की श्रृंखला को प्रांतीय वित्त व्यवस्था के बारे में अंतिम विनियम माना गया।

हमें यह स्वीकार करना होगा कि इन नियमों का विश्लेषण करना आवश्यक है। अतः हमें पहले यह तय करना होगा कि किस अथवा किन दृष्टिकोणों से विश्लेषण किया जाए। आरम्भ में यह बता देना आवश्यक है कि नियमों का विश्लेषण करने के दो उद्देश्य हैं : (1) यह जानना कि क्या सीमाएं थीं और (2) ये क्यों रखी गईं? यह सही है कि हमारा सर्वप्रथम उद्देश्य यह बताना है कि कौन-कौन सी सीमाएं लगाई गई थीं लेकिन यह गौण नहीं तो केवल प्राथमिक उद्देश्य है। वास्तव में दूसरा उद्देश्य अधिक महत्त्वपूर्ण है। इन सीमाओं की आवश्यकता क्यों पड़ी इस बात को ठीक ढंग से समझने के लिए उनकी जानकारी आवश्यक है। सीमाएं बताने के पहले उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए यह अनुमान न लगाना कल्पनातीत होगा कि अगले अध्याय में, जो हम अब आरंभ करेंगे, हमें यह मालूम हो जाएगा कि प्रांतीय वित्त के बहुत ही विचित्र स्वरूप के कारण ही ये सीमाएं लगाना आवश्यक हो गया था। दूसरी ओर, इस निष्कर्ष की प्रत्याशा करना और नियमों को क्रमानुसार प्रस्तुत करने के बजाय उन्हें इस तरीके से क्रमबद्ध करना आवश्यक है कि प्रांतीय वित्त की आंतरिक अवधारणा के बाह्य स्वरूप को दर्शाएं जो विशेष रूप से इसके प्रवर्तकों के मन में व्याप्त था। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए प्रांतीय वित्त के प्रभारी अधिकारियों जिन्होंने ये नियम बनाए हैं, की मेहनत बेकार है। उनके लिए ये नियम वित्तीय नियंत्रण के साधन मात्र थे और इसलिए उन्हें किस क्रम में रखा जाए, इससे कोई फर्क नहीं पड़ता था। दूसरी ओर, इन नियमों की अवधारणा को समझने के लिए इन नियमों के प्रयोजनों के अनुसार इनका वर्गीकरण करना आवश्यक है।

1. वित्त विभाग, संकल्प संख्या 3334, दिनांक 14 दिसम्बर, 1870
2. वित्त विभाग, संकल्प संख्या 1709, दिनांक 22 मार्च, 1877
3. वित्त विभाग, संकल्प संख्या 1142, दिनांक 17 मार्च, 1892
4. वित्त विभाग, संकल्प संख्या 3551, दिनांक 11 अगस्त, 1897
5. वित्त विभाग, संकल्प संख्या 249, ई.ए., दिनांक 15 जुलाई, 1912

लेकिन वर्गीकरण का मूलभूत उद्देश्य उन संभावित प्रयोजनों को स्पष्ट करना है जो भारत में विद्यमान प्रांतीय वित्त की ऐसी परस्पर संबंधित योजना के प्रवर्तकों के मन में थे। सिद्धान्तवादी बने बिना यह कहा जा सकता है कि ऐसी योजना के सफल संचालन के लिए प्रांतीय सरकार की (1) प्रशासनिक और (2) वित्तीय शक्तियों को परिभाषित करने के लिए नियम बनाने होंगे। प्रांतीय वित्त के स्वरूप को अच्छी तरह समझने के लिए इन दोनों वर्गों को आगे विभाजित किया जा सकता है। अतः प्रशासनिक शक्तियों संबंधी नियमों को (1) सेवाएं और (2) कर्मचारी उपवर्गों में आगे विभाजित किया जा सकता है। इसी प्रकार वित्तीय शक्तियों संबंधी नियमों को सरलता से निम्नलिखित उप-वर्गों में विभाजित किया जा सकता है : (1) सामान्य स्वरूप के नियम और (2) प्रांतीय राजस्व, (3) प्रांतीय व्यय, (4) बजट स्वीकृति और (5) लेखा परीक्षा और लेखा संबंधी नियम।

उपरोक्त वर्गों में संभवतया वे सभी उद्देश्य आ जाते हैं जो योजना बनाने वालों के मन में हो सकते थे। इन वर्गों के आधार पर हम अस्पष्ट नियमों को एक संग्रह का रूप दे सकते हैं, आशा है, जो सुविधाजनक और शिक्षाप्रद होगा।

I. प्रशासनिक शक्तियों पर नियंत्रण

(1) अंतर्प्रांतीय सेवाओं के नियम

विभिन्न प्रांतों के लिए पृथक बजटों की स्थापना से प्रभावित अंतर्प्रांतीय अथवा अंतर्विभागीय संबंधों को नियमित करने के लिए यह निश्चय किया गया कि–

(i) किसी अंतर्प्रांतीय समायोजन की अनुमति नहीं दी जाएगी।

(ii) प्रांतीय सरकारों के नियंत्रण में आए विभाग के व्यय पर अन्य विभागों को पहले ही किसी सेवा को समाप्त नहीं किया जाएगा और अन्य विभागों के खर्चे पर इन विभागों को पहले दी जा रही किसी सेवा में वृद्धि नहीं की जाएगी।

(iii) सीधे संचार की किसी लाइन को छेड़ा नहीं जाएगा अथवा मरम्मत के अभाव में नष्ट नहीं होने दिया जाएगा।

(2) कर्मचारी संबंधी नियम

जहां तक प्रांतीयकृत सेवाओं के निष्पादन में लगे कर्मचारियों का संबंध है, प्रांतीय सरकारों को आदेश दिया गया था कि–

(i) किसी स्थायी पद का सृजन न करें अथवा किसी पद के वेतन और भत्ते न बढ़ाए जाएं।

1912 से पूर्व यह नियम 250 रुपये प्रतिमाह तथा इससे अधिक वेतन वाले पदों पर लागू होता था।[1] लेकिन 1912 के पश्चात् यह नियम केवल उन पदों पर लागू किया गया जिन पर साधारणतया कोई राजपत्रित अधिकारी अथवा सिविल सेवा विनियमों के अनुच्छेद 29 ख में परिभाषित साम्राज्यिक सेवा का कोई अधिकारी आसीन था।[2]

(ii) किसी अस्थायी पद का सृजन नहीं किया जाएगा अथवा किसी अधिकारी की प्रतिनियुक्ति नहीं की जाएगी।

1992 से पूर्व यह नियम 250 रुपये प्रतिमाह तथा इससे अधिक वेतन वाले पदों पर लागू होता था।[3] लेकिन 1912 के पश्चात् यह नियम केवल उन पदों पर लागू किया गया जिनका वेतन 2500 रुपये प्रति माह से अधिक था या अस्थायी पद के मामले में 800 रुपये प्रति माह से अधिक था या प्रतिनियुक्ति दो वर्ष से अधिक होने की आशा होती थी।[4]

(iii) स्थायी पद को समाप्त नहीं किया जाएगा अथवा ऐसे पद के वेतन और भत्ते कम नहीं किए जाएंगे।

यह नियम आरम्भ में ऐसे पदों पर लागू किया गया था जिनका वेतन 250 रुपये प्रतिमाह से अधिक था।[5] 1912 के पश्चात् यह नियम ऐसे पदों पर लागू किया गया जिन पर इंग्लैंड में भर्ती की जाती थी या सिविल सेवा विनियमों के अनुच्छेद 29-ख में परिभाषित राजपत्रित सिविल अधिकारी आसीन थे।[6]

(iv) सरकारी नौकरी करने वाले अथवा सेवा पेंशन पाने वाले सिविल अधिकारी को अनुदान नहीं दिया जाएगा। (क) भूमि, सिवाय उन मामलों के जिनमें इस तथ्य के बावजूद कि संबंधित प्रांत के साधारण मालगुजारी (राजस्व) नियमों के अंतर्गत बिना किसी विशेष वित्तीय रियायत के या इसके बराबर अनुदान दिया गया हो बावजूद इसके कि अनुदानप्राप्तकर्ता ने अन्य लोगों की अपेक्षा पहले अनुदान प्राप्त किया।[7]

---

1. 1897 का नियम 4(3) (क)
2. 1912 का नियम 10(1)
3. 1897 का नियम 4(3) (ख)
4. 1912 का नियम 10(4) (क)
5. 1897 का नियम 4(4)
6. 1912 का नियम 10(3)
7. 1912 का नियम 10(9) (क)

अथवा (ख) भू-राजस्व का आबंटन करना, जब राशि एक वर्ष में 600 रुपये से अधिक हो या आबंटन इस राशि के भीतर तो हो लेकिन तीन व्यक्तियों तक सीमित न हो और प्रत्येक उत्तराधिकार पर घटाकर आधा कर दिया जाए। प्रांतीय सरकारों द्वारा केवल उन्हीं सिविल अधिकारियों को मालगुजारी (भू-राजस्व) के आबंटन के रूप में अनुदान दिए जाएंगे जिनकी सेवाएं बहुत विशिष्ट और असाधारण किस्म की रही होंगी।[1]

(v) (क) प्रतिवर्ष 50,000 रुपये से अधिक अतिरिक्त व्यय वाले स्थायी प्रतिष्ठानों में संशोधन नहीं किया जाएगा, या (ख) सेवा 25,000 रुपये प्रतिवर्ष से अधिक परिव्यय वाली किसी एक शाखा के मूल वेतन की दरों में संशोधन नहीं किया जाएगा, या (ग) एक सेवा के औसत वेतन में, जिसका अधिकतम वेतन 500 रुपये प्रतिमाह से अधिक है, संशोधन नहीं किया जाएगा और राज्य अथवा भारत सरकार के सचिव द्वारा सेवा के गत संशोधन के समय अनुमोदित औसत दर से अधिक नहीं बढ़ाएगा, अथवा (घ) निर्वाह खर्च में वृद्धि या किसी इलाके में किराये में वृद्धि के लिए मुआवजे के रूप में स्थानीय भत्तों में वृद्धि नहीं की जाएगी।[2]

वित्तीय शक्तियों पर नियंत्रण

(1) सामान्य

प्रांतीय सरकारों की वित्तीय शक्तियों पर लगे नियंत्रण का वास्तव में ब्यौरा देने से पूर्व यह स्मरण करना आवश्यक है कि प्रांतों के साथ किए गए वित्तीय समझौतों के अनुसार राजस्व और व्यय के कुछ शीर्ष उन्हें सौंपे जाने थे। इस सांयोगिक लक्षण के आधार पर यह नहीं मान लिया जाना चाहिए कि ये समझौते प्रांतीय बजट में सम्मिलित किये गये राजस्व और व्यय के प्रत्येक शीर्ष से सम्बंधित पृथक समझौतों का एक संग्रह मात्र हैं। प्रांतीय सरकारों द्वारा इस तरह की व्याख्या और उसके परिणामों का निराकरण करने के लिए यह निर्णय दिया गया कि–

(1) प्रांतीय सरकारों को यह समझना होगा कि उन्हें निर्दिष्ट धनराशि उन्हें सौंपी गई सभी सेवाओं के लिए एक समेकित अनुदान होगा और साम्राज्यिक राजकोष से इस आधार पर कोई दावा नहीं किया जा सकेगा कि समेकित अनुदान

---

1. 1912 का नियम 10(9) (क)
2. 1912 का नियम 10(6)

की गणना करते समय किसी सेवा के लिए जितनी राशि का अनुमान लगाया गया वास्तव में उससे अधिक खर्च हुआ।[1]

(2) प्रांतीय सरकारें साम्राज्यिक राजकोष से कोई अतिरिक्त मांग भी नहीं करेंगी परन्तु उन्हें प्राप्त धनराशि से सभी सेवाओं को सुचारू रूप से बनाए रखना होगा।[2]

जहां तक प्रांतीय सरकारों की धनराशि के अभिरक्षण के बारे में प्रांतीय सरकारों की शक्तियों के संबंध में यह निर्णय किया गया।

(3) कि उनके प्रयोग के लिए आबंटित धनराशि साम्राज्यिक राजकोष में रखी जाएगी और उसे निवेश करने अथवा अन्य किसी स्थान पर जमा करने के लिए नहीं निकाला जाएगा, लोक सेवाओं पर खर्च करने के अलावा प्रांतीय सरकारें ऐसे धन को निकाल भी नहीं सकेंगी।[3]

(2) राजस्व नियम

प्रांतीय सरकारों की वित्तीय शक्तियों पर लगे सामान्य नियंत्रण से उन पर लगे राजस्व सम्बंधी नियंत्रणों पर आते हुए इस बात पर ध्यान दिया जाना चाहिए कि उन्हें प्रत्येक समझौते के अंतर्गत केन्द्र सरकार द्वारा आबंटित धनराशि से ही अपनी आवश्यकताओं को पूरा करना होता था।

प्रांत अपने संसाधनों को अपने प्राकृतिक विकास से हुई आमदनी से अधिक नहीं बढ़ा सकते थे क्योंकि यह उपबंध किया गया था कि प्रांतीय सरकारें–

(i) कोई अतिरिक्त कर नहीं लगाएंगी अथवा विद्यमान राजस्व प्रबंधन प्रणाली में कोई परिवर्तन नहीं करेंगी।[4]

(ii) अपने क्षेत्र में स्टाम्पों, न्यायालय शुल्क, लेबलों की खुदरा बिक्री और स्प्रिट तथा औषधियों पर लगे शुल्कों पर छूट की दरों में कोई परिवर्तन नहीं करेंगी अथवा उन्हें नहीं बढ़ाएंगी।[5]

(iii) अपनी वित्त व्यवस्था के लिए खुले बाजार से कोई ऋण नहीं लेंगी।[6]

अपने संसाधन बढ़ाने के मामले में शक्तिहीन होने के कारण प्रांतीय सरकारें

---

1. 1877 का नियम 7 और 1897 का नियम 14
2. 1877 का नियम 7 और 1897 का नियम 14
3. 1877 का नियम 1(8), 1897 का नियम 4(11) और 1912 का नियम 5(6)
4. 1877 का नियम 1(1), और इसके बाद के संकल्प।
5. 1877 का नियम 1(6), बाद के संकल्पों में भी सम्मिलित किया गया।
6. 1942 का नियम 5(13)

अपने संसाधन अपने अधीनस्थ किसी अन्य प्राधिकरण को नहीं दे सकती थी। ऐसी संभाव्यताओं से बचने के लिए यह निर्णय लिया गया कि प्रांतीय सरकारें–

(iv) किसी स्थानीय या विशेष निधि की परिसंपत्ति बनाने के लिए सामान्य राजस्व, साम्राज्यिक या प्रांतीय, की किसी मद को अन्तरित नहीं करेंगी। प्रांतों को दिये गये राजस्व के संसाधनों को अन्तरित न करने सम्बंधी इस प्रावधान में 1912 के नियमों द्वारा कुछ छूट दी गई ताकि वे सिविल सेवा विनियमों के अनुच्छेद 33 के अनुसार आवर्ती किस्म की पूर्णतया प्रांतीय राजस्व की अल्प राशियों को जो सामान्य करों से होने वाली आय से प्राप्त नहीं होती और जो औसतन एक वर्ष में 25,000 रुपये से अधिक नहीं होती, किसी स्थानीय संस्था या विशेष निधि में अन्तरित कर सकें।[1]

(v) अपनी निधियों में से स्थानीय या नगरपालिका जैसी संस्थाओं को कोई ऐसा अनुदान, आर्थिक सहायता या आवंटन नहीं करेंगी जिससे भारत के राजस्व पर एक स्थायी भार पड़े।

इससे प्रांतीय सरकारों द्वारा अपनी निधियों से स्थानीय या नगरपालिका संस्थाओं को अनुदान, आर्थिक सहायता या आवंटन दिए जाने में किसी तरह की कोई बाधा नहीं हुई यद्यपि भारत सरकार ने समझौतों की अवधि समाप्त होने के पश्चात् अनुदान देते रहने या बाद में किये जाने वाले समझौतों में उनके लिए प्रावधान करने से इंकार करके प्रांतीय सरकारों को चेतावनी दे दी थी।[2] तथापि, 1912 के नियमों द्वारा ऐसे अनुदान देने की शक्ति स्पष्टतया इस सीमा तक सीमित कर दी गई कि एक प्रांतीय सरकार (1) किसी एक मामले में एक वर्ष में 1,00,000 रुपये से अधिक आवर्ती अनुदान प्रांतीय राजस्व से स्थानीय संस्थाओं को नहीं दे सकती थी[3] अथवा (2) एक प्रांतीय सरकार किसी एक मामले में 10,00,000 रुपये से अधिक अनावर्ती अनुदान स्थानीय संस्थाओं को नहीं दे सके[4] अथवा (3) एक प्रांतीय सरकार शिक्षा संस्थाओं को छोड़कर किसी धर्मार्थ या धार्मिक संस्थाओं को, जो भारत से बाहर न हो, 10,000 रुपये से अधिक आवर्ती अनुदान और 50,000 रुपये से अधिक अनावर्ती अनुदान नहीं देगी।[5]

(vi) कोई प्रांतीय सरकार किसी गैर–सरकारी व्यक्ति को (1) राजनैति कारणों से राजस्व के बिना या अनुकूल शर्तों पर (क) भूमि या (ख) यदि भूमि का

1. 1912 का नियम 5(5)
2. 1897 का नियम 4(10)
3. 1912 का नियम 10(12) (क)
4. 1912 का नियम 10(12) (ख)
5. 1912 का नियम 10(10)

मूल्य या भू-राजस्व एक वर्ष में 1,000 रुपये से अधिक है तो उस भूमि के भू-राजस्व का आवंटन नहीं करेंगी।[1] (2) सरकार की सेवा के दौरान या सेवा के परिणामस्वरूप उसकी मृत्यु होने पर उसे या उसके परिवार को क्षति होने के विचार से अथवा (3) सरकार की विशेष सेवा के बदले में एक वर्ष में 1,000 रुपये से अधिक पेंशन अथवा किसी एक मामले में 3,000 रुपये से अधिक ग्रेच्युटी नहीं देगी।[2]

(3) व्यय के नियम

प्रांतीय सरकारों को दी गई व्यय मंजूर करने की शक्तियां भी उनकी राजस्व मंजूर करने की शक्तियों की तरह ही सीमित थीं। जबकि उन्हें सौंपी गई सेवाओं पर अपनी धनराशि खर्च करने की छूट थी परन्तु कुछ प्रतिनिधि विशेष रूप से इस प्रयोजनार्थ लगाये गये थे ताकि व्यय के कुछ उद्देश्यों और विषयों को प्रांतीय सरकारों के क्षेत्राधिकार से बाहर रखा जा सके।

प्रांतीय सरकारों के अपने व्यय के उद्देश्यों के सम्बंध में प्रांतीय सरकारों से अपेक्षा की जाती थी कि–

(i) वे सरकारी धन से किसी ऐसे उद्देश्य पर किसी प्रकार के व्यय की मंजूरी न दें जो भारत सरकार द्वारा मान्यताप्राप्त व्यय के उद्देश्यों की श्रेणी में नहीं आता।[3]

(ii) प्रांतीय सरकारें ऐसी सेवाओं तक ही सीमित रहें जो समझौते की शर्तों के अनुसार विशेष रूप से उन्हें सौंपी गई हैं।

1912 से पूर्व प्रांतीय सरकारें और कोई नई सामान्य सेवा या काम तभी अपने हाथ में ले सकती थीं जब वे भारत सरकार को आश्वस्त कर देती थीं कि यदि यह अस्थायी है तो वे अस्थायी तौर पर और यदि यह स्थायी है तो स्थायी तौर पर इसके लिए आवश्यक धनराशि का प्रावधान कर सकती हैं।[4] इस प्रावधान को 1912 में बदल दिया गया ताकि एक प्रांतीय सरकार कोई नई सामान्य सेवा या काम अपने हाथ में ले सके बशर्ते कि यह (क) असामान्य किस्म का न हो, अथवा (ख) ऐसे उद्देश्यों के प्रति समर्पित न हो जो प्रशासन के साधारण काम से बाहर हैं, अथवा

1. 1912 का नियम 10(7)
2. 1912 का नियम 10(8)
3. 1897 का नियम, बाद के संकल्पों में भी इसे सम्मिलित किया गया
4. 1887 का नियम (4(2)
5. 1912 का नियम 5(11)

(ग) इस पर बाद में खर्चा न करना पड़े जो उसके मंजूर करने की शक्ति से बाहर हो।[5]

(iii) निषेध था कि प्रांतीय सरकारें–

(क) सरकारी समारोहों और सजावटों पर तथा भारत आने वाले प्रतिष्ठित व्यक्तियों के मनोरंजन पर सरकारी खजाने से 1,00,000 रुपये से अधिक खर्च नहीं करेगी।[1]

(ख) विशेष रूप से उच्च अधिकारियों के लिए आरक्षित रेलवे डिब्बों के रखरखाव के अतिरिक्त उन पर कोई और खर्च नहीं करेगी?[2]

(ग) एक अधिकारी के प्रयोग के लिए मोटर कार या मोटर साईकल खरीदने या इसके रखरखाव के लिए प्रांत के 'संविदा अनुदान' शीर्ष से खर्च के अलावा कोई अन्य खर्च नहीं करेगी।[3]

(घ) प्रांत के 'संविदा अनुदान' शीर्ष में हुई वृद्धि पर खर्च नहीं करेगी।[4]

(ड.) आन्तरिक नौवहन के लिए अपेक्षित और पत्तनों पर प्रयोग के लिए जहाज बनाने या खरीदने पर, जिसकी लागत 1,00,000 रुपये से अधिक हो, खर्च नहीं करेगी।[5]

(च) सिंचाई अथवा लोक निर्माण विभाग की अन्य परियोजनाओं पर जिनकी सामान्य राजस्व पर प्रभार अनुमानित लागत स्थापना, उपकरणों और संयंत्रों को मिलाकर 20,00,000 रुपये से अधिक है, खर्च नहीं करेगी। तथापि एक प्रांतीय सरकार मूल स्वीकृत अनुमान से 10 प्रतिशत अधिक राशि खर्च कर सकेगी बशर्ते कि यह अतिरिक्त राशि स्थापना, उपकरण और संयंत्र को मिलाकर 12½ लाख रुपये से अधिक न हो।[6]

जहां तक प्रांतीय व्यय के विषयों पर लगे नियंत्रणों का संबंध है, यह निश्चय लिया गया कि सरकारी धन के वितरण का अधिकार देने से पूर्व लागू सामान्य शर्त को ध्यान में रखते हुए यह लोकहित में होगा कि प्रांतीय सरकारें निम्नलिखित को लाभ पहुंचाने के लिए अपनी निधियों से खर्च नहीं करेंगी:–

(1) कोई व्यक्ति या गैर–सरकारी व्यक्तियों की संस्था जो सिद्धांत अथवा घोषित या स्थापित नियम के अनुसार भारत सरकार से मान्यताप्राप्त नहीं है।[7]

---

1. 1912 का नियम 10(11)
2. 1912 का नियम 10(4)
3. 1912 का नियम 10(6)
4. 1912 का नियम 10(15)
5. 1912 का नियम 10(17)
6. 1912 का नियम 10(18)
7. 1877 का नियम 10, इसके बाद के संकल्पों को भी शमिल किया गया।

(2) देशीय रियासतों को किसी एक परियोजना के लिए एक वर्ष में 10,000 रुपये से अधिक और यदि अनावर्ती व्यय है तो सीधे 50,000 रुपये से अधिक।[1]

(4) बजट नियम

श्री विल्सन द्वारा 1860[2] में पहली बार भारत में आरम्भ की गई बजट प्रणाली के साधारण नियमों के अध्यधीन होने के अलावा, जिनके अन्तर्गत प्रांतीय सरकारों से मंजूरी के लिए भारत सरकार के समक्ष अपने बजट प्राक्कलन प्रस्तुत करने तथा अनुदानों के निष्पादन में विनियोग नियमों का पालन करने की अपेक्षा की जाती थी, प्रांतीय सरकारों को यह भी स्पष्ट कर दिया गया था कि भारत सरकार की पूर्व सहमति के बिना वे–

(i) साम्राज्यिक राजकोष में अपनी जमा राशि खर्च नहीं कर सकतीं।

1887 से पूर्व प्रांतीय सरकार अपने बजट प्राक्कलनों में अपनी पूरी बकाया राशि निकालने का प्रस्ताव रख सकती थी। लेकिन तब बनाए गए नियमों के अन्तर्गत प्रांतीय सरकार के लिए हर समय साम्राज्यिक राजकोष में एक निश्चित न्यूनतम बकाया राशि रखना आवश्यक हो गया। बाद के प्रत्येक समझौते में यह राशि घटती–बढ़ती रहती थी।

(iii) घाटे का बजट, अर्थात् सम्बंधित वर्ष के प्रांतीय राजस्व से अधिक प्रांतीय व्यय का बजट नहीं बना सकती थी।

इस नियम[3] की कट्टरता को कुछ कम किया गया जिससे कि 1912 के पश्चात् एक प्रांत घाटे का बजट बना सकता था यदि यह भारत सरकार को आश्वस्त कर देता है कि ऐसा विशेष और अनावर्ती कारणों में किया जा रहा है[4], लेकिन साथ ही यह भी प्रावधान किया गया कि यदि घाटे को पूरा करने के लिए साम्राज्यिक राजकोष से राशि निकालने पर राजकोष में बकाया राशि घटकर निर्धारित न्यूनतम राशि से कम हो जाती है तो घाटे के बजट की मंजूरी तभी दी जाएगी जब भारत सरकार सम्बंधित प्रांतीय सरकार को इतने ही ओवरड्राफ्ट की अनुमति देगी कि सामान्य राजस्व से साम्राज्यिक राजकोष में धनराशि जमा करके इसे बकाया निर्धारित न्यूनतम स्तर तक लाया जा सके और ओवरड्राफ्ट का भुगतान ब्याज की दरों तथा किश्तों में किया जाएगा जो निर्धारित की जाएगी।[5]

(iii) एक वर्ष के दौरान किसी लेखा शीर्ष पर इसके लिए उस वर्ष अंतिम रूप से भारत सरकार द्वारा मंजूर राशि से अधिक खर्च नहीं करेंगी।

---

1. 1912 का नियम 10(13)
2. 1892 का नियम 11, 1897 का नियम 13 और 1912 का नियम 19
3. 1892 का नियम 8
4. 1912 का नियम 21
5. 1912 का नियम 21 और 22

कोई प्रांतीय सरकार अधिक व्यय तभी कर सकती है बशर्ते जितना अधिक व्यय किया जाता है उसे पुनर्विनियोग द्वारा अर्थात् इसके नियंत्रणाधीन किसी अन्य लेखा शीर्ष में स्वीकृत अनुदान में उतनी ही राशि कम कर के प्रतिसंतुलित किया जाए।[1] प्रांतीय सरकारों के पास पुनर्विनियोग की व्यापक शक्तियां थी। क्योंकि प्रांतीय सरकार इसके बजट में सम्मिलित प्रांतीय व्यय के निमित्त अनुदानों में पुनर्विनियोग की मंजूरी दे सकती थी चाहे पूर्णतया प्रांतीय शीर्ष हो या विभाजित मुख्य या गौण शीर्ष हो बशर्ते कि कुल प्रांतीय व्यय अनुदान में अधिक हो।[2]

(5) लेखा और लेखा परीक्षा नियम

यद्यपि प्रांतों को अपने बजटों में पुनर्विनियोग की काफी शक्तियां दी गई थीं किन्तु उनके लिए यह आवश्यक कर दिया गया था कि वे जो धनराशि खर्च करते हैं उसका लेखा–जोखा रखें और उसकी लेखा–परीक्षा करवाएं। इस सम्बंध में ध्यान देने योग्य महत्त्वपूर्ण यह तथ्य है कि इस प्रकार लेखा–जोखा रखने और उनकी लेखा–परीक्षा करवाने के दायित्व के लिए वे अपने विधानमंडलों के प्रति उत्तरदायी नहीं थे अपितु इसके लिए वे भारत सरकार के प्रति उत्तरदायी थे क्योंकि उनको यह वित्तीय अधि कार भारत सरकार ने दिया था। इसके अलावा, भारत सरकार ने अपने निजी लेखा और लेखा परीक्षा कर्मचारी नियुक्त करके प्रांतों को अपनी स्वेच्छा से इस दायित्व का निर्वाह करने की छूट नहीं दी थी। इसके प्रतिकूल, विभिन्न प्रांतों में तैनात साम्राज्यिक लेखा और लेखा परीक्षा अधिकारियों को इस दायित्व को निभाने की जिम्मेदारी सौंपी गई थी जो प्रशासन तथा उपरोक्त नियमों की व्याख्या के मामले में प्रांतीय सरकारों के आलोचक और मार्गदर्शक का काम करते थे। उनके काम को सुगम बनाने के लिए प्रांतीय सरकारों को हिदायत दी गई थी कि वे–

(i) लोक लेखाओं[3] की प्रक्रिया के प्रपत्र में कोई परिवर्तन न करें अथवा लेखे का प्रभार दो या अधिक शीर्षों में विभाजित करने का आदेश न दें। ऐसे सभी मामलों में उन्हें महानियंत्रक, साम्राज्यिक सरकार का एक अधिकारी – के निर्णय का पालन करना होगा।[4]

(ii) अपने विनियोग अथवा व्यय के सम्बंध में मंजूरी के विरुद्ध साम्राज्यिक लेखा परीक्षा अधिकारी की आपत्ति प्रांतीय सरकार के स्पष्टीकरण के साथ भारत सरकार को अंतिम निपटान के लिए प्रेषित करेंगे।[5]

1. 1912 का नियम 24
2. 1912 का नियम 25(1)
3. 1897 का नियम 1(क) जैसा कि बाद में संकल्पों में भी शामिल किया गया है।
4. 1897 का नियम 4(2)
5. 1912 का नियम 30 और 31

प्रांतीय सरकारों की वित्तीय शक्तियों पर इस प्रकार के नियंत्रण लगाये गये थे। इन विशिष्ट नियंत्रणों के अलावा भी प्रांतीय सरकारें अपने अधिकार क्षेत्र में अपनी नियति की स्वतंत्र निर्माता नहीं थीं क्योंकि किसी विभाग के पर्यवेक्षण और नियंत्रण का अधिकार अभी भी गवर्नर जनरल इन काउंसिल को था और प्रांतीय सरकारों के लिए यह आवश्यक था कि वे अपनी कार्यपालिका और वित्तीय कार्यवाही के बारे में उसे पूरी सूचना देते रहें ताकि वह शांति, व्यवस्था और सुशासन सम्बंधी अपने कर्त्तव्यों का निर्वहन कर सकें।[1] प्रांतों की वित्तीय स्वतंत्रता पर उनके सामान्य प्रभाव को छिपाया नहीं जा सका। इन भारी नियंत्रणों के होते हुए यदि प्रांतीय वित्तव्यवस्था की स्वतंत्रता के मामले में वे अपनी आस्था नहीं रखते और यह नहीं पूछते कि इस भ्रामक संस्था का अन्ततः स्वरूप क्या है और इसके लाभ क्या हैं तो उनका मानस या मन बहुत ही अधिक अभेद्य होता।

1. 1877 का नियम 5, 1897 का नियम 15 और 1912 के नियम 6 और 7

8

प्रांतीय वित्तव्यवस्था का स्वरूप

प्रांतीय वित्तव्यवस्था का अध्ययन तब तक पूर्ण नहीं कहा जा सकता जब तक कि इस प्रश्न का सही उत्तर नहीं मिलता जो परिणामतः अवश्य ही पूछा जाएगा, कि पुरानी योजना के अन्तर्गत ब्रिटिश भारत में केन्द्रीय और प्रांतीय सरकारों के बीच वित्तीय सम्बंध कैसे रहे? यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है क्योंकि प्रांतीय वित्तव्यवस्था से सम्बंधित आलोचना और प्रस्तावों तथा इस दृष्टि से किसी विषय की वैधता पूर्णतया इसके स्वरूप को ठीक ढंग से समझने पर निर्भर करती है। दुर्भाग्यवश, इसके महत्त्व को ध्यान में रखते हुए इसकी ओर जितना ध्यान दिया जाना चाहिए था उतना नहीं दिया गया। यही कारण है कि किसी विषय पर विश्वस्त रूप से चर्चा नहीं की गई और फिर भी किसी विषय को इतना गलत नहीं समझा गया जितना कि ब्रिटिश भारत में पुरानी प्रांतीय वित्तव्यवस्था को गलत समझा गया। अतः यह स्पष्ट करना आवश्यक हो जाता है कि ब्रिटिश भारत में स्थापित प्रांतीय वित्तव्यवस्था का वास्तविक स्वरूप क्या था।

राज्यतंत्रों की परस्पर सम्बंधित प्रणाली में, जैसा कि ब्रिटिश भारत में केन्द्रीय और प्रांतीय सरकारों के मामले में था, उनके वित्तीय सम्बंधों के वास्तविक स्वरूप को समझना सदैव कठिन होता है क्योंकि ऊपर से जो दिखाई देता है वह वास्तविक से बिल्कुल भिन्न हो सकता है। बहरहाल, आम राय यह थी कि भारतीय प्रणाली प्रांतीय और केन्द्रीय सरकारों के बीच संसाधनों के पृथक्करण पर आधारित थी और प्रांतीय सरकार द्वारा अपनी आय से केन्द्रीय सरकार को अंशदान देने की जो प्रथा थी वह जर्मन साम्राज्य में व्याप्त संघीय वित्त व्यवस्था से प्रायः मिलती-जुलती थी। यह तो नहीं कहा जा सकता कि यह दृष्टिकोण सही था या गलत लेकिन भारत में केन्द्रीय और प्रांतीय सरकारों के बीच सम्बंधों के अनेक ऐसे प्रसंग हैं जिनसे निस्संदेह इस दृष्टिकोण को काफी बल मिलता है। ऐसे प्रसंगों में केन्द्रीय और प्रांतीय सरकारों के बीच कृत्यों के विभाजन का उल्लेख किया जा सकता है। एक प्रेक्षक ने यह टिप्पणी की कि जहां तक कृत्यों के विभाजन का सम्बंध है, केन्द्रीय सरकार का सैनिक मामलों, विदेशी मामलों, सामान्य कराधान, मुद्रा, ऋण, शुल्कों, डाक और तार,

रेलवे और लेखा तथा लेखा परीक्षा जैसे मामलों पर नियंत्रण था जबकि प्रांतीय सरकारें साधारण आन्तरिक प्रशासन जैसे पुलिस, शिक्षा, सफाई, सिंचाई, सड़कें और इमारतें, जंगलात जैसे मामलों का संचालन करती थीं और स्थानीय संस्थाओं पर भी इनका नियंत्रण था। यदि इस प्रसंग से इस दृष्टिकोण को बल मिलता है कि केन्द्रीय और प्रांतीय सरकारें अलग-अलग सेवाओं का निष्पादन करती थीं तो केन्द्रीय और प्रांतीय सरकारों के बीच सम्बंधों का एक दूसरा प्रसंग है जिससे इस विचार को बल मिलता है कि ब्रिटिश भारत में केन्द्रीय और प्रांतीय सरकारों के राजस्व भी अलग-अलग थे। इस प्रसंग के अनुसार भारत में अधिकांश करों की वसूली प्रांतीय सरकारों द्वारा की जाती थी। भारतीय व्यय के बारे में रायल आयोग ने यह टिप्पणी की है:[1]

> ''यूनाइटेड किंगडम में राजस्व प्रशासन केन्द्रीयकृत है जो लंदन में वित्त मंत्री (चांसलर ऑफ दि ऐक्सचैकर) के अधीन है। भारत में राजस्व की कुछ शाखाओं का प्रशासन केन्द्रीयकृत है। यद्यपि यह सदैव (भारत सरकार के) वित्त मंत्री के अधीन नहीं होता। अन्य शाखाओं का प्रशासन विकेन्द्रीयकृत है।'' – भू-राजस्व (मालगुजारी) कलकत्ता में स्थित केन्द्रीय विभाग के नियंत्रणाधीन है लेकिन वह विभाग वित्त मंत्री के अधीन नहीं है अपितु गृह और राजस्व विभागों के प्रभारी मंत्री के अधीन है। तार विभाग लोक निर्माण मंत्री के नियंत्रणाधीन है। नमक शुल्क का कुछ भाग, और अफीम राजस्व का कुछ भाग डाकघर राजस्व तथा अन्य प्रकार के राजस्वों की वसूली पर केन्द्रीय सरकार का नियंत्रण है ....शेष राजस्व प्रांतीय सरकारों द्वारा वसूल किया जाता है। ....जहां तक राजस्व के एक बड़े भाग की वसूली का सम्बंध है, इस बारे में प्रांतीय सरकारें प्रशासन की इकाइयां हैं और वे अपने कर्त्तव्यों के निष्पादन के लिए पूरी तरह से तैयार हैं।''

इसी विचार का समर्थन करने वाले तीसरे प्रसंग के रूप में भारतीय लेखाओं को प्रस्तुत करने के लिए सरकारी अधिकृत रिपोर्टों (बुक्स) में अपनाये गये अनूठे तरीके का उल्लेख किया जा सकता है जैसा कि ध्यान में आया होगा, भारत सरकार के सामान्य लेखाओं के साथ एक अनुपूरक लेखा संलग्न किया जाता है जिसमें ब्रिटिश भारत के विभिन्न प्रांतों में आय और व्यय के विभिन्न शीर्षों के विभाजन के बारे में जानकारी दी जाती है। लेखाओं को दर्शाने का यह तरीका निस्संदेह गुमराह करने वाला है। ऐसा प्रतीत होता है कि ऐसा करने का उद्देश्य प्रांतों की वित्तीय स्थिति के बारे में जानकारी देना था। लेकिन वास्तविकता यह है कि प्रांतों की आय और व्यय के बारे में जो आंकड़े दिये गये हैं वे विभिन्न

1. अंतिम प्रतिवेदन का पैरा 25

प्रांतों के दावों और उत्तरदायित्वों के द्योतक नहीं हैं। इन आंकड़ों से प्रांतों की वित्तीय स्थिति का पता नहीं चलता। इन आंकड़ों से उन विभिन्न एजेन्सियों के भौगोलिक विभाजन का पता चलता है जिनके माध्यम से भारत सरकार के वित्तीय कारोबार व कार्यकलाप का संचालन होता है और जिनके माध्यम से राजस्व वसूल किये जाते हैं तथा व्यय किया जाता है। उदाहरण के तौर पर ''बंबई'' शीर्ष के अंतर्गत जो आय और व्यय दिखाया गया है उससे उस आय और व्यय का पता चलता है जो बंबई में तैनात भारत सरकार के महालेखापाल के खातों के माध्यम से होता है और अन्य प्रांतीय सरकारों के शीर्षों के अन्तर्गत दी गई प्रविष्टियों के मामले में भी यही बात सही है। ये आंकड़े वास्तव में भौगोलिक दृष्टि से विभाजित भारत सरकार के लेनदेन के द्योतक हैं और इन में प्रांतीय नाम की कोई चीज नहीं है। तथापि ऐसी लेखा प्रणाली से यह धारणा बनती है कि भारत में वित्तव्यवस्था मुख्य रूप से संघीय है।

इन तीन प्रसंगों के आधार पर ब्रिटिश भारत में केन्द्रीय और प्रांतीय सरकारों के बीच वित्तीय सम्बंधों को संघीय वित्तव्यवस्था की संज्ञा देना सरल था। भारतीय अर्थव्यवस्था के साधनों के पृथक्करण तथा उपज (आय) से अंशदान पर आधारित होने का विचार इतना गहरा था कि भारतीय व्यय (1892) और ब्रिटिश भारत में विकेन्द्रीयकरण (1909) सम्बंधी रॉयल आयोगों के समक्ष साक्ष्य देते हुए अनेक साक्षी आयुक्तों पर आक्रमण करने के लिए टूट पड़े और उन्होंने अर्थव्यवस्था के अनौचित्य की आलोचना की तथा न्याय के हित में इसमें संशोधन करने के सुझाव दिये। उन्होंने अपनी ऐसी मान्यताओं के स्पष्ट शब्दों में कहीं कोई कारण नहीं बताए हैं।[1] यद्यपि उनके सुझाव इस बात का सुस्पष्ट प्रमाण हैं कि उनकी ऐसी धारणा थी। जब तक वे यह नहीं मानते कि प्रांतों का राजस्व तथा सेवाएं पृथक हैं तो केन्द्रीय सरकार की सहायता के लिए विभिन्न प्रांतों द्वारा अपने राजस्व से असमान अंशदान किये जाने के कारण उनके साथ जो अन्याय हुआ उसे दूर कराने के प्रयासों में अपनी शक्ति बर्बाद करने की उनसे आशा नहीं की जा सकती थी।

यदि केन्द्रीय और प्रांतीय सरकारों के बीच वित्तीय सम्बंधों के बारे में उनका दृष्टिकोण स्वीकार्य होता तो उनकी आलोचना तथा उनके सुझाव काफी हद तक स्वीकार कर लिये गये होते। विभिन्न प्रांतों द्वारा अपने राजस्व अथवा आबादी के अनुपात में जो भी अंशदान दिये जाते थे वे ऐसी कुछ आपत्तिजनक किन्तु सामान्यतया स्वीकृत परिकल्पना के आधार पर निश्चित रूप से असमान थे कि एक प्रांत में एकत्र किया गया पूरा राजस्व उसी प्रांत का होता है।

---

1. सी. एफ. भारतीय व्यय आयोग कार्यवाही वृत्तान्त का साक्ष्य, खण्ड 3 सन्दर्भ–क्यू. 18094 और विकेन्द्रीयकरण आयोग साक्ष्य, खंड 2, क्यू. 9497

साम्राज्यिक सरकार को प्रांतीय अंशदान

प्रांत	प्रांत में एकत्र किये गये कुल राजस्व की तुलना में भारत सरकार को दी गई राशि का अनुपात					प्रांत की आबादी की तुलना में भारत सरकार को प्रति व्यक्ति दी गई राशि का अनुपात				
1.	1871-72	1882-83	1892-93	1904-05	1912-13	1871-72	1882-83	1892-93	1904-05	1912-13
मध्य प्रांत	.655	.464	.615	.297	.204	.9	.69	1.3	.55	.59
बर्मा	.728	.575	.598	.497	.38	3.4	.39	.7	4.37	3.08
आसाम	-	.438	.390	.376	-	-	.75	.75	.87	-
बंगाल	.903	.746	.761	.742	.596	2.4	1.99	2.9	2.29	2.39
उत्तर-पश्चिम प्रांत और अवध	.785	.617	.435	-	-	1.5	1.24	1.4	-	-
पंजाब	.768	.648	.726	.512	.391	1.7	1.5	1.4	1.57	1.64
मद्रास	.828	.664	.667	.638	.479	2.3	2.0	2.3	2.34	1.79
बंबई	.845	.648	.66	.614	.58	5.0	4.1	5.4	4.75	5.6
संयुक्त प्रांत	-	-	-	.567	.381	-	-	-	1.48	.93
बिहार और उड़ीसा	-	-	-	-	.220	-	-	-	-	.17

भारत सरकार के वित्त और राजस्व लेखाओं का दसवार्षिक जनगणना प्रतिवेदनों से संकलित।

इसी प्रकार विभाजित राजस्व शीर्ष व्यवस्था को बदल कर इसके स्थान पर पृथक राजस्व व्यवस्था लागू करने और केन्द्रीय सरकार को प्रांतीय सरकारों द्वारा (1) एक निश्चित राशि जिसमें हर कुछ वर्षों में संशोधन किया जा सके, या (2) प्रांतीय राजस्व पर एक समान प्रतिशत, या (3) प्रांतीय सरकारों द्वारा अपने प्रांत की आबादी, राजस्व या सम्पत्ति पर केन्द्रीय सरकार को घटता-बढ़ता अंशदान दिये जाने के प्रस्तावों की तुलनात्मक खूबियों के बारे में जो कुछ भी कहा जाए, इसमें कोई संदेह नहीं हो सकता कि इनका उद्देश्य साम्राज्यिक राजकोष के बोझ को बांटने का कोई ऐसा बोधगम्य आधार ढूंढना था जिससे प्रांतों को बराबर या देने की क्षमता के अनुसार भुगतान करना पड़े। किसी व्यक्ति से, जिसने प्रांतीय वित्तव्यवस्था के सही स्वरूप को समझने का प्रयास किया हो यह आशा नहीं की जा सकती थी कि वे इन प्रस्तावों

को उतनी गम्भीरता से लेंगे जितनी गम्भीरता से उनके प्रवर्त्तक इन्हें लाये थे। फिर भी यह बड़ी विचित्र बात है कि दोनों आयोगों में से किसी ने उनके औचित्य पर आपत्ति नहीं की। विकेन्द्रीयकरण[1] सम्बंधी रॉयल आयोग ने अवश्य यह स्पष्ट किया, यद्यपि जोरदार ढंग से नहीं, कि समान अंशदान अनिवार्य रूप से न्यायसंगत अंशदान नहीं थे, लेकिन न तो इस आयोग ने और न ही भारतीय व्यय सम्बंधी रायल आयोग ने उस भाषा को चुनौती दी जिसमें कहा गया था कि प्रांतीय सरकारें अपनी सेवाओं के लिए भुगतान करने के पश्चात् अपना राजस्व साम्राज्यिक राजकोष में अंशदान के लिए दे दें। अतः यह और भी आवश्यक हो जाता है कि उन कारणों पर कुछ विचार से विचार किया जाए जिनमें इस दृष्टिकोण का समर्थन किया गया कि यह व्यवस्था में साधनों के पृथक्करण तथा आय से अंशदान का सिद्धांत पर आधारित है। वास्तव में अंशदानों के औचित्य के प्रश्न पर तब तक विचार करने का कोई फायदा नहीं है जब तक यह तय नहीं हो जाए कि राजस्व प्रांतीय सरकारों के थे जिन्हें वे अपना कह सकती थीं और ऐसी सेवाएं थीं जिनको सुचारू रूप से चलाने के लिए मुख्य रूप से वे जिम्मेदार थीं।

इस बात का निर्णय किस आधार पर किया जाए कि क्या प्रांतों के पास ऐसा राजस्व और सेवाएं थीं जिनको वे अपनी कह सकते थे? निस्संदेह प्रशासनिक मापदण्ड के आधार पर यह कहा जा सकता है कि जिस चीज पर प्रांत का प्रशासन था वह प्रांतीय थी। लेकिन यह मापदंड अंतिम मापदंड नहीं हो सकता। इसका कारण यह है कि प्रशासनिक राज्यतंत्रों के उद्‌गम या आदर्श संगठन में उनकी स्थिति के बारे में जो भी राय हो, फिर भी आधुनिक समय में एक प्रशासनिक राज्यतंत्र के सभी प्रादेशिक अधिकारों का मुख्य रूप से किसी सामाजिक समझौते या कुछ कृत्यों के निर्वहन की वजह से नहीं अपितु एक सामान्य सिद्धान्त के आधार पर प्रयोग किया जाता है। अतः इस प्रश्न का निर्णय उस विधि के आधार पर किया जाना चाहिए जिससे ब्रिटिश भारत में प्रांतीय सरकारों की स्थिति का निरूपण किया गया है।

क्या प्रांतों का कानूनी दृष्टि से राजस्व पर कोई अधिकार था? यद्यपि यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि जो लोग प्रांतीय राजस्व की बात करते थे उन्होंने प्रांतीय शब्द को कोई कानूनी दर्जा दिया था या नहीं। इसमें कोई संदेह नहीं है कि आमतौर पर बोलचाल में इसने यह अर्थ ग्रहण कर लिया था। प्रांतीय

1. देखिए विकेन्द्रीयकरण सम्बन्धी रायल आयोग का प्रतिवेदन।

सरकारों का भी, जिनको अधिक जानकारी होनी चाहिए, विचार था और उनका यह तर्क था कि राजस्व में प्रांतीयकरण के नाम पर भारत सरकार ने उन्हें जो कुछ दिया है वह केवल भोगाधिकार नहीं है अपितु राजस्व पर अधिकार है। परन्तु भारत सरकार सदैव ऐसे दावों को दबाने में तत्पर रहती थी। यह स्पष्ट है कि प्रांतीय समझौतों को हर पांच वर्षों में संशोधित किया जा सकता था, भोगाधिकार चिरस्थायी नहीं था और भारत सरकार यदि चाहे तो पांच वर्षों के अन्त में इसे पुनः वापस ले सकती थी। यह बात 14 जनवरी, 1882 के पत्र संख्या 284 में बंगाल सरकार द्वारा किये गये दावों के उत्तर से बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है जिससे निम्नलिखित उद्धरण दिया जाता है:–

> "मतभेद दूर करने तथा अन्य सुविदित उद्देश्यों को, जिनका उल्लेख करना आवश्यक नहीं है, ध्यान में रखते हुए साम्राज्यिक सरकार ने प्रशासन का कुछ काम स्थानीय सरकारों को सौंप दिया। स्थूल अनुमान यह है कि सामान्य आय का एक अंश तथा उसमें होने वाली वृद्धि, जो इसके अपने नियंत्रण में रहेगी, व्यय को पूरा करने के लिए पर्याप्त होगा। केन्द्रीय सरकार, आय का बाकी अंश स्थानीय सरकारों को दे देगी जिससे वे कुछ आवश्यक व्यय पूरा करेंगी। लेकिन यह जरूरी नहीं है कि केन्द्रीय सरकार यह राशि हमेशा देती रहेगी क्योंकि यह अनुमान अनिवार्य रूप से एक मोटा अनुमान है और अप्रत्याशित रूप से संसाध नों में कमी होने अथवा केन्द्रीय सरकार द्वारा अपने पास रखे गये या प्रांतों को सौंपे गए वित्तीय प्रशासन पर व्यय बढ़ जाने से इसमें फेरबदल किया जा सकता है। विनियोग की जांच करने पर आवश्यक हुआ तो इसमें पुनः समायोजन किया जा सकता है। इस पर अधिकार का त्याग इसके स्वरूप और बंगाल के स्थायी समझौते के प्रभावों को ध्यान में रखते हुए किया जाएगा।"

यद्यपि प्रांतों के लिए चिन्ता व्यक्त की गई, तथापि, संशोधन मुख्य रूप से साम्राज्यिक सरकार के हितों को ध्यान में रखते हुए किए गए जैसा कि विनियोग पुनः आरम्भ करने से अकाट्य रूप से सिद्ध होता है। स्थायी समझौते में इसलिए विलम्ब किया गया था कि भारत सरकार अपने राजस्व पर अपना नियंत्रण नहीं छोड़ना चाहती थी। पंचवर्षीय समझौते के अन्तर्गत भोगाधिकार का बिना किसी बाधा के केवल पांच वर्षों के लिए प्रयोग करने की अनुमति दी गई थी। लेकिन यह समर्पण अस्थायी था और केवल पांच वर्षों के लिए होते हुए भी राज्य[1] के सचिव के अनुसार बहुत ही अविवेकपूर्ण था। यह बात इस तथ्य से सिद्ध हो जाती है कि

1. भारत सरकार को भेजा गया दिनांक 16 फरवरी, 1882 का पत्र संख्या 51 और दिनांक 6 जुलाई, 1882 का पत्र संख्या 208

भारत सरकार ने कभी भी अपने राजस्व के भोगाधिकार का प्रयोग करने का अधिकार वापस नहीं लिया जैसा कि केन्द्रीय सरकार द्वारा प्रांतीय अधिशेषों पर लगाए गए असाधारण शुल्कों अथवा दातव्य शुल्कों से, जैसा कि उन्हें पुकारा जाता था, पता चलता है। स्थायी समझौते का भी यह अर्थ नहीं लगाया जा सकता कि विभिन्न प्रांतों को दिये गए राजस्व कानूनी तौर पर उनके राजस्व हो गये क्योंकि कानून की नजर में प्रांतीयकृत राजस्व समेत सभी राजस्व अभी भी भारत सरकार के अधिकार में थे। भारत के राजस्व पर अपना अधिकार प्रांतों को हस्तांतरित करके भारत सरकार कानूनी तौर पर प्रांतों को राजस्व सौंप सकती थी, इसमें संदेह है। संसदीय कानून के आधार पर भारत का राजस्व भारत सरकार को सौंपा गया था, और इसी संसदीय कानून के एक खंड द्वारा भारत सरकार की विधायी शक्तियों को सीमित कर दिया गया था। इस खंड के अन्तर्गत भारत सरकार पर ''ऐसे कानून या विनियम बनाने पर रोक लगा दी गई थी जिनके द्वारा (1833) के इस अधिनियम के किसी प्रावधान का अथवा सम्राट के विशेषाधिकार या संसद के प्राधिकार का किसी तरह निरसन किया जा सके, उसमें परिवर्तन किया जा सके, उसे निलम्बित या प्रभावित किया जा सके।''

यह महत्त्वपूर्ण है कि ऐसा करने के लिए संसद के अधिनियम की आवश्यकता पड़ी। लेकिन भारत सरकार ने राजस्व पर अधिकार का कोई कानूनी परित्याग नहीं किया और यदि भारत सरकार ने ऐसा किया होता तो वह अपना कानून बना कर इसे समाप्त भी कर सकती थी। यह भी नहीं कहा जा सकता कि प्रांतीय राजस्व की अलग व्यवस्था करने से प्रांतों के पास अलग राजस्व आ गया। प्रांतीय सरकारों को प्रांतीयकृत राजस्व से होने वाली वसूली को रखने के लिए अपने निजी राजकोष स्थापित करने की अनुमति दी गई होती तो पृथक स्वामित्व की दृष्टि से प्रांतीय राजस्व का कोई अर्थ होता। लेकिन नियमों के अनुसार प्रांतीय सरकारों को अपनी धनराशि कहीं और जमा न करके साम्राज्यिक सरकार के राजकोष में ही जमा करनी होती थी। इसके परिणामस्वरूप राजस्व का स्वामित्व भारत सरकार के हाथों में ही रहा और साम्राज्यिक राजकोष से प्रांतीय राजस्व के वितरण का काम साम्राज्यिक सरकार के अधिकारियों द्वारा किया जाता था। बहरहाल इस दृष्टिकोण में कोई परिवर्तन नहीं आया। लेकिन ऐसा गलत दृष्टिकोण माननीय श्री सयानी से अधिक विश्वस्त ढंग से किसी ने कभी बयान नहीं किया है और सर जेम्स वैस्टलैण्ड से अधिक जोरदार ढंग से किसी ने इसका खंडन नहीं किया। ऐसा भारत सरकार के काउंसिल हाल में बजट पर वाद-विवाद के अवसर पर दोनों में बहस के दौरान हुआ जिससे निम्नलिखित उद्धरण प्रस्तुत किया जाता है :-

माननीय श्री सयानी ने कहा :–

''प्रांतीय वित्तव्यवस्था का मूल सिद्धांत यह है कि देश का राजस्व प्रांतों के जो इसे एकत्र करते हैं स्वामित्व में होने के बजाय या उनकी अपनी आवश्यकताओं के लिए उपलब्ध होने के बजाय एक सामान्य निधि बन जाता है जिसका प्रयोग केवल केन्द्रीय सरकार ही कर सकती है और केन्द्रीय सरकार इसमें से जितनी राशि देना चाहे प्रांतीय सेवाओं के लिए दे सकती है।''

इस टिप्पणी के निन्दात्मक भाव को समझते हुए वित्तमंत्री सर जेम्स वैस्टलैण्ड ने खड़े होकर यह कहा:–

''यदि मैं माननीय श्री सयानी की बात ठीक से समझता हूं तो उन्होंने कहा कि भारत सरकार ने जो व्यवस्था की है वह इस सिद्धांत पर आधारित है कि विभिन्न प्रांतों के अलग–अलग राजस्व नहीं हैं और प्रांत उन्हें खर्च नहीं कर सकते। विभिन्न प्रकार के राजस्व एक सामान्य निधि के अन्तर्गत आते हैं और स्थानीय सरकारें उनकी वसूली करने के लिए भारत सरकार की एजेंट ही हैं। मैं समझता हूं, उन्होंने इस तरह के कुछ शब्दों में सिद्धान्त की निंदा करने के प्रयोजनार्थ इस सिद्धान्त का उल्लेख किया। खैर! मैं इस सिद्धान्त का पूरा समर्थन करता हूं। राजस्व पर भारत सरकार का स्वामित्व है, यह उसकी संवैधानिक सम्पत्ति है। भारत सरकार एक संस्था है जिसका सृजन संसद के अधिनियम द्वारा किया गया है और यदि संसद के उस अधिनियम का उल्लेख किया जाए तो स्पष्ट हो जाएगा कि भारत के राजस्व पर भारत सरकार तथा केवल उस सरकार का ही अधिकार है। उनके सम्बंध में स्थानीय सरकार जो भी काम करती है वह भारत सरकार के विशिष्ट आदेश के अनुसार न्यायसंगत होना चाहिए। स्थानीय सरकारों के पास जो शक्तियां हैं उन्हें भारत सरकार ही देती है, इसके अलावा वे किसी वित्तीय शक्ति का प्रयोग नहीं कर सकती।''[1]

इसके अतिरिक्त यदि भारत में केन्द्रीय और प्रांतीय सरकारों के बीच वित्तीय सम्बंध साधनों के विभाजन और प्रांतों की आय से अंशदान सिद्धांत पर आधारित होते तो प्रांतीय सरकारों द्वारा जिन सेवाओं का संचालन किया जाता है उनके लिए कानूनी जिम्मेदारी प्रांतीय सरकारों की ही होनी चाहिए थी। यह सही है कि अधिकांश संघीय देशों में केन्द्रीय और राज्य सरकारों के बीच कृत्यों के विभाजन की तरह भारत में भी केन्द्रीय और प्रांतीय सरकारों के बीच कृत्यों का विभाजन किया गया था। तथापि, याद रहे कि कृत्यों का यह विभाजन कानूनी नहीं था

---

1. वित्तीय विवरण, 1897–8, पृष्ठ 110

और प्रांत किसी भी सेवा के लिए कानूनी तौर पर उत्तरदायी नहीं थे, यहां तक कि प्रांतीयकृत कृत्यों के लिए भी प्रांतों की कोई कानूनी जिम्मेदारी नहीं थी। कानून के अनुसार पूरी जिम्मेदारी साम्राज्यिक सरकार के कंधों पर थी और साम्राज्यिक सरकार किसी प्रांत को इसे हस्तांतरित करके इस जिम्मेदारी से छुटकारा नहीं पा सकती थी। प्रांतों ने अपनी इच्छा से कुछ साम्राज्य सेवाओं के लिए वित्तीय जिम्मेदारी स्वीकार की थी। उन्हें ऐसी सेवाओं का संचालन करने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता था। मद्रास ने 1877 में ऐसी जिम्मेदारी लेने से जिस असाधारण ढंग से इंकार किया उससे यह बात सिद्ध हो जाती है। अतः कानून के अनुसार देश में शांति, व्यवस्था और सुशासन के लिए भारत सरकार ही जिम्मेदार थी। अतः अनिवार्य रूप से सभी सेवाओं के लिए साम्राज्यिक सरकार जिम्मेदार थी जिनका संचालन अपने संवैधानिक दायित्वों का निर्वहन करने के लिए भारत सरकार करती थी।

अतः यह स्पष्ट है कि वह विचार जिसमें यह माना गया है कि ब्रिटिश भारत में केन्द्रीय और प्रांतीय सरकारों के बीच सम्बंध साधनों के विभाजन और प्रांतों की आय से अंशदान पर आधारित थे, तर्कसंगत नहीं है। इन दिनों प्रायः हर देश में सरकार परस्पर सम्बंधित राज्यतंत्रों द्वारा चलाई जाती थी और हर राज्यतंत्र का अपना-अपना क्षेत्र होता था जिसमें रहते हुए वे अपने सार्वजनिक कृत्यों का निर्वहन करते थे। यह हो सकता है कि कोई भी दो देशों में सरकार का काम चलाने वाले राज्यतंत्रों की संख्या एक-सी रही हो। परन्तु इस तथ्य के आधार पर यह कहना गलत है कि उनके आपसी सम्बंध भी एक से रहे होंगे। अतः इस तथ्य को ओर ध्यान दिलाना भी आवश्यक है कि परस्पर-सम्बंधित राज्यतंत्रों के बीच अच्छे सम्बन्ध होना इस बात पर निर्भर करता है कि उनमें से कौन-सा तंत्र कानून देने वाला राज्यतंत्र है। यह स्वीकार किया जाएगा कि ऐसे राज्यतंत्रों में एक राज्यतंत्र कई कारणों, विशेष रूप से ऐतिहासिक कारणों, से सर्वोच्च होता है क्योंकि यह अन्य राज्यतंत्रों को कानून देने में सक्षम होता है। संघीय देशों में कानून देने वाले राज्यतंत्र राज्य सरकारें हैं। उनका निर्णायक स्थान है। वे मूल तथा अवशिष्ट राजकीय शक्तियों के भण्डार हैं। वे स्वतंत्र अस्तित्व का दावा कर सकते हैं, वे अपने संसाधन प्राप्त कर सकते हैं और अपने कृत्यों का निर्वहन कर सकते हैं। दूसरी ओर, संघीय सरकार राज्य सरकारों की कठपुतली है। इसके पास केवल वे ही शक्तियां और कृत्य हो सकते हैं जो राज्य सरकारें अपने पास न रखकर इसे देती हैं। अतः राज्य और संघीय सरकारों के बीच वित्तीय सम्बंधों को संसाधनों के विभाजन तथा राज्यों की आय से अंशदान की संज्ञा दी जाए तो सही तथा उचित होगा।[1] इसका कारण यह है कि वहां पर

1. वास्तव में यह आवश्यक नहीं है कि संघीय व्यवस्था हो। विकेन्द्रीयकरण की वैध प्रणाली समान रूप से संसाधनों के विभाजन और राज्यों की आय से अंशदान के अनुकूल होगी।

राज्यों के पृथक संसाधन हैं जो कानूनी तौर पर उनके अपने हैं और इसलिए अपनी सेवाओं के लिए भुगतान करने के पश्चात् वे केन्द्रीय सरकार को अंशदान करते हैं तो कह सकते हैं कि उन्होंने अपने राजस्व को त्याग दिया। लेकिन प्रांतीय सरकारों के मामले में यह कहना असंगत है। भारत में प्रांतीय सरकारें निर्णायक होने के बजाय प्रशासनिक राज्यतंत्रों में सबसे कमजोर राज्यतंत्र हैं। 1833 तक प्रांतों के पास पृथक अधिकार थे जिससे वे समर्पित करने की स्थिति में थे। उस समय भारत सरकार को संघीय आधार पर संगठित किया गया होता तो प्रांतों की स्थिति काफी हद तक वही होती हो संघीय देशों में राज्यों की है। लेकिन 1833 के अधिनियम द्वारा साम्राज्यिक व्यवस्था की स्थापना से भारत में संघ बनाने का अंतिम अवसर भी जाता रहा। उस अधिनियम के द्वारा प्रांतों की प्रभुसत्ता को इस प्रकार कुचल दिया गया कि इसका कोई अवशेष नहीं रहा जिसके आधार पर भारत में संघीय व्यवस्था की बात सोची जा सके। इस अधिनियम के आने के पश्चात् देश की सरकार एकल प्राधिकरण को सौंप दी गई है जिसकी जिम्मेदारी देश को सुशासन प्रदान करना है। चूंकि कोई एक प्रशासन केन्द्रीय कर्मचारियों की सहायता से इतने बड़े देश का शासन चलाने का भार सहन नहीं कर सकता था इसलिए प्रांतीय सरकारों को काफी शक्तियां दी गई। लेकिन इससे इस तथ्य को नहीं छिपाया जा सकता कि प्रांत सही अर्थों में ''भारत सरकार के एजेंट'' थे। आम प्रयोग के कारण 'प्रांतीय' शब्द को प्रतिष्ठाजनक स्थान मिल गया। प्रांतीय राजस्व के साथ-साथ प्रांतीय सेवाएं, प्रांतीय सिविल कर्मचारी, प्रांतीय न्यायालय आदि शब्दों का भी प्राय: प्रयोग किया जाता था और ऐसा लगता था कि इन सभी चीजों का संबंध प्रांतीय सरकारों से है। लेकिन यह प्रयोग विडम्बनापूर्ण था। इसका कारण यह है कि देश के संवैधानिक कानून के प्रावधानों को याद करने पर हम उन्हें प्रभुसत्ता सम्पन्न अधिकरण समझने के बजाय यह कहना पसंद करेंगे कि उनमें राज्यपाल और परिषद् जैसी उच्च संस्थाएं होते हुए भी उन्हें सरकारें कहना उपयुक्त नहीं होगा। बहरहाल प्रांतीय सरकारों के पास कोई ऐसी कानूनी शक्तियां या कृत्य नहीं थे जो सरकार नामक राज्यतंत्रों के पास होने की आशा की जाती है। तथ्य यह है कि भारतीय राज्यतंत्र प्रणाली संघीय राज्यतंत्र प्रणाली के नितांत प्रतिकूल थी। भारतीय राज्यतंत्र प्रणाली एक केन्द्रीयकृत प्रणाली थी जिसमें कुछ भी प्रांतीय नहीं था, जो कुछ प्रांतीय दिखाई देता था वह साम्राज्यिक सरकार का क्षेत्रीय पहलू था। अत: भारत में प्रांतीय और केन्द्रीय सरकारों के बीच वित्तीय सम्बंधों को स्रोतों के विभाजन और प्रांतों की आय से अंशदान की संज्ञा देना गलत और अतिशोभनीय होगा। भारत में प्रांतों के कोई ऐसे पृथक संसाधन नहीं थे जो कानूनी तौर पर उनके अपने हों और इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि अपनी सेवाओं, जिसकी संविधान के कानून में कोई कल्पना नहीं की गई है, के लिए भुगतान करने के पश्चात् प्रांतीय सरकारें केन्द्रीय सरकार को अंशदान करती थीं।

पिछले अध्याय में चर्चित प्रतिबंधों की जटिल नियमावली से प्रांतीय वित्तव्यवस्था के सही स्वरूप का पर्दाफाश हुआ, जिसकी आशा करना अनुचित नहीं था तो ऐसा विचार, जिसकी इसमें आलोचना की गई है कभी प्रचलित नहीं हो सकता था। इन प्रतिबंधों के विद्यमान होने के बावजूद ऐसे लोग रहे होंगे जिन्होंने यह कहने के बजाय कि ऐसे प्रतिबंध होने की स्थिति में ये प्रांतीय वित्त कैसे हो सकते हैं एक अनभिज्ञ व्यक्ति की तरह विश्वास के साथ यह तर्क दिया कि यह व्यवस्था संगठन की दृष्टि से स्वतंत्र है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने प्रांतीय वित्त व्यवस्था का अध्ययन करते समय इस पर लगे प्रतिबंधों की ओर कोई ध्यान नहीं दिया। अन्यथा उस नियमावली को देखने से स्पष्ट हो जाता कि यदि प्रांतों के पास पृथक राजस्व और पृथक सेवाएं होतीं तो उन्हें अपनी इच्छानुसार राजस्व हस्तांतरित करने, अपनी इच्छानुसार किसी सेवा पर उसे खर्च करने, अपनी इच्छा से कोई नीति बनाने और उसके अनुसार बजट प्राक्कलन तैयार करने और अपनी पसंद के तरीके से अनुपूरक अनुदानों की व्यवस्था करने की शक्ति होती। लेकिन उनके पास ऐसी शक्तियां कभी नहीं रहीं। प्रांतीय वित्तव्यवस्था पर लगे ये प्रतिबंध सचमुच इस बात का सबसे बड़ा प्रमाण हैं कि 1870 से पूर्व की भांति 1870 के बाद भी सभी चीजें साम्राज्यिक बनी रहीं।

यदि भारत में केन्द्रीय और प्रांतीय सरकारों के बीच वित्तीय सम्बंधों को स्रोतों के विभाजन और प्रांतों से अंशदान की संज्ञा देना मामले के तथ्यों के अनुरूप नहीं है तो ऐसा कौन-सा सिद्धांत है जिसे विधि द्वारा विहित स्थिति के अनुरूप माना जा सकता है? इसके उत्तर में हम एकदम कह सकते हैं कि दोनों सरकारों के बीच वित्तीय सम्बंधों का एक ही सिद्धांत जो तथ्यों के अनुकूल तथा विधिसम्मत है वह है स्रोतों का संकलन और आय का वितरण।

स्रोतों के संकलन की बात कहना भ्रामक प्रतीत होगा क्योंकि भारत सरकार ने प्रांतों को राजस्व तथा राजस्व के हिस्से आबंटित किये थे। इसका उत्तर देना कठिन नहीं है। यह पहले ही स्पष्ट कर दिया गया है कि प्रांतीय वित्तव्यवस्था के लिए कानूनी तौर पर स्रोतों का विभाजन आवश्यक नहीं था। और न ही वास्तव में इनका विभाजन आवश्यक था। इसका कारण यह है कि जैसा कि पहले बताया गया है, आबंटित अथवा आरक्षित हर प्रकार के राजस्व साम्राज्यिक राजकोष में संग्रहीत किये जाते थे और वहां से सभी अनुमोदित सरकारी सौदों के लिए भुगतान किया जाता था। अत: स्पष्ट है कि जब हर प्रकार का राजस्व एक सामान्य कोष में जमा किया जाता है तो यह बिना किसी हिचकिचाहट के कहा

जा सकता है कि प्रांतों को जो कुछ दिया जाता था वह राजस्व होता था।[1] राजस्व के सभी स्रोतों से होने वाली वसूली पूरी तरह मिला दी जाती थी। अतः यह कहना उचित होगा कि प्रांतों को जो कुछ दिया जाता था वे निधियां होती थीं। आबंटन बजट, हस्तांतरित अथवा विभाजित राजस्व बजट जैसी अभिव्यक्तियां कुछ हद तक कल्पित वाक्यांश है। प्रांतीय वित्तव्यवस्था के सभी चरणों में प्रांतों को जो कुछ दिया जाता था वे निधियां होती थीं आबंटन चरण में जो धनराशि दी जाती थी वह निश्चित रूप से एक निश्चित राशि होती थी। अतः आबंटन और हस्तांतरित या विभाजित राजस्व में केवल यह अन्तर था कि जहां आबंटन के मामले में एक निश्चित राशि होती थी वहां हस्तांतरित या विभाजित राजस्व के मामले में कुल आय के अनुसार कम या ज्यादा हो सकती थी। लेकिन साथ ही यह केवल निधियों की आपूर्ति ही होती थीं। यह कहना भी गलत है कि प्रांतीय सरकारें जिन सेवाओं की जिम्मेदारी लेती थी भारत सरकार उन्हीं सेवाओं पर होने वाले व्यय को पूरा करने के लिए प्रांतीय सरकारों को धन देती थी। वास्तव में, प्रांतीय अंश समेत सभी सार्वजनिक धनराशि प्राप्त करने तथा इसे वितरित करने का काम भारत सरकार के हाथों में था। अतः तथ्यों के अनुसार सही अभिव्यक्ति यह कहना होगा कि प्रांतीय वित्तव्यवस्था से केवल यह अभिप्रेत था कि भारत सरकार अपने राजकोष के बहीखातों में एक प्रांतीय सेवा खाता खोल देती थी जिसमें जमाराशि हस्तांतरित या विभाजित राजस्व से हुई राशि के साथ बदल जाती थी और इसके अनुसार तथा इसमें से ही प्रांतीय सरकारें धनराशि निकाल सकती थीं।

इस प्रकार राजस्व के सभी स्रोत भारत सरकार के हाथों में थे। इस तथ्य से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रांत अपनी निधियों से अंशदान नहीं देते थे अपितु भारत सरकार अपने करों से होने वाली आय प्रांतों में बांटती थी। इसके अलावा कोई दूसरी स्थिति नहीं हो सकती। याद रहे कि 1833 के अधिनियम के अनुसार शांति, व्यवस्था और सुशासन जैसी सेवाओं के लिए वित्तीय जिम्मेदारी भारत सरकार के कंधों पर थी जबकि कुछ सेवाओं का संचालन सीधे भारत सरकार

---

1. स्थानीय सरकारों को आबंटित राजस्व के सम्बंध में कैप्टन प्रेटीमैन, संसद सदस्य द्वारा इंग्लैंड में स्थानीय कराधान सम्बंधी रायल आयोग के समक्ष अपने साक्ष्य में की गई टिप्पणी उद्धृत की जा सकती है। उन्होंने कहा था ''मेरा विचार है कि यह कहना असंभव है कि आप एक साम्राज्यिक कराधान के विशेष स्रोत से अंशदान देते हैं। एक आदमी तालाब में पानी की बाल्टी फेंक सकता है और फिर तालाब से एक बाल्टी पानी निकाल कर कह सकता है कि उसने पानी की वही बाल्टी निकाली है। कर साम्राज्यिक राजकोष में दिये जाते हैं और अंशदान साम्राज्यिक राजकोष से किया जाता है। अतः यह कहना कि आपने वही राशि निकाली है जो आप ने एक विशेष कर के रूप में जमा की थी तो मैं समझता हूं कि यह एक भ्रामक कथन है–1898 का मामला 8763, साक्ष्य का कार्यवाही सारांश, खंड 1, प्रश्न 9873

द्वारा किया जाता था। रूस को छोड़कर शेष यूरोप महाद्वीप के बराबर विशाल देश के कामकाज की सीधे देख-रेख करना एक केन्द्रीय ब्यूरो के लिए असंभव होने के कारण साम्राज्यिक सरकार की बहुत-सी सेवाएं प्रांतीय सरकार के पर्यवेक्षण में चलाये जाने के लिए प्रांतीय सरकार पर छोड़ दी गई थीं। जैसा कि पहले टिप्पणी की गई है। इस स्थिति की कमजोरी यह तथ्य था कि प्रशासनिक और वित्तीय जिम्मेदारी एक ही प्राधिकरण की नहीं थी जैसा कि होना चाहिए था। दूसरी ओर, हर वित्तीय वर्ष के अन्त में सभी प्रांतीय सरकारें जिन सेवाओं का संचालन करती थीं उन पर होने वाले व्यय के अनुमान भारत सरकार के वित्त विभाग को भेजती थीं और मांगी गई राशि देने न देने, उसमें कटौती करने का दायित्व भारत सरकार पर छोड़ दिया जाता था। धन जुटाने की जिम्मेदारी न होने के कारण, प्रांतीय सरकारें अत्यधिक धनराशि की मांग करती थीं और पूरा ब्यौरा उपलब्ध न होने के कारण भारत सरकार के लिए प्रत्येक सेवा के लिए वास्तव में आवश्यक धनराशि का अनुमान लगाना कठिन हो जाता था। इस बात के भय से कि भेजे गये आंकड़ों पर जरूरत से कम या ज्यादा विश्वास करने से वह अपनी जिम्मेदारी निभाने में विफल न हो जाए, भारत सरकार को प्रांतों द्वारा मांगी गई राशि स्वीकार करनी पड़ती थी। जैसा कि हमने देखा है, 1859 के संकट का यही कारण था। इस विपत्ति से बचने के लिए प्रांतीय वित्त व्यवस्था की स्थापना की गई जिसके अन्तर्गत भारत सरकार अपनी निधियों का वितरण प्रांतों में करती थी और प्रांत अपनी ओर से भारत सरकार के लिए उस राशि से कुछ सेवाओं का संचालन करते थे जो उन्हें इस प्रयोजनार्थ भारत सरकार से मिलती थी।

वित्तीय सम्बंधों का यह स्वरूप होने के कारण अनौचित्य के आधार पर प्रांतीय वित्तव्यवस्था की आलोचना करना अनुपयुक्त है। अंशदान तो योग्यता के अनुसार किये जाने चाहिए लेकिन स्रोतों का वितरण आवश्यकताओं के आधार पर होना चाहिए ताकि वे न्यायसंगत हों। यदि प्रांतीय वित्तव्यवस्था की अनौचित्य के आधार पर आलोचना की जाती है तो यह दिखाना भी आवश्यक है कि वितरण अनुचित है। इस संदर्भ में संभवतया यह भी दिखाना होगा कि विभिन्न प्रांतों को अपनी जनसंख्या या क्षेत्र के अनुसार अलग-अलग धनराशि मिली। लेकिन यह याद रखना होगा कि राशि का वितरण मुख्य रूप से प्रांतों में नहीं अपितु विभिन्न विभागों में किया गया चाहे वे भारत सरकार के नियंत्रण में थे या प्रांतीय सरकारों के नियंत्रण में थे। इससे विभाजन की निष्पक्षता में काफी अन्तर हो सकता है क्योंकि विभिन्न प्रशासनिक राज्यतंत्रों के क्षेत्राधिकार में आने वाले क्षेत्रों की आवश्यकताएं अलग-अलग हो सकती हैं और यह आवश्यक नहीं है कि उनके अन्तर्गत आने वाले विभागों की आवश्यकताएं भी वैसे ही अलग-अलग हों। भारत सरकार द्वारा निधियों का वितरण प्रत्येक प्रांत को इसकी आवश्यकताओं के अनुसार किया

जाता था अपितु प्रत्येक विभाग की इसकी आवश्यकताओं के अनुसार सिद्धांत के आधार पर किया जाता था। अतः किसी अन्य सिद्धांत के आधार पर इस व्यवस्था की निष्पक्षता की आलोचना करना बेकार है।

इस प्रकार व्याख्या करने पर कहा जा सकता है कि प्रांतीय वित्तव्यवस्था विभागीय वित्तव्यवस्था जैसी थी जो विकेन्द्रीयकृत वित्तव्यवस्था अथवा संघीय वित्तव्यवस्था से बिल्कुल भिन्न थी। मामले के तथ्यों के आधार पर कहा जा सकता है कि यह विचार सही विचार है। विभागीय वित्त व्यवस्था में राज्य के प्रत्येक विभाग के लिए बजट में कुछ अनुदान विभाग अनुदान की राशि के बराबर राजकोष से राशि निकाल सकता है। इसी प्रकार प्रांतीय सरकारें जिन विभागों का संचालन करती हैं उनके लिए उन्हें कुछ समेकित अनुदान निर्धारित किया जाता है और तत्पश्चात् दिया जाता है। उन विभागों पर होने वाले व्यय को पूरा करने के लिए प्रांतीय सरकारें अनुदान की राशि के बराबर साम्राज्यिक राजकोष से धनराशि निकालती हैं। प्रांतीय वित्तव्यवस्था होते हुए भी इसमें प्रांतीय नाम की कोई चीज नहीं है। 1870 के पश्चात् भी, जब प्रांतीय वित्तव्यवस्था अस्तित्व में आई, राजस्व सेवा में, सिविल सेवाएं उतनी ही निश्चित रूप से साम्राज्यिक थी जितनी कि वे 1870 से पूर्व थीं जब प्रांतीय वित्त-व्यवस्था नाम की कोई चीज नहीं थी। अतः यह कहना अतिशयोक्ति नहीं है कि प्रांतीय वित्तव्यवस्था एक स्वतंत्र वित्तवयवस्था नहीं थी और न ही इसमें कर लगाने तथा पैसा खर्च करने की स्वतंत्रता थी। यह केवल लेखे रखने की एक व्यवस्था थी जिसमें धन भारत सरकार की अनुमति से ही निकाला और जमा किया जा सकता था।

इसका अर्थ यह हुआ कि प्रांतीय वित्तव्यवस्था की योजना आरम्भ करने के पश्चात् भी केन्द्रीय और प्रांतीय सरकारों के बीच वित्तीय सम्बंधों के स्वरूप में कोई परिवर्तन नहीं आया। स्रोतों के संकलन और आय के वितरण की व्यवस्था कोई नई बात नहीं थी बल्कि यह 1833 से चली आ रही थी। यह उस समय स्थापित साम्राज्यिक व्यवस्था का वित्तीय प्रतिरूप थी। यह इसलिए था क्योंकि प्रांतीय वित्तव्यवस्था होने के बावजूद प्रांतीय सरकारों के सम्बंधों में कोई परिवर्तन नहीं आया और वे अलग शक्तियां होने के बजाए पहले की भांति भारत सरकार के विभाग बनी रहीं। ऐसी निष्कर्ष को कुछ आश्चर्यजनक माना जाना अवश्यंभावी है। लेकिन यह निःसंदेह सही है और ब्रिटिश भारत में प्रांतीय और केन्द्रीय सरकारों के बीच कानूनी सम्बंधों को ध्यान में रखते हुए कोई अन्य निष्कर्ष सम्भव नहीं है। लेकिन यदि प्रांतीय अर्थव्यवस्था का अर्थ लेखा-जोखा ही रखना है तो क्या इसके परिणामस्वरूप साम्राज्यिक व्यवस्था के वित्तीय संगठन में कोई परिवर्तन नहीं हुए? इस बात से इंकार करना उचित नहीं होगा कि प्रांतीय वित्तव्यवस्था की योजना आरम्भ करने के कारण साम्राज्यिक व्यवस्था के वित्तीय

संगठन में कोई परिवर्तन हुआ, और यह कहना भी समान रूप से निरर्थक होगा कि इसके परिणामस्वरूप कोई मूलभूत परिवर्तन हुआ। तथ्य यह है कि प्रांतीय वित्तव्यवस्था आरम्भ करने के परिणामस्वरूप केवल दो उल्लेखनीय परिवर्तन हुए:–

(1) 1870 से पूर्व सभी सेवाओं की बकाया राशि वित्तीय वर्ष के अन्त में भारत सरकार के पास चली जाती थी। 1870 के पश्चात् प्रांतीय सरकार को विभिन्न सेवाओं के लिए दी गई राशि में से खर्च न की गई बकाया राशि प्रांतीय सरकारों के पास रहती थी और आगामी वर्ष के लिए उनके संसाधनों का अंग बन जाती थी।

(2) 1870 से पूर्व सभी सेवाओं से संबंधित बजट प्राक्कलनों की मंजूरी भारत सरकार से लेनी होती थी और प्रांत भारत सरकार से पहले मंजूरी लिये बिना आवश्यक होने पर भी उस वर्ष के विभिन्न अनुदानों में कोई पुनर्विनियोग नहीं कर सकते थे। 1870 के पश्चात् प्रांतों की प्रबंध व्यवस्था चलाने के लिए दी गई विभिन्न सेवाओं पर अपनी इच्छानुसार किसी तरीके से धन खर्च करने की प्रांतों को अधिक स्वतंत्रता मिल गई लेकिन शर्त यह थी कि उनका कुल व्यय साम्राज्यिक राजकोष में उनके नाम जमा धनराशि से अधिक नहीं होना चाहिए।[1] लेकिन नियमों के अनुसार उनके लिये सभी सेवाओं को सुचारू रूप से चलाना आवश्यक था। इसी प्रकार 1870 के पश्चात् सरकारों को अनुदानों में पुनर्विनियोग करने की भी पूरी छूट मिल गई जबकि पहले वे ऐसा नहीं कर सकती

---

1. इसमें संदेह है कि प्रांतीय सरकारें विभिन्न सेवाओं के लिए प्राप्त अनुदानों के वितरण में कोई बड़ा परिवर्तन कर सकती थीं। मद्रास के राज्यपाल, स्वर्गीय लार्ड होबर्ट इस प्रस्ताव पर कि प्रांतीय निधियों से सड़कों के लिए दिया गया अनुदान बन्द कर दिया जाए और यह राशि शिक्षा पर खर्च की जाए। राज्य सचिव ने राजस्व विभाग के दिनांक 10 दिसम्बर, 1874 के पत्र संख्या 30 में यह कहा कि "मैं नहीं समझता कि ऐसा करना राजस्व के तथाकथित प्रांतीय प्रशासन के सिद्धांतों के अनुरूप होगा। वास्तव में मैं इस पक्ष में नहीं हूं कि व्यवस्था आरम्भ करने के समय विभिन्न सेवाओं का जो अनुपात था उन पर सदैव उसी अनुपात में व्यय किया जाए। तथापि मैं श्री सिम की इस बात से सहमत हूं कि निहित अर्थों में यह वायदा किया गया था कि सभी विभागों को पूरी तरह सुचारु रूप से तथा सत्यनिष्ठा से बनाए रखा जाएगा और किसी विभाग को पूरी तरह बलि का बकरा बनाकर दूसरे किसी विभाग या विभागों को लाभ नहीं पहुंचाया जाएगा। विचाराधीन नई वित्तव्यवस्था पर दोनों विभिन्न भारतीय सरकारों तथा स्वदेशी (होम गवर्नमैंट) सरकार द्वारा उस समय पूरी तरह चर्चा की गई थी। इस चर्चा के दौरान यह सुझाव कभी नहीं दिया गया कि ऐसा परिवर्तन भी किया जा सकता है कि भारत के कुछ भागों में उसके परिणामस्वरूप सड़कों का निर्माण बन्द हो सकता है। यदि ऐसी संभावना होती तो मुझे संदेह है कि ऐसा परिवर्तन किया गया होता।

थीं और इसके लिए भारत सरकार की मंजूरी लेने की आवश्यकता नहीं रही बशर्तें कि कुल व्यय उस वर्ष के बजट में निर्धारित राशि से अधिक न हो।

स्थिति को स्पष्ट करने के प्रयोजनार्थ प्रांतीय सरकारों तथा भारत सरकार के बीच वित्तीय सम्बन्धों की तुलना हिन्दू संयुक्त परिवार प्रणाली से की जा सकती है जिसमें भारत सरकार परिवार की मुखिया थी। 1870 से पूर्व दोनों के प्राय: बराबर अधिकार थे। हिन्दुओं की पारिवारिक सम्पत्ति की तरह भारत के राजस्व का केन्द्रीय तथा प्रांतीय सरकारों के सभी विभागों द्वारा संयुक्त रूप से उपयोग किया जाता था और किसी के लिए कोई सीमा निर्धारित नहीं की गई थी। 1870 के पश्चात् केवल यह परिवर्तन किया गया कि राजस्व सहभोग्य नहीं रहे और सामूहिक सम्पत्ति में प्रत्येक की आवश्यकताओं के अनुसार प्रत्येक का हिस्सा निर्धारित किया गया। संयुक्त परिवार प्रणाली तो बनी रही यद्यपि परिवार के मुखिया अर्थात् भारत सरकार द्वारा अलग-अलग खाते खोले गये ताकि कोई सदस्य अपने नाम जमा राशि से अधिक राशि न निकाल सके।

क्या इस प्रयोजनार्थ इतना प्रयास करना वाजिब था? प्रांतीय वित्तव्यवस्था के जो परिणाम रहे उनके बारे में तरह-तरह के विचार व्यक्त किये गये हैं। लेकिन यदि हम पूर्ववर्ती बातों के आधार पर, जिनके कारण 1870 में यह व्यवस्था अस्तित्व में आई, विचार करें, जैसा कि हमें करना चाहिए तो यह नहीं कहा जा सकता कि आशाएं किसी तरह पूरी नहीं हुई। कोई प्रतिकूल टिप्पणी तभी की गई जब प्रांतीय वित्तव्यवस्था के स्वरूप को ठीक तरह न समझते हुए आलोचकों ने ऐसे परिणाम प्राप्त करने का प्रयास किया जो इसके प्रवर्तकों ने कभी सोचे भी नहीं थे। लेकिन यदि हम इन गलतफहमियों को दूर करें और यह तथ्य न भूलें कि 1870 में प्रांतीय सरकारें स्वतंत्रता चाहती थीं और भारत सरकार स्थायित्व चाहती थी तो कोई भी यह नहीं कह सकता कि साम्राज्यवाद और संघवाद के बीच यह समझौता करने का प्रयास बेकार गया।

प्रांतीय सरकारों को इससे कितनी स्वतंत्रता मिली, यह बात यह महसूस करने पर ही समझी जा सकती है कि 1870 से पूर्व बंगाल का गवर्नर-

''सरकारी कर्मचारियों के भत्ते में कोई परिवर्तन नहीं कर सकता था……किसी नये स्कूल की स्थापना नहीं कर सकता था अथवा एक दरोगा के वेतन में एक रुपये की भी वृद्धि नहीं कर सकता था।''[1]

---

1. *कलकत्ता रिव्यू,* संस्करण 3, पृष्ठ 169

न ही बंबई का गवर्नर भारत की काउंसिल की अनुमति के बिना कोई ताला बनवा सकता था।[1] इससे जो काफी स्थायित्व आया उसे भी तब तक पूरी तरह महसूस नहीं किया जा सकता जब तक इस बात का ध्यान नहीं रखा जाता कि 1870 से पूर्व भारत सरकार के संसाधन पर्याप्त न होने पर कूड़ादान खरीदने से लेकर जनता की शिक्षा आदि के लिए तरह-तरह की विस्मयकारी मांगें की जाती थीं तो इनको स्वीकार करने अथवा अस्वीकार करने में उन्हें कितनी उलझन होती थी। प्रांतीय सरकारों को अपनी छोटी-छोटी जरूरतों को पूरा करने के लिए भारत सरकार पर निर्भर होने के कारण जो विलम्ब होता था तथा इनकी मंजूरी लेने में उनका जो अपमान होता था उससे वे बच गईं। दूसरी ओर साम्राज्यिक सरकार छोटी-छोटी मांगों पर विचार करने तथा उन्हें स्वीकार या अस्वीकार करने की परेशानी से बच गई क्योंकि साम्राज्यिक सरकार को हमेशा यह आशंका रहती थी कि कोई मांग स्वीकार या अस्वीकार करने से अन्याय न हो जाए। इस व्यवस्था से प्रांतों को आजादी तथा भारत सरकार को स्थायित्व ही नहीं मिला अपितु लापरवाही और फिजूलखर्ची, जो साम्राज्यिक व्यवस्था का अभिशाप बन गए थे, का स्थान उत्तरदायित्व और मितव्ययता ने ले लिया क्योंकि धनराशि के प्रयोग के मामले में प्रांतीय सरकारों पर प्रतिबंध लगाने के साथ-साथ भारत सरकार ने अपने ऊपर भी प्रतिबंध लगा लिये। यह सही है कि प्रांतीय वित्त व्यवस्था के आलोचक इन परिणामों से सन्तुष्ट नहीं हुए। इससे अन्य दिशाओं में अधिक लाभ होने की आशा थी लेकिन वह तभी संभव हो सकता था जब प्रांतीय वित्तव्यवस्था संगठन की दृष्टि से एक स्वतंत्र व्यवस्था होती। जब तक प्रांतीय वित्तव्यवस्था साम्राज्यिक वित्तव्यवस्था का एक अभिन्न अंग थी तब तक इस से बेहतर परिणामों की अपेक्षा नहीं की जा सकती थी और इसके जो परिणाम रहे हैं वे किसी तरह नगण्य या तुच्छ नहीं हैं।

तथापि प्रश्न यह रहता है कि जब प्रांतीय वित्तव्यवस्था के स्वरूप में परिवर्तन करना संभव नहीं था तो क्या प्रांतीय सरकारों द्वारा अपनी जिम्मेदारियों के सम्यक निर्वहन में किसी तरह हस्तक्षेप न करके भारत सरकार द्वारा प्रांतीय वित्तव्यवस्था पर लगाई गई सीमाओं को उदार बनाकर इसके कार्यक्षेत्र का विस्तार नहीं किया जा सकता था? प्रश्न के इस पहलू पर अगले अध्याय में विचार किया जाएगा।

---

1. ईस्ट इंडिया कम्पनी के मामलों पर समिति की रिपोर्ट, 1852, खंड 10

9

प्रांतीय वित्तव्यवस्था का विस्तार

यह शिकायत का मामला बनाया जाता था कि प्रांतीय वित्त की पद्धति न्यायसंगत नहीं थी, इसके अंतर्गत भारत सरकार ने वित्तीय समझौते के प्रत्येक संशोधन में प्रांतों के प्रबंध के लिए दिए गए राजस्व में वृद्धियां अनिवार्यत: सम्मिलित की गईं जो या तो केन्द्रीय निधि की आवश्यकताओं को पूरा करने के बहाने अपने लाभ के लिए थीं अथवा ऐसे प्रांतों के लाभ के लिए थीं। पर अपने संसाधनों के सुधारने की चिंता न करके अपनी ही निष्क्रियता द्वारा प्राप्त की थीं। प्रांतीय वित्त की प्रारंभिक अवधि में इस शिकायत में काफी सत्यता थी। भारत सरकार ने इन निधियों के संरक्षक होने के नाते प्रांतीय सेवाओं की अपेक्षा साम्राज्यवादी सेवाओं के बारे में पर्याप्त विचार किया। प्रांतीय वित्त की प्रारंभिक अवधि में निधियों के वितरण में प्रचलित विचार[1] यह नहीं था कि समाप्त होने वाले समझौते के अंतर्गत कितना राजस्व प्रांतीय सरकारों द्वारा नियंत्रित व्यय के शीर्षों पर उपयोगी ढंग से व्यय किया जाता था परंतु कितना सामान्य राजस्व अपने दायित्वों के अनुरूप और समझौते के दौरान अपने संसाधनों की मांगों की वृद्धि के संबंध में भारत सरकार प्रांतीय सरकारों को अधिक अवधि के लिए सौंप सकी ताकि वे अपने प्रशासन को चलाने के लिए जो कुछ भी अनिवार्य व्यय हों उसकी पूर्ति कर सकें। भारत सरकार की यह प्रवृत्ति उस अवधि के वित्तीय अभाव के कारण न्यायसंगत थी और जैसे ही वित्तीय स्थिति सरल हुई इसमें परिवर्तन आ गया। अत: बाद की अवधि में प्रांतीय और केन्द्रीय सरकारों के बीच राजस्व का वितरण किया गया परन्तु गंभीर आपात स्थिति में अपवाद रहा। इस वितरण का प्रत्यक्ष संदर्भ केन्द्रीय सरकार की आवश्यकताओं से संबंध नहीं था परन्तु ऐसी पूंजी से था जो प्रत्येक प्रांत संगत रूप से यह दावा कर सकता था कि इसे उसकी प्रशासनाधीन सेवाओं पर व्यय किया जाए। समझौते को अंतिम रूप देने के लिए पहला कदम यह उठाया गया कि प्रांत की आवश्यकताओं को समझा गया और उनकी पूर्ति के लिए राजस्व दिया गया।

---

1. वित्त विभाग का संकल्प, संख्या 458, दिनांक 28 जनवरी, 1881

यह प्रांत की आय का शेष भाग ही है जो साम्राज्यिक खजाने में जमा होता था।

केन्द्रीय और प्रांतीय सरकारों की आवश्यकताओं की प्रतियोगिता पर बल दिए जाने के कारण निधियों के अनुचित वितरण की शिकायतें बंद हो गईं तथा विपरीत संशोधन का कोई भी भय नहीं रहा जब समझौतों को स्थाई घोषित कर दिया गया। फिर भी प्रांतीय वित्त की पद्धति के संबंध में एक अन्य मुख्य शिकायत बनी रही। अर्थात् उस पर आरोपित सीमाओं ने प्रांतीय सरकार को नगण्य स्थिति में ला दिया तथा उसे आवंटित क्षेत्र तक ही अपने कार्यकलाप को सीमित करना पड़ा।

यह कहा गया है कि यदि प्रांतीय वित्त की पद्धति का इस सहमति से शुभारंभ होता जिसके बारे में भारत सरकार ने प्रांतों को बताया था कि वह यह स्वीकार करें जो हम देने के लिए समर्थ हैं तथा शेष राशि के लिए कतिपय कराधान की शक्तियां स्वीकार करें और अपने आप ही करों द्वारा वांछनीय राशि जमा करें, ...क्योंकि ऐसे भी विषय हैं जिन्हें स्थानीय रूप से कहीं अधिक अच्छे ढंग से सुलझाया जा सकता है जबकि साम्राज्यिक कराधान से ऐसा नहीं किया जा सकता।[1]

कोई कारण नहीं कि प्रांतों को कर लगाने की स्वतंत्रता न दी जाती। फिर भी कुछ संसाधन प्रांतों को दिए गए होते तो उसमें क्या औचित्य था कि स्थानीय उपयोगिता के प्रयोजनों को प्रोन्नत करने के लिए ऋण लेने की अनुमति नहीं दी जाती। उस प्रतिबंध का विशेष विरोध किया गया क्योंकि यह बताया गया कि भारत में सबसे विनम्र स्थानीय प्राधिकरण को ऋण लेने की छूट है ताकि वह अपने क्षेत्र में सुधार कर सके जबकि इतने महत्त्वपूर्ण राज्य क्षेत्र यथा प्रांतीय सरकार को ऐसा उत्तरदायित्व वहन करने के लिए अयोग्य ठहराया गया। वास्तव में यह महसूस किया गया कि वह सबसे त्रुटिपूर्ण प्रतिबंध है, क्योंकि इसके अंतर्गत प्रांतीय सरकार को अपने लिए ऋण हेतु बंधक रखने से वंचित कर दिया गया जो अपने अधीन अन्य स्थानीय विभागों को ऋण के लिए भारत सरकार जमानत के रूप में पर्याप्त ऋण ले सकती थी।

फिर इसमें क्या औचित्य था कि प्रांतीय सरकारों को अपने कर्मचारियों तथा प्रतिष्ठानों के मामले में व्यय करने की शक्तियों को सीमित कर दिया गया? यदि कुछ सेवाओं का प्रशासन प्रांतीय सरकारों को सौंप दिया गया तो उन्हें नए पदों के सृजन अथवा पुरानी नियुक्तियों के उन्मूलन अथवा अपने विभागों की स्थापनाओं को पुनर्गठित करने के मामले में क्यों सीमित कर दिया गया? यदि प्रांतीय वित्त की पद्धति के अधीन प्रांत उन सेवाओं के लिए उत्तरदायी थे जिनका उन्होंने प्रबंध

1. वित्त विभाग का संकल्प 27, दिनांक 18 मई, 1912

किया था तो उन्हें ऐसी एजेंसियों में आवश्यक परिवर्तन करने के लिए शक्तियां प्रदान करने हेतु विश्वासपात्र क्यों नहीं समझा गया जो उन सेवाओं का प्रशासन करती थीं?

इसके अलावा यह पूछा गया कि प्रांतीय बजट को तैयार करने तथा उसे कार्यान्वित करने के लिए सीमित रखने का क्या औचित्य था? यदि प्रत्येक प्रांत के लिए समस्त भारत के साम्राज्यिक बजट में से अलग-अलग बजट बनाए जाने थे तो प्रांतों से यह मांग क्यों की गई कि वे अपने बजट भारत सरकार को प्रस्तुत करें? इस बारे में केवल सूचना देना तुलनात्मक रूप से साधारण मामला था। परन्तु भारत सरकार ने उनके अनुमानों को बदल देने का दावा क्यों किया तथा उन्हें यह बात मानने के लिए बाध्य किया कि वे भारत सरकार द्वारा निर्धारित अनुदानों को स्वीकार करें? प्रांतीय बजट की इस प्रकार की छानबीन प्रांतीय सरकारों पर किसी नीति को अपनाने का रूप था। यदि ऐसा था तो उन प्रांतों को पहल करने और स्वतंत्रता की क्या गुंजाइश रह गई थी जिनका कि प्रांतीय सरकारों को प्रोन्नत करने तथा स्थाई समझौतों को आश्वस्त करने का प्रमुख उद्देश्य था, फिर भी प्रांतीय सरकार को पूरक अनुदान के लिए भारत सरकार से निवेदन करने की क्यों आवश्यकता हुई जबकि प्रांतीय सरकार को जहां कहीं भी अनुदानों से अधिक राशि की आवश्यकता होती और उसे पुनर्विनियोग से पूरा नहीं किया जा सकता था और जबकि उसके पास अतिरिक्त मांगों को पूरा करने के लिए पर्याप्त राशि थी।

ऐसे प्रतिबंधों के लिए जिनसे प्रांतीय सरकारों के लिए बाधा उत्पन्न हुई और प्रांतीय वित्त के कार्यक्षेत्र को सीमित किया भारत सरकार के पास अनेक बहाने थे।[1] राजस्व के प्रतिबंधों के मामले में इस बात पर जोर दिया गया कि भारत सरकार के राजस्व संवैधानिक थे और उनके समुचित निपटान के लिए भारत सचिव (सेक्रेटरी ऑफ स्टेट) तथा संसद उत्तरदायी थे। यदि ऐसी बात थी तो यह उचित था कि भारत सरकार को यह चाहिए कि प्रांतों को सौंपे गए स्रोत प्राधिकृत अनुदानों अथवा स्वीकृत सेवाओं पर हस्तांतरित नहीं किए जाने चाहिए। इसके अलावा सभी सेवाओं के लिए उत्तरदायी होने के कारण इसने इस बात का अनुसरण किया कि भारत सरकार को अपनी स्थिति को कमजोर नहीं करना चाहिए था जहां तक देश के संसाधनों को कर निर्धारण में विभाजन अथवा शक्तियों को लेने की प्रक्रिया द्वारा प्रबंध करने का संबंध था। भारत में कराधान का क्षेत्र काफी सीमित था। प्रतियोगी प्राधिकार द्वारा अंधाधुध कर लगाने से साम्राज्यिक करों में वृद्धि से या तो असंतोष उभरेगा अथवा साम्राज्यिक कराधान के

---

1. इस सबंध में देखिए जे.एस. मेस्टन का साक्ष्य जो विकेन्द्रीयकरण पर रायल कमीशन के समक्ष प्रस्तुत किया गया। *मिट ऑफ एविड,* खंड 10, क्यू. 44807-45336

क्षेत्र में कटौती करनी पड़ेगी।[1] भारत सरकार ने अपने हाथ में ऋण लेने की शक्तियों को स्वयं में केन्द्रित किया जिसके अनुसार अखिल भारतीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अखिल भारतीय राजस्व को कानूनी तौर पर रहन रखना पड़ा। भारत सरकार प्रांतीय सरकार को उसकी अपनी आवश्यकताओं के लिए बंधक होने के निमित्त अपने राजस्व को काम में लाने की अनुमति नहीं दे सकीं। इसके अलावा यह आशंका[2] की गई कि यदि ऋण लेने की इस स्वतंत्रता की स्वीकृति दे दी गई तो अग्रिम रूप से राजस्व का रहन रखने का प्रलोभन असुविधाजनक रूप से शक्तिशाली हो सकता है तथा प्रांत का भावी प्रशासन वंचित रह सकता है क्योंकि पूर्व सरकार कतिपय महंगी महत्वाकांक्षाओं और अनुत्पादन परियोजनाओं को शुरू करने में शीघ्रता करती।

इसके अलावा यह बताया गया कि भारत में ऋण का बाजार इतना सीमित था जितना देश में कर निर्धारण की क्षमता। इसलिए यदि कई बाल्टियां एक ही कुएं से पानी खींचती हैं और सूखे की स्थिति में पानी की आपूर्ति कम हो जाती है तो स्पष्टतया कुएं का मुख्य स्वामी पानी निकालने का कार्य अपने हाथों में ले लेगा।[3]

कर्मचारियों और प्रतिष्ठानों के संबंध में खर्चे शक्तियों पर विशिष्ट प्रतिबंधों के मामले में भारत सरकार का बचाव यह था कि ये प्रतिबंध समरूपता और अर्थव्यवस्था के हित में आवश्यक थे। इस बात पर बल दिया गया कि यदि प्रत्येक प्रांत को यह स्वतंत्रता दी जाए कि वह उस लोक सेवा के पारिश्रमिक को नियमित करें जिसने प्रशासन का वास्तविक कार्य किया था तो इसका परिणाम शायद समान कार्य के लिए असमान वेतन देना होगा। इसके परिणामस्वरूप राज्य के कर्मचारियों में असंतोष फैलने का भय होगा जबकि राज्य के लिए यह वांछनीय था कि अच्छे प्रशासन के हित में इसको रोका जाए। इसके अलावा प्रांतों को अपने प्रतिष्ठानों में फेर बदल करने की पूर्ण स्वतंत्रता दे दी गई थी। इससे प्रांतों के आवर्ती व्यय में काफी वृद्धि हो जाएगी और फलस्वरूप प्रांतीय तथा साम्राज्यवादी वित्त के स्थायित्व में संकट की स्थिति पैदा हो जाएगी क्योंकि भारत सरकार अपने अंतिम प्रयास की दृष्टि से प्रांतीय सरकारों को बनाए रखने के लिए उत्तरदायी थी।

प्रांतीय बजट तैयार करने और उसे कार्यान्वित करने पर नियंत्रण के मामले में भारत सरकार ने इस बात पर जोर दिया कि उसकी जांच पड़ताल का इरादा यह नहीं

1. 1870 और 1879 के बीच में जब प्रांतों को स्थानीय कराधान में स्वतंत्रता थी तो सभी ने पहले ही से कराधान के अधिक भार का चयन किया था जैसे कि उनके कराधान के लिए भूमि।
2. *आर.सी.डी., मिट. ऑफ एविड,* खंड 10, क्यू. 45310
3. भारत संवैधानिक सुधारों की रिपोर्ट, सी.डी. 9109, 1918, पृष्ठ 64 इसके बाद इसे संयुक्त रिपोर्ट कहा जाएगा।

था कि अवांछनीय नीति[1] का नियंत्रण किया जाए, परन्तु यह अनिवार्य था क्योंकि इसके लिए तीन ऐसे महत्त्वपूर्ण बंधन थे जिनके द्वारा प्रांतीय बजट को भारत सरकार के बजट के साथ बांधा जा सके। वे बंधन इस प्रकार थे :– (1) प्रांतीय सरकारों की आय और व्यय को भारत सरकार के बजट तथा, वार्षिक लेखाओं को सम्मिलित कर उसका अभिन्न अंग बनाना (2) राजस्व और व्यय के अलग–अलग शीर्षों की पद्धति और (3) केन्द्रीय और प्रांतीय सरकारों के लेन–देन के लिए समेकित अर्थोपाय के रूप में एक सामान्य कोष। परस्पर संबंध की प्रथम दो बातों की आवश्यकता यह थी कि भारत सरकार को प्रांतीय सरकारों के बजट के अनुमानों की जांच करनी चाहिए। इस बात पर जोर[2] दिया गया कि स्थानीय सरकारों द्वारा अपना व्यय अधिक दर्शाने तथा अपने राजस्व को कम दर्शाने को ध्यान में रखते हुए इनमें यथोचित परिवर्तन करने की शक्ति प्राप्त होनी चाहिए। वास्तविक आंकड़ों से व्यापक रूप से अलग अनुमानों को अनुपयुक्त वित्त समझा गया और उन्हें कोष की कार्यविधि के लिए व्यापक उपाय और साधन के रूप में माना गया। परंतु यदि यह प्रवृत्ति न भी होती तो भारत सरकार के लिए आवश्यक था कि प्रांतीय अनुमानों की जांच की जाए ताकि सम्मिलित लेखाओं में शुद्धता सुनिश्चित की जाए। शुद्धता के हितों के अलावा भारत सरकार को उनके अनुमानों की जांच द्वारा यह सुनिश्चित करना था कि प्रांत ने अपने बजट में व्यय में उन को तो सम्मिलित नहीं किया है जिनके लिए उचित प्रशासनिक अनुमति प्राप्त नहीं की गई है अथवा वर्ष में व्यय की जाने वाली ऐसी अनुमति समय के भीतर ही प्राप्त किए जाने की संभावना नहीं है अथवा बहुत अधिक व्यय दिखा कर प्रांत ने अपने शेष राजस्व को कम तो नहीं दर्शाया है और अपने वित्त की स्थिरता को भंग तो नहीं किया है। परंतु इससे भी सबसे बड़ा कारण यह था कि भारत सरकार को प्रांतीय अनुमानों की जांच क्यों करनी पड़ी जो इस तथ्य में निहित है कि कुछ लेखाओं के कुछ शीर्षों में भागीदारी की गई थी और केन्द्रीय बजट लाभ का है या घाटे का अंतिम परिणाम उसके अनुमान की शुद्धता पर आधारित था। इस बात पर बल दिया गया कि इस प्रकार भारत सरकार प्रांतीय बजट में प्रत्यक्ष रूप से रुचि रखती थी तथा उसने गंभीर रूप से अव्यवस्थित की गई अपनी बजट पद्धति को उद्भासित किए बिना उसकी जांच करने का अधिकार नहीं छोड़ा था। पारस्परिक संबंध की तीसरी बात के लिए यह आवश्यकता थी कि प्रांतीय सरकारें भारत सरकार से अंतिम रूप में निर्धारित अनुदानों के भीतर ही कार्य करें। प्रांतीय सरकारों को इस स्वतंत्रता की अनुमति दी गई थी कि वे अनुदानों से

---

1. *आर.सी.डी., मिट. ऑफ एविड,* खंड 10, क्यू. 44981
2. *आर.सी.डी. मिट. ऑफ एविड,* खंड 10, क्यू. 44863

अधिक राशि आबंटित कर सकते हैं क्योंकि उनके पास काफी शेष थे तथा यह बात साम्राज्यवादी सरकार के उत्तरदायित्व के प्रति असंगत होती[1] ताकि समग्र देश के संपूर्ण प्रशासन के लिए उपाय और साधन उपलब्ध किए जाते। यह बताया गया कि प्रांतीय शेष एक अलग शेष नहीं था जिसे अलग से प्रांतीय कोषागार में बंद कर दिया जाए। यह सामान्य शेष का ही भाग था जिसे भारत सरकार प्रतिदिन काम में लाती थी। यदि बजट में अप्रत्याशित मांग यकायक की जाती तो वह मांग इन्हीं शेष राशियों पर आधारित होती जैसा कि प्रांतीय सरकारों के मामले में हुआ जो अपने बजट अनुदानों से कहीं अधिक आवंटन कर लेते थे। इससे लेन-देन के उपाय साधन में बाधा पड़ती है तथा सरकार भी रोकड़ की कमी के कारण दिवालिया हो जाती।

प्रांतीय सरकारों पर प्रतिबंधों के ये रक्षोपाय युक्तिसंगत थे और निर्णायक हो सकते थे यदि प्रशासन की केन्द्रीय पद्धति अच्छी सरकार के उद्देश्यों को संतोषजनक बना पाती क्योंकि उनके पक्ष में सुरक्षा के उपाय किए गए थे। यह तर्क करना अनुचित नहीं था क्योंकि यह प्रांतीय सरकारों[2] द्वारा किया गया था कि सभी आधुनिक प्रवृत्तियां सरकार के उन स्वरूपों की दिशा में गतिशील थीं और सरकार ने सबसे अधिक शक्तियां लगा दी थीं ताकि प्रशासकीय मापदंड को कम किया जा सके (अर्थात् शीघ्र प्रभावित होने वाली जनसंख्या के सेक्शन के यथा संभव निकट) जैसी कि सरलता से व्यवस्था की जा सकी। यह न्यायसंगत है कि ऐसी शक्तियों को केन्द्रीय स्थान दिया जाए ताकि इनका उपयोग अन्यथा न हो सके। परन्तु समान रूप से शक्तियों को केन्द्रीय स्थान दिलाना असंगत है जहां केन्द्रीय नियंत्रण या समरूपता आवश्यक रूप से स्पष्ट नहीं है अथवा अव्यवहारिक है। केन्द्रीयकरण करने से सभी प्रगति अवरुद्ध हो जाती है सभी प्रकार की पहल पर अवरोध लग जाता है तथा स्थानीय प्राधिकारियों के उत्तरदायित्व की भावना अधिक क्षतिग्रस्त हो जाती है। इसके अलावा, केन्द्रीयकरण में लचीलेपन का गंभीर त्याग निहित होता है और निहित होना चाहिए क्योंकि यह प्रशासन की समान शाखा के प्रबंध करने के लिए आधा दर्जन अलग उपायों को व्यवहार में लाने के लिए केन्द्रीय विभाग से स्वाभाविक रूप से असहमत होते हैं और इसलिए नाना स्वरूपों को एक ही प्रकार में ढालना चाहते हैं इसके अलावा केन्द्रीयकरण अच्छी सरकार का प्रमुख सिद्धांत समझा जा सकता है अर्थात् जब प्रशासकीय कार्य से उस प्राधिकारी के पास पहुंचा जाता है जो इस कार्य के लिए पूर्णतया सक्षम है उस प्राधिकारी को यह कार्य अंतिम रूप से सम्पन्न करना चाहिए। यदि समान

---

1. *आर.सी.डी., मिट. ऑफ एविड,* खंड 10, क्यू. 44865
2. इस संबंध में विकेन्द्रीयकरण पर बम्बई सरकार द्वारा जारी किए गए अधिक तीखे ज्ञापन को देखें– *आर. सी.डी., मिट. ऑफ एविड,* खंड 8, अनुबंध 11

रूप से सक्षम उच्च प्राधिकारी भी हो तो उसे कार्य सौंपने से सरकारी सोपान पद्धति के अनुसार निचले वर्ग के हाथों में शक्ति का हस्तांतरण सबसे अधिक सहायक होगा और केन्द्रीय विभाग में अधिक काम जमा न होगा। इस प्रकार केन्द्रीयकरण जब तक अधिकांशतया परिसीमित नहीं किया जाता इससे अक्षमता पैदा होगी। निश्चय ही यह समरूप राज्यों में भी होता और भारत जैसे देश में होता जहां यूरोप के समग्र महाद्वीप की अपेक्षा जाति, भाषा, धर्म, रीति-रिवाज और आर्थिक दशाओं में कहीं अधिक विषमताएं हैं। ऐसी परिस्थितियों में ऐसी बात होनी चाहिए जहां उच्च प्राधिकारी निम्न प्राधिकारी की अपेक्षा कम दक्ष हो सकता है क्योंकि वह किसी भी संभावना से सभी स्थानीय दशाओं का वांछनीय ज्ञान नहीं रख सकता। इसलिए यह स्पष्ट था कि समस्त भारत के लिए केन्द्रीय सरकार को ऐसा नहीं कहा जा सकता था कि उसे भारत के अलग-अलग प्रांतों में प्रचलित विभिन्न प्रकार की दशाओं का ज्ञान और अनुभव प्राप्त है। इसलिए प्रांतीय सरकारों की अपेक्षा केन्द्रीय सरकार आवश्यक रूप से ऐसी प्राधिकारी हो गई जो प्रांतीय प्रशासन के मामलों को निभाने में अपेक्षाकृत कम योग्य[1] थी। प्रांतीय सरकारों के सदस्यों को निचले स्तर का नहीं कहा जा सकता था तथा वे सामान्य रूप से केन्द्रीय सरकार के सदस्यों के बराबर योग्य थे जबकि वे ज्ञान की दृष्टि से अवश्य ही अधिक श्रेष्ठ थे।

इन तर्कों का भारत सरकार केवल यही उत्तर दे सकी कि उसने सभी शक्तियों को अपने हाथ में केन्द्रित कर लिया जिसके पीछे कोई सिद्धांत न था अपितु आवश्यकता थी। यह स्थिति उसके संवैधानिक दायित्वों से निश्चय ही उभरी, कानून ने निगरानी, मार्ग-दर्शन और नागरिक तथा सैन्य सरकार के नियंत्रण तथा देश के राजस्व की सुव्यवस्था तथा प्रबंधन पर बल दिया। इसलिए यह उन शक्तियों पर अपना नियंत्रण शिथिल नहीं कर सकी जो प्रांतीय सरकारों को दी गई थी। अलबत्ता यह संभव न था कि इस तर्क की शक्ति को नकारा जाए जब तक भारत सरकार संसद के प्रति एकाकी उत्तरदायी रही, यह विचार करना युक्तिसंगत था कि उसे उन सभी मामलों

1. इस संबंध में यह रोचक बात होगी यदि श्री ए.सी. लोगन द्वारा किए गए अर्ध-गंभीर सुझाव की ओर ध्यान आकर्षित किया जाए। इस सुझाव में श्री ए.सी. लोगन ने यह तर्क दिया कि यदि विकेन्द्रीयकरण प्रभावों नहीं हो सकता तो भारत सरकार के संविधान को पुनः स्वस्थ करने का एक वैकल्पिक उपाय यह है कि वर्तमान विभागों के स्थान पर विभिन्न स्थानीय क्षेत्रों के विभाग किए जा सकते हैं। जिनमें से प्रत्येक विभाग का अपना सचिव और सदस्य हो सकता है। इस प्रकार बंबई का विभाग होना चाहिए और इसके लिए उस प्रांत द्वारा नियुक्त सचिव तथा सदस्य होना चाहिए जो बंबई के सभी मामलों को निपटाए और इसी प्रकार की व्यवस्था अन्य (छः) प्रांतों में भी होनी चाहिए। इस प्रकार गवर्नर जनरल की देखरेख में प्रत्येक प्रांत का प्रशासन कलकत्ता से भी हो सकता है।
देखिए : *आर.सी.डी., मिट. ऑफ एविड,* खंड 8, 35531

में नियंत्रण प्राधिकारी होना चाहिए जो उस देश के प्रशासन से संबंधित हों परन्तु समान रूप से यह पूछना तर्कसंगत था कि केन्द्र और प्रांतीय सरकारों के बीच सौहार्द के हितों के लिए यह संभव नहीं होगा कि प्रांतों की वित्तीय शक्तियों के प्रतिबंधों को शिथिल किया जाता क्योंकि उनके द्वारा वे अपने उत्तरदायित्व को उचित रूप से निभाने के लिए परस्पर विरोधी नहीं होंगे। यह संभव था कि भारत सरकार की स्थिति को हानि पहुंचाए बिना परिस्थितियों की शिथिलता द्वारा प्रांतीय वित्तव्यवस्था का विस्तार किया जाए और इसके बारे में प्रांतीय सरकारों द्वारा दिए गए सुझावों के आगे दिए गए विश्लेषण से स्पष्ट है। ये सुझाव इस प्रकार थे :–

1. प्रांतीय राजस्व की सुरक्षा के लिए कराधान और ऋण लेने की शक्ति।
2. भारत सरकार द्वारा स्वीकृत शक्ति से अधिक सीमा तक कर्मचारियों और स्थापनाओं के व्यय को स्वीकृति प्रदान करने की शक्ति।
3. प्रांतीय अनुमानों को साम्राज्यवादी बजट और लेखाओं से अलग किया जाना।
4. राजस्व और व्यय के अलग–अलग शीर्षों की पद्धति का उन्मूलन तथा इसके स्थान पर उत्पादन से स्रोतों और अंशदान को अलग करने की पद्धति प्रतिस्थापित करना।
5. निर्दिष्ट राशि तक अपनी शेष राशियों से व्यय करने की शक्ति जिसके लिए भारत सरकार की पूर्व स्वीकृति की आवश्यकता नहीं है ताकि बजट अनुमानों से अधिक व्यय किया जा सके।

इन मांगों की स्वीकृति के लिए भारत सरकार के संवैधानिक उत्तरदायित्वों के दृष्टिकोण से क्या आपत्तियां थीं? स्पष्टतया भारत सरकार के लिए यह संभव था कि वह प्रांतीय कर निर्धारण तथा साम्राज्यवादी करों से असंबद्ध सबसे उपयुक्त कराधान के कतिपय स्रोतों को सुस्पष्ट कर देती। इसी प्रकार प्रांतीय सरकारों को यह अनुमति देना संभव था कि वे उनको सौंपे गए राजस्व की जमानत की एक सीमा तक ऋण ले सकें। भारत सरकार ने यह सुझाव दिया था कि प्रांतीय सरकारें इन शक्तियों का दुरुपयोग करेंगी तथा वे अपनी वित्तीय पद्धति की स्थिरता को क्षतिग्रस्त करेंगी अथवा असंतोष की भावना फैला देंगी। इस कथन से भारत सरकारर का यह विश्वास था कि प्रांतीय सरकारों को विधि समान राजनीतिक इकाइयां स्वीकार करने से ऐसा लगता था कि उनका प्रशासन ऐसे अक्षम प्रशासक करते हैं जो अपने दायित्वों के प्रति उदासीन हैं। दूसरी मांग अधिक सरलता से स्वीकार की जा सकती थी। यह ध्यान देने योग्य बात है कि देश की सिविल सर्विस राजस्व और सामान्य प्रशासन का कार्यभार संभालती है और इस देश सेवा को निम्न प्रकार विभाजित कर दिया गया था :–

1. इंडियन सिविल सर्विस की भर्ती इंग्लैंड में प्रतियोगिता की परीक्षा द्वारा की जाती है जिसमें भारत के देशी लोग, महामहिम की अन्य प्रजा के समान प्रतियोगिता में भाग ले सकते हैं, और
2. प्रांतीय और अधीनस्थ सिविल सेवाओं की भर्ती भारत में की जाती है और नियमानुसार यह प्रतियोगिता ऐसे व्यक्तियों के लिए खुली है जो इस देश के निवासी हैं इस देश में अधिकारी हैं। प्रत्येक प्रांत की अपनी अलग ''प्रांतीय'' और ''अधीनस्थ'' सेवाएं होती हैं। परन्तु जब वह दूसरे प्रकार की सेवाओं में भर्ती के लिए स्वतंत्र है वहां प्रथम प्रकार की नियुक्तियों के नियम भारत सरकार द्वारा निर्धारित किए जाते हैं। यदि ऐसी स्थिति है तो वह बात सार्थक होगी कि भारत सरकार जिसे नियुक्ति के लिए भर्ती करने की शक्ति है वेतन को नियमित करने की शक्ति भी रखेगी। इसमें कोई कारण नहीं हो सकता कि समान वेतन मान के पदों के वेतन सभी प्रांतों में क्यों न समान होने चाहिए, प्रांतों की आर्थिक स्थिति के अंतर के होते हुए ये समान भी नहीं हो सकते। स्थानीय सरकार स्थानीय व्यक्ति का आर्थिक मूल्य अधिक अच्छा समझती है तथा प्रांतीय और अधीनस्थ सेवाओं द्वारा आवृत सीमा तक की शक्तियों से विश्वसनीय मानती है। भारत सरकार ने यह सुझाव दिया है कि इस प्रकार की शक्तियों की स्वीकृति से किसी प्रांत के आवर्ती व्यय में काफी वृद्धि होगी। भारत सरकार के इस सुझाव को गंभीर रूप से कठोर कहा जाना चाहिए।

तीसरी सिफारिश भारत सरकार के उत्तरदायित्व को किसी भी विचार की दृष्टि से प्रभावित नहीं कर सकी। भारत सरकार ने केवल यह आपत्ति उठाई कि इस प्रकार का अलगाव बुद्धिसम्मत नहीं होगा। ऐसी साम्राज्यवादी सरकार के लेखाओं अथवा अनुमानों के प्रकाशन से जनता को गुमराह किया जाएगा तथा भारत सरकार की वित्तीय स्थिति का पूर्णतया अपूर्ण विचार प्रस्तुत होगा जबकि इनमें प्रांतीय सरकारों के लेखाओं को स्थान नहीं दिया गया है तथा इतने विशाल क्षेत्र में जोड़ी जाने वाली मदों को निकाल दिया गया है।[1] जब यह बात स्वीकार की जानी चाहिए यदि लेखाओं का ऐसा पृथक्करण जांच को बचा सका तथा प्रांतों द्वारा बजट निर्माण में बाद में बाधा डाल सका तो उसे ऐसा नहीं करना था कि प्रांतीय सरकारों की प्रशासकीय सुविधा से ऊपर लेखाओं के विद्यार्थी की तथाकथित सुविधा रखी जाती। इसके अलावा इस बात पर ध्यान दिया जाना चाहिए कि यह प्रस्ताव नवीन नहीं था। यह एक ऐसी प्रथा का पुनः स्थापना ही करना था जो 1871 और 1877 के बीच की अवधि में प्राप्त हुई। वित्तीय विकेन्द्रीयकरण की अवधि में प्रांतीय आंकड़े साम्राज्यवादी बजट में नहीं दर्शाए गए। महालेखाकार द्वारा निर्मित प्रांतीय बजट प्रांतीय सरकार द्वारा पारित किया

1. *आर.सी.डी., मिट. ऑफ एविड,* खंड 10, क्यू. 44866, 45179-180

गया तथा भारत सरकार के लिए इसके संदर्भ की आवश्यकता नहीं थी सिवाए इसके कि उसे सूचित करना था कि यह अनुमान उन राजस्व की सीमाओं में निहित हैं जो प्रांत को सौंपे गए हैं। इसलिए यह स्पष्ट है कि कोई भी संवैधानिक आपत्ति नहीं थी ताकि लेखाओं के पृथक्करण के लिए मांग को स्वीकृति दी जाए।

चौथी सिफारिश उसी वर्ग की थी जैसी कि तीसरी सिफारिश थी और इसमें भी यह नहीं कहा जा सका कि भारत सरकार द्वारा निर्धारित संवैधानिक उत्तरदायित्वों का कोई उल्लंघन निहित है। राजस्व के अलग-अलग शीर्षो के उन्मूलन से स्पष्टतया प्रांतों द्वारा बजट अनुमानों की तैयारी में भारत सरकार का हस्तक्षेप स्पष्टतया कम हो गया। इसी प्रकार व्यय के अलग-अलग शीर्षो के उन्मूलन से प्रांतों को सौंपे गए राजस्व को व्यय करने के मामले में अधिक स्वतंत्रता[1] प्रदान की गई। उस पद्धति के अंतर्गत प्रांतीय सरकार किसी विशेष सेवा पर अधिक व्यय नहीं कर सकती थी यदि वह अलग-अलग शीर्ष के अंतर्गत थी जब तक कि भारत सरकार उस सेवा के अधीन व्यय के आंकड़ों को बढ़ाने के लिए अपनी अनुमति न देती। यदि भारत सरकार ने अपने आंकड़ों को कम कर दिया तो प्रांतीय सरकार बलात अपने ही आंकड़ों को कम करने के लिए बाध्य थी। अलग-अलग शीर्षो की पद्धति के लिए उत्पत्ति से स्रोतों और योगदान के पृथक्करण की पद्धति के स्थानापन्न से स्पष्टतया प्रांतीय सरकारों को अधिक स्वाधीनता प्राप्त हुई जिसमें भारत सरकार का कोई दुष्परिणाम नहीं हुआ। भारत सरकार ने उस मांग का विरोध करने के लिए जो आपत्तियां कीं वे आश्वस्त करने से कहीं अलग थीं। इस बात पर जोर[2] दिया गया था कि प्रांतीय सरकारें पूर्ण पृथक्करण के लिए ऐसी रुचि नहीं ले सकती हैं जैसी कि उन्होंने उन राजस्वों के संबंध में रुचि ली थी जिन्हें अलग-अलग किया गया था परन्तु स्पष्टतया यह गलत विचार है कि प्रांतीय सरकार पर यह विश्वास नहीं किया गया कि किसी कर का दक्षतापूर्वक संचालन किया जाए जब तक कि उसके परिणाम में वित्तीय रुचि न हो। उस विचार से यह अनुमान लगाया गया कि राजस्व के एकत्र करने में व्यस्त लोग वस्तुतः यह जानते थे कि क्या यह साम्राज्यवादी अथवा प्रांतीय साख है। वास्तव में अंतिम साख किसी भी प्रकार राजस्व के संग्रह को प्रभावित नहीं कर सकी। और यदि यह विचार सत्य भी होता तो प्रत्येक सरकार उस कठिनाई को आसानी से सुलझा लेती जिनके पास अपने ही राजस्व एकत्र करने के लिए अपने कर्मचारी थे। किसी प्रकार द्वारा अपने कार्यों को संपन्न करने कराने के लिए किन्हीं अन्य एजेंसियों को काम पर लगाना स्पष्टतया जटिल और बेतुकी पद्धति है जैसी कि भारत में स्थिति रही है। यदि एजेंसियों का अलग-अलग होना स्रोतों के अलग-अलग होने का परिणाम था

1. *आर.सी.डी., मिट. ऑफ एविड,* खंड 8, क्यू. 35225-28
2. वही, खंड 4, क्यू. 15100, 16791

तो यह स्थिति सभी अच्छाइयों के लिए सुधारवादी सिद्ध हुई होती। इसके अलावा इस बात की अपेक्षा की गई जिसने प्रांतीय सरकारों को अलग-अलग मदों द्वारा वैयक्तिक रुचि प्रदान की और वस्तुतः यह बात इसके पक्ष में न होकर इस पद्धति के विरुद्ध थी। यह एक ऐसी पद्धति थी जिसने सार्वजनिक हित से अलग राजस्व के निहित स्वार्थ को जन्म दिया और यह पद्धति ठीक नहीं थी। क्योंकि इस हित में से निश्चय ही इसकी वसूली[1] में कठोरता और सख्ती की ओर उन्मुख होना था। इस उदाहरण के रूप में इसे कराधान प्रेषण के मामले में प्रांतीय सरकारों की कुख्यात अनिच्छा बताई जा सकती है।[2] यदि प्रांतीय सरकारों के मानवीयकरण का वांछनीय लक्ष्य था जो अलग-अलग मदों का उन्मूलन एक अच्छा उपाय था। एक अन्य आपत्ति थी जिसका भारत सरकार ने विरोध किया कि इस प्रकार के परिवर्तन से भारत सरकार को प्रांतीय सरकारों द्वारा वसूल किए गए राजस्व से खिराज (शुल्क) का अंशदान प्राप्त होगा और भारत सरकार प्रांतीय सरकारों के पेंशनर के रूप में दिखेगी तथा भारत सरकार उनका नियंत्रण करने की अपेक्षा उनके अधीन निर्भर दिखाई देगी। इस आपत्ति को भावुकता के रूप में होने के कारण हटा देना चाहिए।

प्रांतीय वित्त व्यवस्था के विस्तार के लिए पांचवां और अंतिम सुझाव भारत सरकार के दायित्व के लिए सब से कम अप्रिय था। इसका कोई कारण नहीं है कि प्रांतीय और केन्द्रीय दोनों सरकारों के लिए एकल खजाना पद्धति क्यों होनी चाहिए। यह सत्य है कि सामान्य खजाना देश की रोकड़ बचतों के लिए अर्थव्यवस्था की उच्च स्थिति पैदा करता है और उसे प्रभावी बनाना प्रत्येक सरकार का कर्तव्य है, जैसा कि कोई व्यापारिक फर्म अपने धन अथवा लगाई गई पूंजी में मितव्ययता करते रहने का अपना कर्तव्य समझती है। परन्तु यदि सामान्य से शेष राशियों के उपयोग में बाधा पड़ती है तो उन रोकड़ शेषों में वृद्धि द्वारा निहित हानि की क्षतिपूर्ति की अपेक्षा स्वतंत्र रूप से अधिक लाभ होगा जो अलग-अलग खजानों और अलग-अलग उपायों तथा साधनों की स्थापना का अनुसरण करेगा परन्तु प्रांतीय सरकारों की मांग ने अलग-अलग खजाना पद्धति तथा अलग-अलग उपायों और साधनों में निहित केन्द्रीय सरकार की शेष राशियों से प्रांतीय शेष राशियों को पूर्णतया अलग होने के लिए नहीं कहा। जिसका कारण शायद यह था कि उन्होंने यह पूर्वाभास किया कि इस प्रकार के प्रस्ताव का अर्थ यह था कि यदि प्रांतीय राजस्व का अलग-अलग स्वत्वाधिकार होता तो भारत सरकार को ऐसी मांग के लिए संवैधानिक आपत्ति होती। उन सभी ने ऐसी शक्ति की मांग की कि उन्हें भारत सरकार को बिना बताए एक निश्चित राशि तक अपनी शेष राशियों के कुछ भाग को व्यय करने का अधिकार होना चाहिए। यह सुझाव

---

1. इस संबंध में देखिए द *फ्री सिस्टम - प्रोफेसर उरधाल।*
2. *आर. सी. डी., मिट. ऑफ एविड,* खंड 10, क्यू. 44866

''उचित सुझाव'' के रूप में स्वीकार कर लिया गया।[1] क्योंकि इसके परिणाम उचित ही होंगे। किन्तु शर्त यह थी कि यह राशि अधिक नहीं होनी चाहिए तथा इसके परिणाम भारत सरकार को अपने नियंत्रण के अधिकार से वंचित न करें अथवा उपायों और साधनों में किसी प्रकार की बाधा न डालें परन्तु इससे देश के रोकड़ शेष में कुछ ही वृद्धि होगी।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि प्रांतीय वित्त व्यवस्था का विस्तार भारत सरकार के संवैधानिक उत्तरदायित्वों की व्याख्या के अति संकीर्ण और अति विधिक रूप से अनुचित ढंग से प्रतिबंधित था। प्रांतीय सरकारों द्वारा दिए गए सुझावों के विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि भारत सरकार की संवैधानिक स्थिति में उल्लंघन किए बिना यह संभव होगा कि ऐसे परिवर्तन प्रभावी होंगे जिन्हें वे चाहते थे तथा इसके साथ उनके उत्तरदायित्व की भावना में अधिक उदार दृष्टिकोण होगा। इस प्रकार की रियायतों ने प्रांतीय वित्त को आत्मनिर्भर तथा स्वायत्त बना दिया जैसा कि वह इस योग्य था। नि:संदेह यह पद्धति विशुद्ध परिपाटी पर ही निर्भर न थी, इसके लाभ भी उतने ही वास्तविक थे मानों वे विधि पर आधारित हों।

परन्तु ऐसा समय आ गया जब वित्तीय साधन एक ऐसे रूप में नहीं देखे गए जिनका संबंध केन्द्रीय और प्रांतीय सरकारों से था। एक तीसरा पक्ष उभरा जिनके सलाहकार 1870 में अमान्य माने गए परन्तु उन्होंने देश के वित्तीय संसाधनों की प्रकृति में अपनी आवाज उठाने पर बल दिया। वह भारतीय करदाता ही था तथा उसका विरोध इतना बढ़ गया था कि उसने शक्तियों को बाध्य कर दिया कि वे इस पद्धति को बदल लें ताकि उसे इस बात की अनुमति मिल जाए कि वह उस स्थिति में भूमिका निभा सकता था जो वह भूमिका निभाना चाहता था।

इस घटना के अनुसरण में जो परिवर्तन हुए हैं, उनका वर्णन भाग चार में किया गया है।

---

1. *आर.सी.डी., मिट. ऑफ एविड,* खंड 10, क्यू. 44900

‘‘....इन अदृश्य प्राकृतिक आपदाओं पर असाधारण प्रकृति का जो व्यय हुआ उसे साम्राज्यवादी सरकार ने झेला और उसकी अदायगी साम्राज्यवादी खजाने से हुई, लेकिन यह आड़े वक्त की मदद जरूरतों को देखते हुए बराबर की सिद्ध नहीं हुई और भारत सरकार को प्रांतीय राजस्व में विशेष अनुदान के लिए बाध्य होना पड़ा।’’

—डॉ. भीमराव अम्बेडकर

भाग–IV

भारत सरकार के अधिनियम, 1919

(द गवर्नमेंट ऑफ इंडिया एक्ट ऑफ 1919)

के अधीन प्रांतीय वित्त

10

परिवर्तन की आवश्यकता

राष्ट्रपति और संसदीय शासन प्रणालियों वाली दो प्रकार की सरकार बहुधा परस्पर विपरीत होती है।[1] संसदीय शासन प्रणाली की सरकार को राष्ट्रपति शासन प्रणाली की सरकार की अपेक्षा अधिक लाभदायक माना जाता है। संसदीय शासन प्रणाली की सरकार के लिए यह दावा किया गया है[2] कि कोई भी अन्य व्यवस्था इतनी सक्षम नहीं लगती जो प्रभावकारी रूप से उन व्यक्तियों के नियंत्रण में अपना प्राधिकार केंद्रित करे जो लोकप्रिय इच्छा को व्यक्त करते हैं। इसका अर्थ सहमति द्वारा सरकार है, जो यह आश्वस्त करती है कि ऐसे व्यक्ति समूह द्वारा सरकार के कार्यों का कार्यान्वयन करना है जो उत्तरदायी होते हैं और जिनके विचार विधान-मंडल के बहुमत के अनुकूल होते हैं, सरकार का केवल यही स्वरूप है जिसमें सशक्त कार्यपालिका की व्यवस्था की जाती है जो स्थाई सरकार के लिए अत्यंत आवश्यक होती है जिसे अच्छी सरकार की आवश्यकताओं को खतरे में डाले बिना ही इतनी अधिक अनुत्तरदायी नहीं हो पाती, यह उच्च अधिकारियों को अपने कृत्यों को प्रतिपादित करने का भार सौंपती है अथवा ऐसा न होने पर उन्हें बर्खास्त कर दिया जाता है, वह विधान-मंडल को विधायिका और प्रशासन दोनों क्षेत्रों में सर्वोच्च बनाती है जिसमें सरकार ऐसी बने ताकि जन जीवन न केवल जीने योग्य हो अपितु जीवन भी श्रेष्ठ बने। इस बात पर जोर दिया गया है कि क्या किसी अन्य शासन प्रणाली की सरकार अत्याचार को बढ़ावा देने वाली अथवा शांति के नाम पर प्रगति को अवरुद्ध करने वाली व्यवस्था का इतने प्रभावी ढंग से निवारण कर सकती है। संसदीय शासन प्रणाली की सरकार ने संयुक्त रूप से प्रगति प्राप्त करने के लिए अपने सर्वोच्च गुण को इतनी अधिक दक्षता से प्रतिपादित किया जबकि प्रारंभ में ब्रिटिश संविधान के उद्‌भव के साथ यह गुण यकायक विकसित हो गया था। इस शासन प्रणाली को ऐसे अनेक देश आधारभूत संस्था के रूप में स्वीकार करते हैं जिनके राजनीतिक विप्लवों के कारण उस समय

---

1. देखिए *जेम्स ब्राइस, दी अमेरिकन कामन वेल्थ,* 1910, खंड 1. अध्याय 20
2. देखिए *सर सिडनी लो, द गवर्नेंस ऑफ इंग्लैंड,* 1914 अध्याय 3, यत्र-तत्र

विद्यमान उनकी सरकारी पद्धति को नवीन अथवा परिवर्तित रूप देने की आवश्यकता हुई।

यदि यह तथ्य है कि कार्यपालिका विधायिका के अंग के रूप में संसदीय शासन प्रणाली की सरकार का पर्याप्त संकेत है तो 1853 से भारत सरकार की पद्धति को संसदीय शासन प्रणाली वाली सरकार कहा जा सकता है। वास्तव में भारतीय संविधान के इस लक्षण को नकारना शायद ही संभव हो क्योंकि संवैधानिक विधि के उपबंध उस समय से ऐसे रहे हैं कि अतिरिक्त (अर्थात् विधायिका) सदस्य और साधारण (अर्थात् कार्यपालिका) सदस्य परस्पर मिलकर ब्रिटिश भारत में शांति, व्यवस्था और अच्छी सरकार के लिए कानून और विनिमय बनाने हेतु विधान-मंडल बनाएंगे।[1] परन्तु वास्तविक परिणामों की दृष्टि से जांच की जाए तो भारतीय पद्धति सरकारी पद्धतियों के उस वर्ग की विधिसम्मत संकल्पना से दुखद रूप से नीचे गिर जाती है जिसका उससे संबंध था। यदि अन्य देशों में संसदीय शासन प्रणाली की सरकार का रिकार्ड देखा जाए तो ज्ञात होगा कि कार्यपालिका को विधायिका के समक्ष झुकना है जिस भारत में कार्यपालिका का काम बाधा डालना रहा अथवा प्रायः विधायिका की अवज्ञा करना रहा। किसी व्यक्ति की यह खोज व्यर्थ ही हो सकती है यदि विधायिका की कार्यवाही की जांच की जाए कि कार्यपालिका ने लोगों की इच्छाओं का सम्मान किया है।[2] इस क्षेत्र में अनवरत सुधार किए जाते रहे, विधायिका ने सुधार किए लेकिन कार्यपालिका ने उतनी ही दृढ़ता से उन्हें नकार दिया।

विधान परिषद्	प्रस्तुत किए गए संकल्पों की संख्या	वापस लिए गए संकल्पों की संख्या	रद्द किए गए संकल्पों की संख्या	स्वीकृत संकल्पों की संख्या
उच्चतम	3	2	1	0
मद्रास	32	26	6	0
बंगाल	38	26	12	0
यू.पी.	22	10	12	0
बिहार और उड़ीसा	5	5	0	0
सी.पी. (मध्य भारत)	4	2	2	0

1. देखिए 1908 में लार्ड मिंटो के सुधार संबंधी प्रस्तावों पर प्रमुख अधिवक्ता सर भाष्यम आयंगर द्वारा दी गई महत्त्वपूर्ण टिप्पणी।
2. ऊपर दी गई तालिका एन.सी. केलकर के *''द केस फॉर इंडियन होम रूल''* पृष्ठ 81 इस तथ्य को उजागर करती है।

भारतीय संसदीय शासन प्रणाली खोखली थी इसका कारण इस तथ्य से प्रकट होता है कि संसदीय कार्यपालिका के बिना यह संसदीय प्रणाली थी। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि इस प्रणाली के अधीन कार्यपालिका विधायिका के प्रति उत्तरदायी नहीं थी तथा उसके द्वारा उसे हटाया भी नहीं जा सकता था। भारतीय विधान-मंडल न तो भारतीय कार्यपालिका को बना सकता था और न उसे बिगाड़ सकता था। भारतीय कार्यपालिका विधायिका द्वारा बर्खास्त किए जाने के डर के बिना शांति अथवा युद्ध कर सकती थी। वह अपनी इच्छानुसार कर लगा सकती थी और अपनी इच्छा के अनुसार ही व्यय भी करती थी। इस कार्य में कार्यपालिका विधायिका की इच्छा की तनिक भी चिंता न करके थोड़ी-सी अनुकम्पा दिखाए बिना ही मनमाने ढंग से ऐसा करती थी। वह अपनी इच्छा से कार्य करती थी और अपनी इच्छा से ही काम करने में इंकार कर देती थी तथा उसे विधायिका के बहुमत द्वारा भर्त्सना का भी कोई भय न था। भारतीय संसदीय प्रणाली की सरकार का दृष्टिकोण 1782 से 1800 में विद्यमान आयरिश संसद की स्थिति के निकट लगता है। इस मामले की विशेषता इस तथ्य में निहित थी कि आमतौर पर कहीं जाने वाली *ग्रेटन्स पार्लियामेंट* अर्थात् *आयरिश पार्लियामेंट* जिस अवधि में काम करती रही, वह प्रभुसत्ता सम्पन्न विधायिका ही स्वीकार की गई। उस समय आयरिश कार्यपालिका आयरिश संसद के समान संसदीय कार्यपालिका नहीं थी। आयरिश कार्यपालिका को आयरिश विधायिका द्वारा नियुक्त करने और बर्खास्त करने की अपेक्षा ब्रिटिश मंत्रि परिषद् के परामर्श पर वस्तुतः सम्राट नियुक्त और बर्खास्त करते थे। इसी प्रकार भारत सचिव (सेक्रेटरी ऑफ स्टेट फॉर इंडिया) की सलाह से सम्राट भारतीय कार्यपालिका की नियुक्ति और बर्खास्तगी करते थे तथा वह किसी प्रकार भी भारतीय विधायिका के प्रति उत्तरदायी नहीं थे।

यह कहना ठीक है कि भारत में कार्यपालिका भारत सचिव (सेक्रेटरी ऑफ स्टेट फॉर इंडिया) के प्रति अंततोगत्वा उत्तरदायी होती थी और उन्हीं के माध्यम से ब्रिटिश संसद के प्रति उत्तरदायी होती थी। श्री फिशर ने कहा है कि यह नहीं भूलना चाहिए कि[1]:-

> ''भारत के मामले भारत सरकार के अधीन हैं- भारत सरकार के प्रस्ताव लंदन आ सकते हैं और साम्राज्यवादी सरकार द्वारा उनको वीटो द्वारा रद्द किया जा सकता है। भारतीय नीति की बड़ी रूपरेखा इंडियन ऑफिस में (सेक्रेटरी ऑफ स्टेट) द्वारा निर्मित की जा सकती है और सशक्त भारत

---

1. फिशर, एच.ए.एल. द्वारा शाही प्रशासन पर अपनी पुस्तक *दी एम्पायर एंड दी फ्यूचर,* 1916 पृ. 58 से उद्धृत।

सचिव (सेक्रेटरी ऑफ स्टेट) भारतीय मामलों की दिशा में अपनना अधिक प्रभाव महसूस करा सकता है, यदि भारत सरकार गंभीरता से उसका विरोध न करे। परंतु वास्तव में अंतिम निर्णय भारतीय अधिकारियों की सम्मति पर निर्भर करता है (अर्थात् भारत की कार्यपालिका पर निर्भर करता है) कि भारतीय नौकरशाही के संयुक्त विरोध के मुकाबले में किसी भी कानून को आरोपित नहीं किया जाएगा।''

वास्तव में भारतीय मामलों में सभी प्रकार से सशक्त सेक्रेटरी न तो भारत में कार्यपालिका को नियंत्रित करने का इच्छुक होता है चाहे जनता कार्यपालिका के कार्य को दुष्कर्म ही क्यों न माना जाए और न ही प्रजा के हित में किए जाने वाले कार्य को रोका जा सकता था।[1] यह बात कठिनाई से ही कही जा सकती है कि ब्रिटिश संसद में प्रत्येक सदस्य को भारत का सदस्य माना जाता है, उसी ब्रिटिश ने भारतीय कार्यपालिका के कार्यों की चिंताजनक जांच पड़ताल की है।[2] दूसरी ओर, भारतीय

---

1. ऐसे केवल दो मामले हैं जिनमें भारत सचिव (सेक्रेटरी ऑफ स्टेट) ने कार्यपालिका की इच्छा के विरुद्ध अपने निर्णय दिए। इनका संबंध 1875 के पंजाब ड्रेनेज एक्ट एंड कैनाल एक्ट तथा इंडियन एक्ट से है। बाद का एक्ट भारत के हितों के लिए स्पष्टतया हानिकारक था।
2. भारत सचिव (द सेक्रेटरी ऑफ स्टेट फॉर इंडिया) का वेतन भारत के राजस्व से दिया जाता है। संसद ने किसी भी अवसर पर संसदीय सत्र की पूरी कार्यवाही में उसके कार्यों की वार्षिक समीक्षा नहीं की जैसा कि उपनिवेक्षक सेक्रेटरी के मामले में समीक्षा की जाती थी। अंत में सामान्य रूप से विनियोग विधेयक के दूसरे वाचन के बाद भारतीय बजट को संसद में प्रस्तुत किया जाता था और इससे पूर्व कुछ अनियमित बहस की जाती थी और इसके बाद संसद एक प्रस्ताव पारित करती थी और औपचारिक शर्तों में यह दावा किया जाता था कि भारतीय लेखाओं में आय और व्यय के कुछ जोड़ दिखाए जाते हैं। इस बात के कई प्रयत्न किए गए कि भारतीय मामलों पर संसद का अधिक नियंत्रण हो परन्तु संसद ने अपने नियंत्रण बढ़ाने की कभी चिंता नहीं की। 1873 में श्री आर.एन. फाउलर ने यह प्रस्ताव रखा कि सदन की राय में यह वांछनीय है कि भारत के वित्तीय मामलों के प्रस्तावों को सत्रों की अवधि में तब प्रस्तुत करना चाहिए जब उन प्रस्तावों पर पूर्णतया विचार विमर्श किया जा सके।'' उसके बाद 1883 में इसी प्रकार का प्रस्ताव श्री फाउलर ने प्रस्तुत किया। भारतीय मामलों की समीक्ष हेतु दोनों प्रयत्न असफल रहे। 1899 में इसी प्रकार का प्रस्ताव श्री क्लेडवेल, सांसद द्वारा प्रस्तुत किया गया और इस प्रस्ताव में यह जोड़ा गया कि भारत सचिव (सेक्रेटरी ऑफ स्टेट फॉर इंडिया) के वेतन को ब्रिटिश अनुमानों में शामिल किया जाना चाहिए। श्री फाउलर ने इस प्रस्ताव का विरोध किया और वह उस समय भारत सचिव (सेक्रेटरी ऑफ स्टेट फॉर इंडिया) थे तथा इसके फलस्वरूप वह प्रस्ताव रद्द हो गया। भारत सरकार अधिनियम, 1919 (गवर्नमेंट ऑफ इंडिया एक्ट, 1919) के उपबंध के अनुसार सदन को यह अवसर प्राप्त था कि वह भारतीय मामलों की अधिक समीक्षा कर सकता है, क्योंकि भारत सचिव (सेक्रेटरी ऑफ स्टेट) के वेतन को ब्रिटिश अनुमानों में शामिल किया गया था।

मामलों में उसका हस्तक्षेप निश्चय ही भारतीयों के हितों के लिए हानिकारक रहा है।[1]

वास्तव में इसमें कोई संदेह नहीं कि सम्राट द्वारा देश की सरकार अपने हाथ में लेने के बाद भारतीय मामलों के संबंध में संसद में उनकी रुचि घटती रही जबकि उसकी तुलना में भारतीय मामलों में संसद की रुचि उस समय कहीं अधिक थी जब देश के मामले कम्पनी के अधिकार में थे।[2] इतना ही नहीं भारतीय मामलों पर ब्रिटिश संसद का प्रभाव निश्चित ही अधिक बुरा हो गया।[3] क्योंकि इसका समस्त प्रभाव भारतीय कार्यपालिका को लोकमत के समक्ष अवरोध उत्पन्न करने के अलावा लोकप्रिय संघर्ष के विरुद्ध उजागर हो उठा।

इसलिए यह स्पष्ट है कि भारत सचिव (सेक्रेटरी ऑफ स्टेट) तथा संसद का भारतीय कार्यपालिका पर केवल नाम मात्र का नियंत्रण था तथा भारतीय कार्यपालिका वास्तव में उस नौकरशाही के अनियंत्रित निकाय के अधीन थी जो भारतीय मामलों के एकाकी प्रभारी थे। यह विश्वास अनुत्तरदायी कार्यपालिका द्वारा कैसे निभाया जा सका?

इस प्रश्न का सारांश में यह उत्तर दिया जा सकता है कि भारतीय कार्यपालिका ने व्यवस्था बनाए रखने के लिए प्रगति का बलिदान किया। चाहे हम उसके कार्यो की जांच विधायिका या वित्त के क्षेत्र में करें तो इस वक्तव्य की सत्यता दुखद रूप से स्पष्ट है।

विश्व में ऐसे बहुत कम देश हैं जहां सामाजिक कुरीतियां इतनी अधिक हों जितनी भारत में व्याप्त हैं। कानून एक ऐसा साधन है जिसकी सहायता से समाज समय-समय पर उन बुराइयों को दूर करता है ताकि समाज में संरक्षण बना रहे। परन्तु कुछ अपवादों[4] (पृष्ठ 258 देखें) के साथ सबसे हानिकारक वैयक्तिक कानून का नियम है वो नागरिकों के सामाजिक संबंधों को प्रशासित करने के लिए अनुगत रहा, चाहे ऐसी घटना कोई भी क्यों न हो जिसने लोकमत को जागृत किया हो, और उसके विरुद्ध विरोध की आवाज उठाई हो।[5] (पृष्ठ 258 देखें)

---

1. देखिए 1877 और 1879 में *हाउस ऑफ कामन्स* के संकल्प जिसमें लंकाशायर के हित में भारतीय कर निर्धारण नीति की भर्त्सना की गई है।
2. इसके समर्थन में यह तथ्य बताना चाहिए कि संसद में ईस्ट इंडिया कंपनी के मामलों में कठोर जांच पड़ताल किए बिना शक्ति नहीं सौंपी।
3. उस संसद की तुलना की जाए जिसने भारतीय न्यायापालिका के अधीन रखा तथा यह तुलना उस संसद से की जाए जिसने कार्यपालिका को न्यायपालिका तथा विधायिका के नियंत्रण में रखा है। उस संसद से तुलना की जाए जिसने भारत में यूरोपियनों पर कठोर विनियम लागू किए तथा उस संसद से की जाए जिसने उन्हें मुक्त प्रवेश की ही अनुमति नहीं दी अपितु उन्हें मजिस्ट्रेट के नियंत्रण से ही बाहर रखा। उस संसद की तुलना की जाए जिसने हेस्टिंग्स की भर्त्सना की तथा यह तुलना उस संसद से की जाए जिसने जनरल डायर का समर्थन किया।

वैयक्तिक कानून[6] के संरक्षण के लिए कार्यपालिका के संबंध में ऐसा धार्मिक आदर रहा कि कुछ भी तथ्य क्यों न हो इससे नागरिकता के सबसे प्रारंभिक अधिकारों का आनंद उठाने से लाखों लोगों को वंचित कर दिया और इस बात में सावधानी रखी गई कि संघर्ष के मामलों में नागरिक कानून के तर्कसम्मत उपबंधों की अनुमति नहीं दी गई ताकि उस पुरातन संहिता की अतार्किक व्यवस्थाओं का अनुसरण किया जाए अथवा उनका दमन किया जाए। यदि विधायिका के आधुनिक मानक से जांच की जाए तो कार्यपालिका को अत्यंत रूढ़िवादी कहा जाएगा। आर्थिक अधिकारों के प्राप्त करने के मामले में इसका प्रत्युत्तर अधिक धीमी गति का था और कृषि संबंधी[7] अवधि की सुरक्षा अथवा स्थायित्व प्रदान करने अथवा औद्योगिक[8] जनता की सरलता तथा सुविधा के लिए जो विधान अपनाए गए और वह विधान उसकी तुलना में समाप्त हो गए जिसने औद्योगिक दासता से बचाने के लिए अपने प्रयोग का निषेध[9] कर दिया था।

इसकी वित्तीय पद्धति भी इसी प्रकार वर्गीकृत की गई कि आम जनता पर कर लगा कर शांति और व्यवस्था स्थापित की जाए तथा उच्च वर्ग के लोगों को कर

---

4. सती प्रथा को हटाने के लिए 1829 का बंगाल रेग्यूलेशन, 1843 का एक्ट, ''5'', दासता निवारण के लिए, (1850 का एक्ट 21) 1832 को रेग्यूलेशन 7 की धारा को पुनः कानून बनाने के लिए) जाति या धर्म की हानि के फलस्वरूप अधिकारों या सम्पत्ति के जब्त होने से वर्जित करने के लिए, 1856 का एक्ट 15 जिसने हिंदू विधवाओं को पुनः विवाह के लिए प्राधिकृत किया, 1866 का एक्ट 11 जिसने ईसाई धर्म में परिवर्तित देशी लोगों को तलाक पाने का अधिकार दिया, 1871 का एक्ट 27 जिसने अस्वाभाविक प्रथाओं को सीमित किया, 1872 का एक्ट 3 जिसने, उन सभी लोगों के विवाह की व्यवस्था की जो ईसाई, यहूदी, हिंदू, मुसलमान, जैन अथवा सिख नहीं हैं।
5. यह सर्वप्रथम 1772 में वारेन हेस्टिंग्स द्वारा स्वीकार किया गया तथा इसे 1780 के ईस्ट इंडिया कंपनी एक्ट (2) जी.ई.ओ. III, सी 70 एस.एस. 17 और (18) में सम्मिलित किया गया, इन उपबंधों को बाद के कानूनों में सम्मिलित किया गया।
6. देखिए 1865 के इंडियन सक्सेशन एक्ट में वैयक्तिक कानून के पक्ष में उपबंध और 1882 का ट्रांसफर प्रापर्टी एक्ट तथा 1882 का इंडियन ट्रस्ट एक्ट में वैयक्तिक कानून के पक्ष में उपबंध।
7. देखिए बंगाल में 1859, 1868, 1881 और 1885 का टेनेंसी एक्ट, बम्बई में 1879 का दक्कन एग्री. कल्चरिस्ट रिलीफ एक्ट और यू.पी. में 1868 का अवध रेंट एक्ट, 1883 का सेंट्रल प्राविंसेज टेनेंसी एक्ट।
8. 1881 तक भारत में फैक्ट्री एक्ट शुरू नहीं हुआ। 1891 में 1881 का एक्ट संशोधित हुआ और इसके स्थान पर 1911 में दूसरा एक्ट लागू किया गया जिसमें भारत में कारखानों के मजदूरों को प्रशासित करने वाली शर्तों का उल्लेख था।
9. भारतीय आर्थिक समस्याओं के विद्यार्थियों को यह लाभ होगा कि इसका संदर्भ अनुबंधित मजदूरों की निंदात्मक पद्धति से है।

से मुक्त किया जाए। इस बात पर जोर दिया गया कि राजस्व प्रणाली को इस प्रकार परिवर्तित कर दिया जाए कि गरीब जनता को राहत मिले। अप्रत्यक्ष करने को न्यायसंगत ठहराया जाता है क्योंकि उस तरीके से गरीब जनता देश के लिए अपना कर भार चुका देती है और इसका उसे आभास भी नहीं होता। परन्तु ऐसे सीमित विषय भी हैं जो कतिपय प्रकार के अप्रत्यक्ष करों के लगाने पर रोक लगाते हैं। पर कहा जा सकता है कि इस बात पर लोक वित्त के विद्यार्थियों को सहमत होना चाहिए कि अप्रत्यक्ष कर ऐसे होने चाहिए कि गरीब जनता पर तुलनात्मक रूप से उनके अपने साधनों के अनुकूल ऐसे करों का भार पड़े। यदि ऐसे अप्रत्यक्ष कर सुविधा की वस्तुओं पर लगाए जाते हैं तो उनके लिए यह संभव है कि इन करों के ऐसे भार को उनके हिस्से में डालना चाहिए जिनकी उन्हें आवश्यकता है और वे अपनी क्रय शक्ति द्वारा इनका समायोजन कर सकते हैं। परन्तु ऐसे मामले भी हैं जहां वे जीवन की आवश्यकताओं पर निर्भर करते हैं तो ऐसी स्थिति में वह लचीलापन संभव नहीं है। भारत में नमक कर के हानिकारक स्वरूप व भारत की राजस्व पद्धति से उसकी विमुक्ति के पर्याप्त आधार के कारण जोर दिया गया। परन्तु कार्यपालिका ने इस मांग को स्वीकार करने से इंकार ही नहीं किया अपितु नमक कर में वृद्धि भी कर दी। जब कभी नमक की कमी हुई और राजस्व के किसी अन्य स्रोत को नहीं खोजा गया जैसा कि सरलता तथा अधिक न्यायप्रिय ढंग से राजस्व का नया स्रोत खोजा जा सकता था। नमक कर लगा दिया गया। 1886 का एक उदाहरण दिया जा सकता है जिसमें यह स्वीकार किया गया था कि[1] :–

> "अंततोगत्वा यह कहा जाता है और किया जाता है और इसमें कोई संदेह नहीं है कि एक बड़ा तथ्य स्थापित किया जाना है और एक बड़ा कलंक रह जाता है जो हाल के वर्षों की घटनाओं के दौरान न तो धुल सका अपितु अधिक हो गया... यह स्थिति ऐसी ही है.... भारत में ऐसे वर्ग के लोग हैं जिन्हें ब्रिटिश सरकार से सबसे अधिक सुरक्षा और लाभ मिलता है जबकि वे ब्रिटिश सरकार को बहुत कम योगदान करते है।"

परन्तु 1887–8 के बजट में कार्यपालिका अपनी धारणा से अलग रही और घाटे को पूरा करने के लिए नमक कर बढ़ा दिया गया। हर घाटा आंतरिक सुधार के असाधारण कानून के कारण नहीं हुआ था अपितु विदेशी हमले के दबाव के कारण हुआ था अर्थात् बर्मा पर विजय। इसी तरह 1886 में आयकर में बंगाल के जमींदारों, असम के चाय उत्पादकों, अवध के ताल्लुकेदारों तथा धनी वर्ग के लोगों की आय को ज्यों का त्यों बनाए रखने की दृष्टि से परिवर्तन नहीं किया गया तथा इन लोगों को औसत दरों पर ही कर लगाया गया और उनसे इसी प्रकार पूर्ववत् आयकर वसूल किया गया।

---

1. देखिए 4 जनवरी, 1886 का *सुप्रीम लेजिस्लेटिव काउंसिल में लायसेंस टैक्स अमेंडमेंट बिल पर सर ए. काल्विन का भाषण।*

परन्तु नमक कर ही असमानता का ऐसा उदाहरण नहीं है जिन्हें जनता ने उन वर्गों के लिए अदा किया। भारत में जो भू-राजस्व लगाया जाता था उसमें भी भारतीय कराधान पद्धति की दृष्टि से और भी असमानता का एक अन्य उदाहरण है। कर असमानता के अनेक स्रोत हैं। सर्वप्रथम यह स्पष्ट तथ्य है कि कुछ मामलों में भू-राजस्व के संबंध में जो कर की राशि लगाई गई थी उसमें समय-समय पर संशोधन किया गया अब ऐसी कोई ऐच्छिक परिस्थिति नहीं है कि कुछ लोगों को देश की बढ़ती हुई आवश्यकताओं की दृष्टि से उनके अंशदान[1] की छूट दी जाए जबकि उनके साथियों से कठोरता से अंशदान का भुगतान कराया जाता है।

यह उन व्यक्तियों के प्रति अन्याय का एक पहलू है जिनकी भू-राजस्व के संबंध में कर देने की क्षमता को समय-समय पर संशोधित किया जाता है। अन्याय का एक अन्य पहलू है जिसके अनुसार भुगतान करने की क्षमता को गलत कानून से अपनाया जाता है। भारत में भूमिकर का संशोधनीय आय कर व्यवस्था में ही पाया जाता है और वह भूमि की निश्चित इकाई है। जैसा कि भारतीय वित्त के प्रत्येक विद्यार्थी को सुविदित है। किसी व्यक्ति ने इस पद्धति के हानिकारक प्रभाव के बारे में संदेह नहीं किया है जिसका आधार आधिपत्य में भूमि की इकाई पर कर निर्धारण माना है परन्तु वास्तव में शायद ही ऐसी कोई पद्धति हो जो विचार में भूल भरी हो अथवा व्यवहार में अधिक शरारतपूर्ण हो। यह ऐसे आम अर्थशास्त्रियों की अवहेलना करती है जो इस बात पर जोर देते हैं कि कर वस्तुओं द्वारा नहीं लगाए जाते अपितु व्यक्तियों द्वारा लगाए जाते हैं।[2] यदि लोग अंततोगत्वा करों का भुगतान करते हैं तो यह स्पष्ट है कि उनके अपने आधिपत्य की भूमि के अनुसार कर नहीं देने चाहिए अपितु उस कुल आय के अनुपात में कर देने चाहिए जो वे प्राप्त करते हैं। इसके विपरीत भूमि की प्रत्येक यूनिट के विचार से कर निर्धारण की पद्धति उस गरीब किसान पर मालगुजारी लगाती है जिसके पास खेती के लिए केवल एक एकड़ भूमि है और जमींदार से भी समान दर से कर लिया जाता है जबकि उसके पास सैंकड़ों एकड़ भूमि होती है तथा इस बात पर ध्यान नहीं दिया जाता कि दोनों की आय में बहुत अधिक अंतर है। अतः इस समान करारोपण से धनी और गरीब के बीच स्पष्टतया असमानता का व्यवहार दिखाई देगा।

यदि इस प्रकार व्यवस्था के अनुसार समानता का बलिदान करने से राजस्व की वसूली की गई और इस आय को प्रोन्नत प्रगति की सेवाओं पर व्यय किया गया तो इससे कुछ क्षतिपूर्ति तो हो जाएगी परंतु ऐसी बात नहीं थी।

1,2. देखिए इम्पीरियल तथा लोकल टैक्सेशन, सी 9528, सन् 1899 पृष्ठ 160 के वर्गीकरण और प्रभाव से मुख्यतया संबंधित ज्ञापन में स्थानीय कराधान के रॉयल कमीशन की शर्तों पर प्रोफेसर कैनन द्वारा आलोचना।

इस तरह से एकत्र किया गया राजस्व पुलिस, सेना और प्रशासन आदि सेवाओं पर व्यय किया जाता है जो व्यवस्था बनाए रखने के लिए किए जाते हैं। ऐसी सेवाएं यथा शिक्षा, उद्योग आदि पर शायद ही सरकार कुछ व्यय करती हो क्योंकि यह व्यय अनुत्तरदायी कार्यपालिका द्वारा किया जाता है। परन्तु यह पूछा जा सकता है कि प्रभुसत्ता सम्पन्न कार्यपालिका प्रगति की अपेक्षा व्यवस्था बनाए रखने के क्यों हित में थी? इसका उत्तर यह है कि सरकार भले ही प्रभुसत्ता सम्पन्न क्यों न हो, प्रगति करने में अक्षम है।

इसका कारण यह है कि प्रभुसत्ता सम्पन्न शक्तियों का प्रयोग करते समय दो अत्यंत गंभीर मर्यादाएं आड़े आती हैं।[1] सर्वप्रथम आंतरिक सीमा है जो ऐसे लोगों की प्रकृति स्वभाव और हितों से उभरती है जो सत्ता में हैं। यदि सुल्तान मुस्लिमवाद का उन्मूलन नहीं करता, पोप कैथोलिकवाद पर प्रतिबंध नहीं लगाता, ब्राह्मण जातिप्रथा की भर्त्सना नहीं करता अथवा ब्रिटिश संसद अभिजात वर्ग के लोगों के संरक्षण को अवैध घोषित नहीं करती तो इसका कारण यह नहीं है कि वे ऐसा नहीं कर सकते परन्तु इसका कारण यह है कि वे ऐसा नहीं करेंगे। इसी प्रकार यदि भारत में कार्यपालिका प्रगति के लिए सबसे सरल उपाय नहीं करती तो उसका कारण था कि वह अवैयक्तिक[2] है और अपनी प्रवृत्ति उद्देश्य और हित के कारण है तथा वह भारतीय समाज में काम करने वाली जीवित शक्तियों के साथ सहानुभूति नहीं रखती और उसे उसके अभावों, पीड़ा, लालसा तथा इच्छा से उत्तरदायी नहीं ठहराया तथा उसे अपनी भावनाओं का विरोधी बताया उसने शिक्षा को आगे नहीं बढ़ाया, स्वदेशी को नहीं सराहा अथवा ऐसी प्रत्येक

---

1. इस विषय पर विशद विवेचन के लिए देखिए *ए.वी. डाइसी, ला ऑफ* द *कांस्टीटयूशन,* 1915, पृ. 74–82
2. अवैयक्तिक होने का कारण यह है कि लोक सेवाओं की उच्च और नियंत्रक मानदंड भारतीय प्रवृत्ति से वंचित है। यद्यपि लोक सेवाओं में भरती के लिए भारत के लोगों की पात्रता बहुत पहले 1833 में स्थापित की जा चुकी थी तथापि इस संबंध में भारत में लोक सेवाओं में प्रवेश के लिए भारत सचिव (सेक्रेटरी ऑफ स्टेट) द्वारा बनाए गए विनियमों की प्रवृत्ति यह थी कि उन्हें कानून द्वारा दिए गए अधिकार के अनुरूप रोजगार से वचित करना था। इन नियमों के अंतर्गत जिन्हें युद्ध के लिए भारत सचिव (सेक्रेटरी ऑफ स्टेट) ने बनाया था कि सेवा में कमीशन के लिए उम्मीदवार विशुद्ध यूरोपीय वंश के लोग ही होते थे और इसी प्रकार एडमिरेलिटी ने नौसेना के कैडेट होने के बारे में विनियम बनाया था जिसके अनुसार भारतीयों को इस नौकरी से वंचित कर दिया गया था। जहां तक नागरिक सेवा का संबंध है, इस कानून भारत सरकार अधिनियम, 1858 (गवर्नमेंट ऑफ इंडिया एक्ट, 1858) धारा 32 में यह बताया गया है कि सम्राट के अधीन क्षेत्रों में स्वाभाविक रूप से जन्मे सभी लोग परीक्षाओं में प्रवेश पा सकते हैं और इस प्रकार भारत के लोगों को भी शामिल किया गया परन्तु भारत सचिव (सेक्रेटरी ऑफ स्टेट) ने यह नियम बनाया कि इस प्रकार की परीक्षा केवल लंदन में ही होनी चाहिए जिसके फलस्वरूप अप्रत्यक्ष रूप से इस कानून के अंतर्गत देश के अनेक लोगों को इस लाभ से वंचित कर दिया गया। अन्य लोक सेवाओं में प्रवेश पाने के लिए बनाए गए विनियम विविध प्रकार के थे। जहां तक भारतीय चिकित्सा सेवा का संबंध है इसके लिए उम्मीदवारों को यूरोपीय अथवा ईस्ट इंडिया कंपनी के अधिकारी का (ईस्ट इंडियन वंश) का जन्मा व्यक्ति हो, भारतीय पुलिस सेवा के लिए यूरोप में जन्मा ब्रिटिश होना चाहिए, वन सेवा के लिए यह अपेक्षित था कि उम्मीदवार ब्रिटिश प्रजा–रूप में जन्मे हों, लोक निर्माण विभाग में 10 में से 1 व्यक्ति की सेवाओं में भारतीय लोग शामिल किए जा सकते थे जो ब्रिटिश शासन के लोग थे। (देखिए इस संबंध में हेल्सबरी *कृत लौज ऑफ इंगलैंड,* खंड 10, पृ. 588–9)।

व्यय का प्रतिशत

(वाणिज्य सेवाओं तथा पोस्ट ऑफिस एंड टेलीग्राफ डिपार्टमेंट, रेलवे और सिंचाई को छोड़कर) हजारों रुपयों में

अवधि	जिला प्रशासन	वन	अफीम को शामिल करते हुए अन्य शीर्ष	ऋण स्रोत	सिविल डिपार्टमेंट	नागरिक निर्माण कार्य	सेनासैन्य निर्माणकार्य	अकाल सहायता तथा बीमा	सिविल तबदीली	योग
1877-78 से 1881-82 तक	5.2	.8	5.6	8.9	18.7	5.8	39.2	2.6	6.8	93.6
1882-83 से 1886-87 तक	6.0	1.2	6.6	8.2	21.4	7.6	35.6	2.3	7.5	96.4
1887-88 से 1891-92 तक	6.0	1.3	5.4	7.6	22.1	7.3	37.7	2.8	7.5	95.7
1892-93 से 1896-97 तक	6.1	1.3	49	6.4	22.5	6.9	38.5	1.6	8.4	96.6
1897-98 से 1901-02 तक	5.8	1.4	5.5	4.3	22.6	6.8	35.2	4.8	7.8	94.2
1902-03 से 1906-7 तक	5.9	1.6	8.2	3.1	23.2	9	37.1	1.8	7.3	97.2
1907-08 से 1911-12 तक	6.3	1.8	7.1	3.5	25.7	8.5	35.6	2.1	7.7	98.3
1912-13 से 1916-17 तक	6.0	1.9	6.2	2.1	28.2	9.3	35.1	1.5	7.3	97.6

ब्रिटिश इंडिया खंड 2, वित्तीय आंकड़े, 1920, पृष्ठ 7 से उद्धृत

बात का अपमान किया जिसमें राष्ट्रवाद की झलक दिखती हो। इसका कारण यह था कि ये सभी बातें उसके स्वभाव के विरुद्ध थीं। परन्तु एक अनुत्तरदायी सरकार ऐसी बातों के निभाने के लिए अशक्त होती है जैसा कि वह करना चाहती है। इसका कारण है कि उसका प्राधिकार बाह्य अवरोध की संभावना से सीमित होता है। कुछ ऐसी बातें है जो वह करेगी परन्तु उसके प्राधिकार को अवरोध पैदा होने के भय से वह ऐसा नहीं करेगी। सीजर रोम वासियों की प्रार्थना को ठुकराने का साहस नहीं कर पाया।

संसद चाहते हुए भी उपनिवेशों पर कर लगाने का साहस नहीं कर पायी। इसी कारण भारत सरकार ने जाति प्रथा के उन्मूलन का साहस नहीं किया, भारत सरकार एक विवाह पद्धति को नहीं चला सकी तथा उत्तराधिकार के नियमों में परिवर्तन नहीं कर सकी, अंतर्विवाह के वैध न बना सकी अथवा चाय बागवानी करने वालों पर कर नहीं लगा सकी। प्रगति में सामाजिक जीवन की वर्तमान संहिता का हस्तक्षेप किए जाना निहित है तथा हस्तक्षेप से प्रतिरोध उत्पन्न होने की संभावना है।

उसी प्रकार कोई भी सरकार जो जनता की होती है और उनसे अलग नहीं की जा सकती प्रगति के पथ पर बढ़ने का साहस नहीं कर सकती क्योंकि वह यह बात जानने की स्थिति में होती है कि आज्ञाकारिता कहां समाप्त होती है और कहां प्रतिरोध प्रारंभ होगा लेकिन भारतीय कार्यपालिका जनता की नहीं थी अत: वह जनता की भावना को महसूस नहीं कर सकी। इस विषय का सारांश यह है कि अनुत्तरदायी कार्यपालिका जो भारत में अपनी सत्ता बनाए हुए थी अपने प्राधिकार और जीवन को अधिक अच्छा बनाने की दोनों सीमाओं के बीच में सन्निपात ग्रस्त हो गई थी। इसमें गतिरोध आ गया। इस कार्यक्रम के कुछ भागों को वह कार्यान्वित नहीं करेगी और कार्यक्रम के दूसरे भाग को अपने हाथ में न ले सकेगी। इसके फलस्वरूप जहां तक लोगों के सामाजिक और नैतिक जीवन का प्रश्न है ऐसी स्थिति में मुगल सरकार से बदल कर ब्रिटिश सरकार का निर्माण केवल शासकों का ही परिवर्तन था और इससे शासन पद्धति में किसी प्रकार का कोई अंतर नहीं आया। ब्रिटिश द्वारा अंशत: वरीयता और अंशत: आवश्यकता के आधार पर हस्तक्षेप न करने के नियम को स्वीकार करने से–

> "भारत के लोगों ने इस विशिष्ट सरकार के अधीन कोई ऐसी सशक्तता नहीं देखी जो इससे पूर्व अपने थके और विस्मृत इतिहास के दौरान परिश्रम करते रहे और आराधना में लगे रहे, वे अपना जीवन बिताते रहे तथा मृत्यु को प्राप्त हो गए। राजनीतिक दृष्टि से एक परिवर्तन हुआ परन्तु एक तानाशाह का स्थान दूसरे तानाशाह ने ले लिया। उन्होंने वे सभी प्रबंध स्वीकार किए जो उनके अनुकूल थे।[1] तथा वे उस चीनी दर्जी के समान थे जिसे पुराने कोट का नमूना दिया जाता है जो उसी के समान वैसा ही कोट[2] थिगलियां तथा अन्य सभी डिजाइन के साथ तैयार करता है।"

---

1. बर्मा में मतदान कर जारी रहा क्योंकि यह कर उस दिन लागू था जब बर्मा पर विजय प्राप्त की गई थी।
2. बर्नार्ड हफटम ब्यूरोक्रेटिक गवर्नमैंट।

इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि कुछ भौतिक प्रगति हुई। परन्तु विश्व के लोग शांति और व्यवस्था से अधिक समय तक संतुष्ट नहीं हो सकते क्योंकि वे गूंगे, बहरे, क्रूर व्यक्ति नहीं होते। यह कल्पना करना मूर्खता है कि लोग निश्चय ही नौकरशाही का समर्थन इसलिए करेंगे क्योंकि उन्होंने लोगों के लिए सड़कों का सुधार किया है, अधिक वैज्ञानिक नियमों के अनुसार नहरें बनाई हैं, रेल द्वारा उनकी परिवहन व्यवस्था में सुधार किया है, या डाक द्वारा उनके पत्र भिजवाए जाते हैं। उनके संदेशों को बिजली के समान भेजा जाता है, उनकी मुद्रा में सुधार किया है, उनके माप तोल को नियमित किया है, उनके भौगोलिक, खगोलीय और चिकित्सीय विचारों को शुद्ध किया है तथा उनके आंतरिक झगड़ों को रोक दिया है। परन्तु कोई भी व्यक्ति कितना ही धीर क्यों न हो वह शीघ्र या देर से ऐसी सरकार की मांग करेगा जो दक्षता की मात्र मशीन से कहीं आगे हो। प्रतिनिधित्व करने वाली सरकार के पश्चिमी विचारों से प्रभावित होकर भारतीय लोग कुछ समय से सरकार के परिवर्तन की मांग कर रहे हैं। संसदीय कार्यपालिका के साथ संसदीय शासन प्रणाली की सरकार बनाने का उनका लक्ष्य है जो वे कुछ समय से व्यक्त कर रहे हैं।

इस लक्ष्य की प्रगति के लिए लोकप्रिय विद्रोह ने ऐसे प्रस्ताव बनाए हैं जो समय के अंतराल में भारत में कार्यपालिका के विचार के लिए गंभीर मामले होंगे। देश की सरकार को किस तरह चलाया जाए? क्या यह सरकार बल प्रयोग द्वारा चलाई जाए अथवा सहमति के अनुसरण से चलाई जाए। फिर भी शासन सत्ता कभी भी अपने आप आत्महत्या नहीं करती। इसकी अपेक्षा जब वह लोगों की इच्छा को पूरा करने में असफल होती है तो वह बल का प्रयोग कर उठती है। यही वह संसाधन है जिसे भारत में कार्यपालिका ने स्वीकार किया या अपनाया। कार्यपालिका अपनी राज-सत्ता की सहायता से संतुष्ट नहीं होती जबकि कार्यपालिका को आपराधिक और दंड संहिताओं के उपबंधों द्वारा शक्तियां उपलब्ध होती हैं ताकि निषेधात्मक कार्यों, अपराधों का पूर्वानुमान किया जा सके। इसने भारतीय कानून की पुस्तक में दमनकारी कानूनों से स्थिति को कलंकित कर दिया है जैसा कि विश्व के किसी भी भाग में ऐसी स्थिति नहीं है। 1908 के क्रिमनल ला एमेंडमेंट एक्ट (आपराधिक कानून अधि नियम 14) ने सरकार की विशेष अनुमति से मजिस्ट्रेट को उस बात की शक्ति दी कि वह अभियोगी अथवा उसके वैध प्रतिनिधि की उपस्थिति के बिना एकपक्षीय जांच कर सकता है और जूरी न्यायाधीश के बिना उस पर मुकद्दमा चला सकता है। इसी एक्ट के अन्य उपबंध के अधीन कार्यपालिका किसी भी संघ को अवैध घोषित

कर सकती है जो उसकी समय से कानून और व्यवस्था के रख-रखाव में हस्तक्षेप करता है। स्टेट प्रिजनर्स रेगूलेशन्स[1] और एक्टस[2] ने कार्यपालिका को यह प्राधिकार दिया कि वह किसी ऐसे व्यक्ति को नजरबंद कर सकती है जिसके बारे में उसे संदेह हुआ है परन्तु जिसके विरुद्ध उसके पास कोई प्रमाण नहीं है, वह हैबियस कार्पस एक्ट (बंदी प्रत्यक्षीकरण अधिनियम)[3] का स्थाई स्थगन कर सकता है जब कि किसी अधिनियम[4] के अधीन कार्यपालिका को ''सैनिक शासन की स्थिति'' अथवा किसी क्षेत्र में सैनिक शासन की घोषणा करने के लिए शक्ति प्रदान की गई और इसी के अधीन सभी सिविल कोर्ट के कार्य क्षेत्र को सैन्य कोर्ट के पक्ष में निलंबित कर दिया। 1910 के इंडियन प्रेस एक्ट ने प्रस पर पूर्णतया प्रतिबंध लगा दिया। इसके उपबंध इतने व्यापक थे कि ''भारतीय उच्च न्यायालयों में से एक उच्च न्यायालय के विद्व ान जज[5] के मत में यह कठिन था कि मेधावी व्यक्ति द्वारा किसी सीमा तक इसके युक्तिसंगत कार्यान्वयन का विस्तार किया जाए और निश्चय ही उनका कार्यान्वयन ऐसे लेखों पर किया जाएगा जिनको अनुमति की आवश्यकता है'' तथा ''उसे मानक साहित्य समझा जाएगा जिसे निस्संदेह देखा जाए।'' सार्वजनिक बैठक आयोजित करने का अधिकार उसी नतीजे से और उसी कठोरता से दबा दिया गया जैसा कि स्वतंत्रता के अधिकार और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के अधिकार के संबंध में था और यह स्थिति देश[1] के साधारण कानून में दिए गए प्रतिबंधात्मक उपबंधों से ऊपर और अधिक थी। कार्यपालिका ने विशेष कानून के अंतर्गत विवेकाधीन शक्तियों से अपने को सशक्त कर लिया ताकि किसी भी सार्वजनिक बैठक को इस बहाने से रोका जाए कि यह बैठक जनता के हित में नहीं है।

---

1. 1818 का बंगाल रेग्यूलेशन 3, 1827 का बाम्बे रेग्यूलेशन, 25, 1819 का मद्रास रेग्यूलेशन 2
2. 1850 का एक्ट 24 और 1858 का एक्ट 3
3. एन. घोष, *कम्पेरेटिव एडमिनिस्ट्रेशन ला,* 1918, पृ. 480
4. 1857 का एक्ट 9
5. सर लारेंस जेन्किन्स, सी.जे. इन रे महोम द आली, इंडियन ला रिपोर्टर (आई.एल.आर. 40, कलकत्ता 466 (1913) एन. घोष द्वारा उद्धृत, पृ. 567

राजादेश और किलेबंद घर (बेस्टील) के इस शासन की कठोरता इन दमनकारी कानून को लागू करने के लिए किए गए अतिक्रमण हेतु कार्य–पालिका की ओर से किसी भी उत्तरदायित्व के भय से कोई समझौता न करने वाली थी। इस बात पर ध्यान दिया जाना है कि कार्यपालिका को कानून और व्यवस्था बनाए रखने के लिए लोगों की स्वंत्रता के दमन हेतु इन विवेकाधीन शक्तियों को अधिक दिए जाने की स्थिति के साथ इन शक्तियों के निभाने के लिए अपने एजेंटों को मुक्त करने के समान उदार साधन की भेंट मिली हुई थी।[2] पुलिस अधिनियमों और प्रेस अधिनियमों आदि में से ऐसे सभी उपबंध समाहित थे जिससे इन अधिनियमों के लागू किए जाने में अवरोध का निवारण करने हेतु इन एजेंटों के विरुद्ध नागरिक न्यायालय (सिविल कोर्ट) में सभी कार्रवाई पर रोक लगा दी थी। उपद्रवों के दमन में भाग लेने वाले अधिकारी और सैनिक सद्‌भाव के किए गए कार्यो के लिए आपराधिक रूप से उत्तरदायी नहीं और सरकार के आदेश के बिना अन्य कार्यो में भी उन पर मुकदमा नहीं चलाया जाता था।[3] इस प्रकार उच्च कार्यकारी अधिकारियों पर ऐसे अपराधों के लिए मुकद्दमे नहीं चलाए जा सकते थे जो अपराध लोक कार्यो के निभाने में हो जाते थे किन्तु प्रतिबंध यह था कि मुकदमे चलाने के लिए सरकार की अनुमति आवश्यक है और इसके बाद सरकार द्वारा प्रस्तावित तरीके से ही मुकदमे चलाए जाते थे।[4] इसमें कोई आश्चर्य नहीं है कि यदि इस प्रकार की विवेकाधीन शक्तियां विधिबाह्य ढंग से काम में लाई जाती थीं तो इनमें से शांति का शासन आतंक के शासन में बदल जाता था।

परन्तु इस बात का शीघ्र ही पता लग गया कि देश में सरकार के चलाने के लिए ऐसे बल का कोई विश्वसनीय साधन नहीं था। बर्क[5] ने इस ऐतिहासिक निर्णय का सारांश दिया जो इस प्रकार है:–

> ''बल प्रयोग अस्थाई है। इससे कुछ समय के लिए शांति हो सकती है परन्तु इससे शांति की आवश्यकता को हटाया नहीं जा सकता : किसी देश पर शासन नहीं किया जाता है जिसे लगातार जीता जाए। बल्कि इस संबंध में दूसरी आपत्ति अनिश्चितता की है। आतंक में सदैव बल का प्रभाव नहीं होता है और हथियारों से विजय प्राप्त नहीं होती है, यदि आपको सफलता प्राप्त नहीं होती तो आप

---

1. दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 108 और 144 तथा भारतीय दंड संहिता की धारा 120 ए और बी, 124 ए और 153 ए
2. एन, घोष, सामने के पृष्ठ का उद्धरण, पृष्ठ 601
3. दंड प्रक्रिया संहिता अधिनियम 6, 1898, अध्याय 9 धारा 128, 130 और 132
4. वही, धारा 197
5. अमरीका के साथ समझौता करने के संबंध में भाषण।

संसाधन विहीन होते हैं, यदि समझौता करने में असफल हैं तो बल शेष रह जाता है परंतु बल को सफलता मिले तो भविष्य में समझौता करने की कोई भी आशा नहीं रह जाती। शक्ति और प्राधिकार कभी-कभी दयालुभाव से उपलब्ध होते हैं परन्तु उन्हें दरिद्रता और असफल हिंसा द्वारा भीख मांग कर प्राप्त नहीं किया जा सकता। बल के लिए एक अन्य आपत्ति है कि आप किसी वस्तु को सुरक्षित रखने के लिए किसी न किसी प्रकार मरम्मत कर सकते हैं। आपने जिस बात के लिए लड़ाई की (लोगों की स्वामिभक्ति प्राप्त की जाए) वह ऐसी बात नहीं है जो आप प्राप्त करते हैं परन्तु आप संघर्ष में उसका मूल्यापकर्ष, मरणासन्न स्थिति, बर्बादी और खपत कर लेते हैं।''

अनुमति द्वारा सरकार बहुत समय पूर्व राजनैतिक बुद्धिमत्ता के सिद्धांत के रूप में भारतीय कार्यपालिका द्वारा वस्तुतः स्वीकार कर ली गई थी और भारतीय विधान-मंडल के संविधान में समय-समय पर किए गए परिवर्तन स्पष्टतया इस प्रयोजन के लिए बनाए गए जो जन इच्छा को व्यक्त करते थे। कुछ समय के लिए यह परिणाम निकला जिसके अनुसार भारतीय कार्यपालिका और भारतीय विधायिका के मध्य आश्चर्यजनक समझौता बना रहा इतना ही नहीं राजादेश और वेस्टील को भारतीय विधान-मंडल का बहुमत प्राप्त था। परन्तु इस सभी के होते हुए भी अनुमति अथवा समझौते द्वारा यह सरकार क्षमावरण थी। दूसरी ओर भारतीय विधान-मंडल के संविधान में समय-समय पर किए गए परिवर्तनों के विश्लेषण से स्पष्ट रूप से यह विदित होता है कि इन परिवर्तनों का उद्देश्य यह था कि विधान मंडल को निष्क्रीय अथवा कार्यपालिका के हाथों में कठपुतली संस्था बनाना था। कार्यपालिका से नितांत अलग[1] प्रथम बार विधान-मंडल का 1853[2] में उद्घाटन हुआ। परन्तु विधान-मंडल के संविधान में 1861[3] में परिवर्तन कर दिया गया। इसके आधार पर जोर दिया गया कि विधान-मंडल भारतीय लोगों के प्रतिनिधियों की निकाय नहीं है।[4] अनेक प्रांतीय सरकारों के प्रतिनिधि सरकारी वर्ग से इसके बनाए गए। विधान-मंडल को लोगों का प्रतिनिधि बनाने के लिए 1861 के अधिनियम में यह निर्देश दिया गया कि इसके गठन में उन सदस्यों को सम्मिलित किया जाए जो जनता में से कार्यपालिका की

---

1. 1833 तक कार्यपालिका ही विधायिका थी। 1833 में कार्यकारी परिषद् में एक विधि सदस्य सम्मिलित किया गया। जिसका कार्य परिषद् को विधि निर्माण में सहायता देना था। 1853 के अधिनियम द्वारा उसे कार्यकारी परिषद् में समाहित कर लिया गया।
2. विक्टोरिया 16 एवं 17, सी 95
3. विक्टोरिया 24 और 25, सी 67
4. 1853 के अधिनियम द्वारा भारत सरकार की कार्यकारी परिषद् के सदस्यों के अलावा बंगाल के उच्च न्यायालय के दो न्यायाधीशों तथा बंगाल, मद्रास, मंबई और उत्तर पश्चिमी प्रांतों की सरकारों के नामांकित सदस्यों द्वारा सर्वोच्च विधान-मंडल का गठन किया गया।

सलाह से गवर्नर जनरल द्वारा नाम निर्देशित किए गए सदस्य हों। 1892 के अधिनियम द्वारा गवर्नर जनरल को निर्देश दिया गया कि विधान-मंडल में से ऐसे व्यक्तियों को नामांकित किया जाए जो देश में लोक निकायों द्वारा चुने गए थे। विधान-मंडल के संविधान में इन परिवर्तनों का उद्देश्य विधान-मंडल को उदार बनाना था। परन्तु क्या यह प्रवृत्ति विधान-मंडल के प्रतिनिधि को ऐसा बनाना था कि उसमें ऐसी प्रवृत्ति हो जाए कि वह कार्यपालिका के मुकाबले अधिक शक्तिशाली हो? इस प्रवृत्ति का विपरीत प्रभाव रहा। विधानमंडल ने अपने प्रतिनिधित्व चरित्र को अपनाया परन्तु उसने नियंत्रण की शक्ति को खो दिया। 1853 के अधिनियम के अधीन विधान-मंडल द्वारा कार्य में लाई गई शक्तियां 1861 के अधिनियम के अधीन विधान-मंडल द्वारा अपनाई गई शक्तियों से कहीं अधिक थीं। पूर्व अधिनियम के अधीन भारतीय विधान-मंडल को इंग्लैंड के हाउस ऑफ कामन्स की प्रक्रिया के अनुसार ऐसा रूप दिया गया कि यह विधान-मंडल शुद्ध तथा सरल ढंग से विधायिका के मामलों को ही नहीं देखता था अपितु प्रशासन के मामलों को भी देखता था। सर सी. इलबर्ट के शब्दों में यह व्यक्त किया गया है कि इसने कार्यपालिका सरकार के कानूनों के औचित्य पर प्रश्न करने तथा उनके बारे में विचार-विमर्श द्वारा कुछ असुविधाजनक स्वतंत्रता दिखाई – स्वयं को दुर्व्यवहार तथा शिकायतों के बारे में सतर्कता करने के लिए सक्षम बताया तथा इसके स्थानीय प्रशासनों से रिपोर्ट और विवरण पत्र मंगाए और कार्यपालिका सरकार से स्वतंत्र रूप में संकल्प तथा प्रस्ताव प्रस्तुत किए और लोकहित के मामलों पर लंबी बहस की। उस समय लार्ड केनिंग ने अपने ज्ञापन में यह बताया कि विधान-मंडल हाउस ऑफ कामन्स के समान अति निकट से प्रक्रिया के स्वरूप और विधि में निहित है, तथापि परिषद् में एकत्र एक दर्जन महानुभावों की प्रक्रिया को नियमित करने के लिए 136 स्थाई आदेश थे, संक्षेप में सर लारेंस पील के शब्दों में व्यक्त किया गया कि विधान-मंडल ने देश की जांच पड़ताल की प्रकृति के अनुसार अपना कार्यक्षेत्र बना लिया। 1853 के अधिनियम द्वारा निर्मित विधान-मंडल में यह गंभीर दोष समझा गया। इसलिए इसके सुधार के लिए और कार्यपालिका की सर्वोच्चता को बनाए रखने के लिए अधिक आवश्यक समझा गया तथा इसकी अलोकप्रिय प्रवृत्ति को इसके पुनर्निर्माण के लिए तथाकथित बहाना माना गया। 1861 में प्रारंभ किए गए छद्म प्रतिनिधि पद्धति के अंतर्गत विधान-मंडल कार्यपालिका के हाथों में नितांत विनम्र निकाय रही। यह नामांकित सदस्यों द्वारा गठित की गई थी अत: विधान-मंडल में डिवीजन उस तथ्य से प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित था। प्रत्येक विधायी निकाय में एक व्यक्ति को भाग लेना चाहिए जब तक उसे वंशानुगत अधिकार प्राप्त न हो जिसे आधुनिक बोलचाल में अधिदेश कहा जाता है। वह अधिदेश प्राय: उस प्राधिकार से आगे बढ़ता है जिसके प्रति वह

अपनी सीट के लिए आभारी होता है। सरकारी और गैर-सरकारी नामांकित सदस्यों ने कार्यपालिका की सद्भावना से विधान-मंडल में अपना स्थान प्राप्त किया और इस प्रकार विधान-मंडल को उन कानूनों के बारे में कार्यपालिका को सहायता देनी थी जिसके बारे में मत विभाजन हुआ हो। कार्यपालिका सदैव उन नामांकित सदस्यों के सरकारी समूह (ब्लाक) पर अपना नियंत्रण रखती थी जो कार्यपालिका के अधि देशों के प्रति स्पष्ट रूप से आज्ञाकारी रहे क्योंकि कार्यपालिका की दृढ़ धारणाएं थीं अथवा उसी के एक भाग होने के नाते ऐसा था। ऐसे नामांकित गैर-सरकारी सदस्य स्वतंत्र सदस्य नहीं थे जो कार्यपालिका की दृढ़ धारणा के विपरीत हों और अधिकांशतया वे कार्यपालिका के अनुकूल रहते थे। बजाए इसके उन्हें कार्यपालिका के सदस्यों के समान समझा जाए। परन्तु यदि वे स्वतंत्र प्रकार के लोग होते फिर भी वे कार्यपालिका के सदस्यों को अपने अधीन नहीं कर पाए क्योंकि संवैधानिक कानून के उपबंध तथा उसके अधीन निर्मित प्रक्रिया के नियमों में वांछित प्रावधान नहीं था। अतः विधान-मंडल नितांत रूप से इतना शक्तिहीन हो गया था कि वह कार्यपालिका को अपनी इच्छाओं के विपरीत दबाव डाल सके। 1853 से 1861 तक विधान-मंडल ने विधायी तथा प्रशासकीय मामलों का निपटान किया। 1861 से विधान-मंडल केवल विधायी प्रयोजनों के लिए कार्य करता रहा। उस सीमा के फलस्वरूप विधान-मंडल प्रश्न पूछने, प्रस्ताव प्रस्तुत करने अथवा बजट पर मत विभाजन के लिए आग्रह करने से वंचित रह गया। विधान-मंडल अपने जीवन के प्रथम तीस वर्ष में सोलह अवसरों से अधिक पर अपने वार्षिक बजट पर भी बहस नहीं कर सका और इन अवसरों पर इसलिए बहस कर पाया क्योंकि कुछ नवीन कर विधान के लिए आवश्यक कार्य था तथा वह कार्य नामांकित सरकारी ब्लाक की सहायता से सदैव कार्यपालिका निभाती रही क्योंकि कार्यपालिका ने प्रत्येक प्रकार का विधान किया जिसे वह आवश्यक समझती थी। 1892 के भारतीय परिषद् अधिनियम (इंडियन काउंसिल एक्ट) के अधीन बनाए गए प्रक्रिया के नियमों द्वारा सर्वप्रथम विधान-मंडल वार्षिक वित्तीय वक्तव्य पर बहस करने का अधिकार तथा विभिन्न विषयों पर प्रश्न करने का अधिकार प्राप्त कर सका। परन्तु इसमें संदेह किया जा सकता है कि क्या विधान-मंडल को शक्तियों की रियायतें उस स्थिति को पुनः बनाए रखने के लिए थीं जो उसके अधिकार क्षेत्र में थीं तथा ऐसा आधि पत्य 1853 के अधिनियम के अंतर्गत कार्यान्वित किया गया था।

यहां तक कि लार्ड मार्ले के सुधार भी कार्यपालिका पर विधान-मंडल की स्वतंत्रता तथा शक्ति के वास्तविक कानून के मामले में कम रहे। उन्होंने प्रत्यक्ष अथवा चयन के अनुसार 1909 में नामांकन में सुधार किए, उन सुधारों में विधान-मंडल के संविधान के आधार के रूप में सैद्धांतिक रूप से चुनाव को स्थान दिया गया।

इसके साथ ही विधान-मंडल की प्रक्रिया को उदार किया गया ताकि सदस्यों को प्रश्नों के साथ पूरक प्रश्न पूछने, वित्तीय वक्तव्य और सामान्य लोक हित के मामलों में प्रस्ताव प्रस्तुत करने की शक्ति प्रदान की जाए। परन्तु थोड़ा-सा विश्लेषण यह बताने के लिए पर्याप्त है कि कार्यपालिका की सर्वोच्चता को हानि पहुंचाए बिना विधान-मंडल के उदारीकरण का पुराना प्रयास एक आंशिक प्रयास था।[1] कार्यपालिका की यह सर्वोच्चता विधान-मंडल में नामांकित सरकारी कर्मचारियों का स्थाई बहुमत तथा प्रक्रिया के नियमों के नियंत्रण द्वारा बरकरार रखी गई। यद्यपि विधान-मंडल के गठन के आधार के रूप में 1892 के अधिनियम द्वारा चुनाव स्वीकार किया गया था।[2] चुने गए सदस्य अल्पमत में थे ताकि वे उन लोगों की इच्छाओं को प्रभावकारी नहीं बना पाएं जिन्होंने उन्हें चुना था। उन्हें प्रस्ताव प्रस्तुत करने का अधिकार था यदि कार्यपालिका उन्हें अनुमति देती।[3] परन्तु कार्यपालिका उन्हें निभाने के लिए बाध्य नहीं थी। वे सिफारिशें मानी जाती थीं और वे कार्यपालिका पर बाध्य नहीं थीं। इस सीधे अवरोध से कार्यपालिका और विधान-मंडल के निर्वाचित सदस्यों के बीच मन-मुटाव पैदा हो गया। निश्चित रूप से यह 1909 के सुधार कार्य की दृष्टि से ठीक नहीं थे। 1909 के पूर्व जो कुछ भी संघर्ष था, वह विधान-मंडल के बाहर प्रकट होता था। चुनाव और प्रक्रिया के नियमों द्वारा विधान-मंडल पूर्ण रूप से हतोत्साह हो गया था। वह कोई शरारत नहीं कर सकता था। फिर भी 1909 के सुधारों द्वारा इस बात का प्रयास किया गया कि विधान-मंडल को स्वतंत्र बनाया जाए और इसके साथ ही उसे हतोत्साह भी किया जाए। यह प्रयास कितना ही उत्तम क्यों न हो, इससे कार्यपालिका और लोगों के मस्तिष्कों में उत्तेजित करने वाली शक्तियों के बीच अति गहन संघर्ष को उभारने में सहायता मिली। चुनाव प्रक्रिया या विधान-मंडल को शासित करने वाली

---

1. आयरिश होम रूल के समर्थन द्वारा उदारीकरण के नेता के रूप में विश्वविख्यात लार्ड मार्ले ही थे जिन्होंने भारत में राजनीतिक सुधारों को प्रारंभ करते हुए कहा था ''यदि मुझे यह पता होता कि मेरे दिन या तो सरकारी अथवा शारीरिक रूप से बीस गुना होते जैसी कि संभावना की जाती है तो मैं भारत में संसदीय पद्धति के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए खेद प्रकट करता। भारत में संसदीय पद्धति वह लक्ष्य नहीं है जिसके लिए मैं एक क्षण भी आकांक्षा करूं।''
2. फिर भी यह चयन की पद्धति थी। 1861 के अधिनियम और 1892 के अधिनियम में केवल यही अंतर था कि 1861 के एक्ट के अधीन कार्यपालिका सरकार को समुदाय के वर्गों की सलाह पर नामांकित करना था जैसा कि उस मामले में सहायता करने के सक्षम होने की संभावना है। परन्तु चूंकि सरकार इस बात पर बाध्य नहीं थी कि चुने गए व्यक्ति को नियुक्त करे फिर भी दूसरा छिपा हुआ ही क्यों न हो, कार्यपालिका द्वारा वस्तुत: नामांकित समझा जाना चाहिए जैसा कि पहला था।
3. कानून के अनुसार परिषद् के अध्यक्ष अर्थात् वायसराय थे परन्तु उन्हें कार्यकारी परिषद् की सलाह पर निरपवाद रूप से कार्यशील माना जाता है।

क्रियात्मक प्रक्रिया प्रोफेसर रेडलिच के कथनानुसार राजनीतिक दबाव का माप है जो संसदीय तंत्र के तनाव को व्यक्त करती है और इसका प्रभाव पूरे प्रांत पर होता है।[1] यह संभव है कि यह दबाव का माप सर्वप्रथम था तो बुरी दशा में निर्मित हुआ है अथवा भंग हो गया है जो वास्तविक तनाव का अशुद्ध पठन प्रस्तुत करता है। परन्तु इसमें कोई संदेह नहीं है कि भारत के मामले में कार्यपालिका ने समय-समय पर और विशेषकर 1909 में विधान-मंडल के चुनाव तथा कार्य प्रक्रिया में परिवर्तन किए, वे उद्देश्य की दृष्टि से अच्छे नहीं थे तथा इस बात का प्रयास किया कि राजनीति की घोर उत्तेजना के फलस्वरूप खतरनाक दबाव को छिपाया जा सके ताकि स्थिति के बारे में अशुद्ध पठन प्रस्तुत किया जाए। जब तक विधान-मंडल के सदस्य कार्यपालिका से अधिदेश प्राप्त करते रहे, जबकि तथ्य यह था कि सभी नामांकित सदस्य थे, तब तक यह युक्ति भलीभांति कार्य करती रही, इसके साथ ही उन निर्वाचित सदस्यों की प्रविष्टि होती रही जो जनता से अधिदेश प्राप्त कर चुके थे अतः इस युक्ति की कमजोरी स्पष्ट हो गई। निर्वाचित सदस्यों की अवमानना ने उन्हें प्रक्रिया का सैद्धांतिक आधार के रूप में मान्यता प्राप्त महान आधारभूत सिद्धांतों में बाधा डालने तथा उन्हें चुनौती देने की ओर उन्मुख किया। अब यदि किसी पार्टी ने कार्यवाहियों के चलाने के नियमों – वाक् स्वातंत्र्य अथवा लोगों के बहुमत के बारे में सदस्यों में असमानता की शिकायत की तो यह राष्ट्र के जीवन में कुछ गंभीर दोषों के अस्तित्व को प्रदर्शित करने वाला खतरनाक संकेत है। यदि कोई ऐसा संघर्ष उत्पन्न होता है तो किसी राजनेता को यह जानने के लिए है कि क्या उसे प्रतिनिधि विधानसभा की प्रक्रिया में सुधार अथवा देश के संविधान में सुधार करना है।

यदि विधान सभा में उस कठोर विपक्ष और क्रांति के संकेत थे जो अफलित प्रयासों से उत्पन्न होते हैं तो विधान-मंडल के बाहर ऐसी भावना शीघ्र ही उभर रही थी जिससे शिक्षित भारतीयों के मस्तिष्कों मे शीघ्रता से राष्ट्रीय चेतना और राजनीतिक शक्ति की इच्छा हर वक्त बढ़ रही थी, इसमें कोई संदह नहीं क्योंकि अपनी सीमित शक्तियों के साथ विधान-मंडल अपर्याप्त सुरक्षा वाला पाया गया। इस तथ्य के सिद्ध होने के फलस्वरूप उन लोगों ने जिन्होंने देश के राजनीतिक पुनर्निर्माण के विचारों को त्याग दिया था, इस बात पर सहमति प्रकट की कि प्रक्रिया में केवल सुधार करके काम नहीं चलेगा। केवल संविधान में सुधार से देश को अराजकता से बचाया जा सकेगा।

फिर भी भारत के संविधान में परिवर्तन को प्रभावी बनाने के लिए प्रस्तावित सुधारों में काफी विविधता थी। इस परिप्रेक्ष्य में एक योजना पर ध्यान दिया जाए। यह योजना भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस तथा मुस्लिम लीग ने प्रतिपादित की थी और

---

1. देखिए जे. रेडलिच, *पार्लियामेंट्री प्रोसीज्युर* (संसदीय प्रक्रिया), खंड 3, पृ. 198

सारांश में इस योजना को कांग्रेस-लीग योजना कहा जाता है।[1] इस योजना के अनुसार केन्द्रीय विधान-मंडल में चुने गए सदस्यों के 4/5 भाग के बहुमत की मांग की गई थी। जहां तक कार्यपालिका का प्रश्न है यह मांग की गई थी कि कार्यपालिका के कुल सदस्यों में से आधे सदस्य भारतीय होने चाहिए और उनका चयन विधान-मंडल के चुने गए सदस्यों द्वारा किया जाना चाहिए। विधान-मंडल को पूर्ण वित्तीय और विधायी शक्तियां उपलब्ध थीं। इतना ही नहीं प्रस्तावों द्वारा पारित इसकी सिफारिशें कार्यपालिका पर बाध्य मानी जाती थीं। इस प्रकार भारत की जनता की ओर से यह प्रमुख भारतीय राजनीतिक संगठनों के दावों की नवीनतम्, सबसे पूर्ण और सबसे प्राधिकृत प्रस्तुति थी। परन्तु जब हम योजना का विश्लेषण करते हैं तो यह भारतीय राजनीतिज्ञों की अकिंचन राजनीतिक प्रतिभा पर प्रकाश डालती है। यह योजना ब्रिटिश भारत (ब्रिटिश इंडिया) में उत्तरदायी सरकार की पूर्ति के लिए निर्मित की गई थी। परन्तु व्यवहार की दृष्टि से यह उत्तरदायी सरकार का साधन ही नहीं थीं अपितु श्रेष्ठ सरकार के उद्देश्यों की अल्प सेवा के लिए भी अपर्याप्त थी। इस योजना ने यह नहीं बताया कि क्या विधान-मंडल की अपनी इच्छानुसार कार्यपालिका के निर्माण अथवा उसे समाप्त करने की शक्ति होगी। यदि इस योजना में यह बात उठाई गई होती तो इस योजना को उत्तरदायी सरकार की योजना माना जा सकता था। परन्तु इस योजना में कार्यपालिका पर दबाव डालने की बात उठाई गई जो विधान-मंडल के आदेशों के अनुसार देश के शासन को चलाने के लिए अस्थानान्तरीय थी। यह योजना लार्ड मार्ले की बृहद् योजना का एक अंश थी। उन्होंने सरकार में भारतीय तत्त्व को प्रारंभ किया ताकि कार्यपालिका के सरकारी विधायिकी अंग के माध्यम से जो कुछ होता है उसके अलावा भारतीय मत और भारतीय परामर्श का कार्यपालिका में प्रभाव बढ़े। जिन लोगों ने कांग्रेस-लीग योजना बनाई थी उन्होंने कार्यपालिका और विधान-मंडल में भारतीय तत्त्व की केवल वृद्धि की और उसमें ऐसे उपबंध शामिल कर दिए जिनका उद्देश्य यह था कि चरितार्थ किए बिना परामर्श को नियंत्रण में परिवर्तन करना था कि उस समय क्या होगा यदि कार्यपालिका ने विधान-मंडल की इच्छाओं से बाधित होने से इंकार कर दिया। इस परियोजना का सारांश एक कार्यपालिका बनाना था जिसमें विभाजित अधिदेश था और वैध रूप से यह संसद के प्रति उत्तरदायी थी और व्यावहारिक रूप से विधान-मंडल के प्रति उत्तरदायी थी। यह स्पष्ट था कि इस प्रकार अधिदेशों के विभाजन से विधानमंडल को इस योग्य बना दिया गया था कि वह कार्यपालिका को हटाने की शक्ति के बिना उसे निष्क्रिय कर सकती थी। मतदाताओं

---

1. यह *ईस्ट इंडिया कान्स्टीट्यूशनल रिफार्मस* (संवैधानिक सुधारों) में है, 1918 का कमांड 1918, पृ. 98

से अपील द्वारा किसी संघर्ष के मामलों में विधान-मंडल को परिवर्तित करने के लिए किसी भी संवैधानिक उपाय के बिना सरकार के लिए यह दायित्व था कि वह ऐसे मामले में तब कार्य करे जहां वह विधान-मंडल की इच्छाओं का आदर नहीं कर पाए। योजना अविश्वस्त थी जैसा कि इससे पूर्व भारतीय संविधान में सुधार करने के प्रयत्न किए गए थे। क्योंकि इस योजना में कार्यपालिका और विधान-मंडल ने अपने अधि देश प्राप्त किए थे और वे अलग-अलग शक्तियों के प्रति उत्तरदायी थे। यह योजना अविश्वस्त इसलिए थी क्योंकि इसने इस संभावना की उपेक्षा की कि दो अधिदेश परस्पर सहमत नहीं हो सकते और ऐसी दशा में संघर्ष होगा। यह संघर्ष गैर-संसदीय कार्यपालिका में अंतर्निहित था। संसदीय कार्यपालिका के साथ संसदीय सरकार का स्वरूप इसे बचाने का एकमात्र मार्ग था।

इस दृष्टिकोण से 20 अगस्त, 1917 की घोषणा भारतीय संविधान के विकास के इतिहास में अधिक महत्त्वपूर्ण है। उस तारीख को भारत सचिव (सेक्रेटरी ऑफ स्टेट फॉर इंडिया) ने हाउस ऑफ कामन्स में यह घोषणा की थी कि ''महामहिम की सरकार की जो नीति है उससे भारत सरकार पूर्णतया सहमत है, इस नीति के अनुसार भारतीयों को प्रशासन की प्रत्येक शाखा और स्वशासी संस्थाओं के शनैः शनैः विकास में भागीदार होना चाहिए ताकि ब्रिटिश साम्राज्य के समन्वित भाग के रूप में उत्तरदायी भारत सरकार का प्रगतिशील आविर्भाव हो। उन्होंने यह निर्णय किया है कि इस दिशा में ठोस कदम यथासंभव शीघ्रता से उठना चाहिए...''

> ''मैं कहना चाहूंगा कि इस योजना की प्रगति क्रमिक अवस्थाओं में ही उपलब्ध हो सकती है। ब्रिटिश सरकार और भारत सरकार दोनों पर ही भारत के लोगों के कल्याण और उन्नति का दायित्व निर्भर करता है अतः उन्हें प्रत्येक उन्नति के समय और साधन का न्यायाधीश होना चाहिए तथा उन्हें उन लोगों से प्राप्त सहयोग से मार्गदर्शन प्राप्त करना चाहिए जिन पर सेवा के नए अवसर इस प्रकार प्रदत्त होंगे तथा उस सीमा तक होंगे जिसमें उसे प्राप्त हो कि उनके उत्तरदायित्व की भावना में विश्वास निहित है।''

यह महत्त्वपूर्ण घोषणा एक युग के अंत को व्यक्त करती है तथा एक नए युग का सूत्रपात करती है। इस निश्चय ने ही उस पुरानी संकल्पना को त्याग दिया जिसके अंतर्गत कार्यपालिका ने जैसा ठीक समझा विधान-मंडल की इच्छाओं की जानकारी ली जिसे देश के प्रशासन में बढ़ता हुआ भाग और प्रभावित करने वाली तथा आलोचना करने के बढ़ते हुए अवसर भी दिए गए परन्तु सरकार को नियंत्रित करने के लिए ऐसा नहीं किया गया। नई संकल्पना के अधीन यह उद्देश्य था कि

विधान-मंडल को सरकार बनाने अथवा समाप्त करने की शक्ति प्रदान की गई थी ताकि जनता की, जनता के लिए और जनता द्वारा सरकार स्थापित हो। देश की राजनीतिक संस्थाओं के आधार पर नीति में ऐसे परिवर्तन के अनुकूलन में परस्पर संबंध, प्रशासनिक विधायिका और वित्तीय व्यवस्था में सुदूरगामी परिवर्तन निहित थे। 1919 के सुधार अधिनियम के फलस्वरूप प्रारंभ किए गए प्रांतीय वित्त की पद्धति उस समय लागू पद्धति के अंतर्निहित दोषों द्वारा उत्पन्न नहीं हुई थी। दूसरी ओर यह पद्धति उत्कृष्ट रूप से व्यावहारिक थी। वे प्रभावित हुए क्योंकि यह पद्धति कुल मिला कर उस महान क्रांति के असंगत थी जिसने उस अधिनियम द्वारा देश की सरकारी पद्धति को प्रभावित किया।

इन परिवर्तनों की प्रकृति, उनके विस्तार तथा उनकी पर्याप्तता आगामी दो अध्यायों की विषय-सामग्री होगी।

11

परिवर्तन का स्वरूप

भारत में भावी ब्रिटिश नीति के लक्ष्य के रूप में 20 अगस्त, 1917 की घोषणा उत्तरदायी सरकार के प्रगतिशील स्थिति के बारे में थी तथा उस घोषणा को प्रभावी बनाने के लिए संवैधानिक सुधारों के बारे में मांटेग्यू–चेम्सफोर्ड रिपोर्ट ने उपायों का सर्वेक्षण किया। इस रिपोर्ट में एक गुण यह निहित था कि राजनीतिक सुधारों की कांग्रेस–लीग–योजना उस मान्यता के सिद्धान्त को शामिल नहीं कर सकी जिसके लिए वे इतने अधिक समय से आंदोलन कर रहे थे। भारत में उत्तरदायी सरकार के उद्घाटन के बजाए इस योजना ने देश में सरकार की संसदीय शासन प्रणाली के अधीन गैर–संसदीय कार्यपालिका से देश को लाद दिया था। कांग्रेस–लीग राजनीतिज्ञ अपनी भूल के प्रति आश्वस्त रहे, यह उनकी प्रशंसा की बात है, उन्होंने संयुक्त रिपोर्ट में दिए गए प्रस्तावों के पक्ष में अपनी योजना को त्याग दिया। परन्तु उसके बदले में उन्होंने एक साथ अधिकांश राजनीतिक संस्थाओं में न्यूनाधिक पूर्ण उत्तरदायी सरकार के प्रारंभ करने की मांग की। परन्तु नए संविधान के निर्माताओं ने बताया कि घोषणा में प्रगतिशील शब्द पर जोर देना इतना अवश्य अधिक था यदि बहुत न था जितना उत्तरदायी शब्द पर दिया गया था।[1]

इस विचार की सामंजस्यता में यह निर्णय लिया गया कि घोषणा में दिए गए लक्ष्य के चरितार्थ करने की प्रगति में ठोस कदम के रूप में प्रांतीय सरकारों में सीमित प्रकृति की उत्तरदायी सरकार को प्रारंभ किया जाए। केन्द्रीय सरकार के समान भारत में प्रांतीय सरकारें अनुत्तरदायी सरकारें थीं। प्रांतीय विधान–मंडलों में संविधान में किए गए परिवर्तन ठीक उसी प्रकार के थे जैसे कि केन्द्रीय विधान–मंडल के थे। इन दोनों में यह प्रावधान किया गया था कि कार्यपालिका को ऐसा बनाया जाए कि कार्यपालिका के नियंत्रण में उत्तरदायी हुए बिना विधान–मंडल से परामर्श

1. गवर्नमेंट ऑफ इंडिया बिल की संयुक्त चयन समिति की रिपोर्ट, पृ. 203, 1919, पी.एस. पैरा 7

किया जाए। केवल एक अवसर पर सरकारों के दो तंत्रों की संरचनाएं थीं, उनमें से एक प्रांतीय थी और दूसरी केन्द्रीय जो कुछ अलग-अलग आधार पर निर्मित हुई थीं और 1909 के मार्ले-मिंटो सुधारों में जिनका उल्लेख किया जा चुका है। उन सुधारों के अधीन केन्द्रीय विधान-मंडल उन सरकारी सदस्यों के आधिपत्य में था जिन्होंने कार्यपालिका के सदस्यों के साथ चैम्बर में स्थाई बहुमत बना लिया था। प्रांतीय विधान-मंडलों में सरकारी सदस्यों के स्थाई बहुमत का सिद्धांत समाप्त कर दिया गया था। केन्द्रीय विधान-मंडल की तुलना में प्रांतीय विधान-मंडलों के संविधान में अंतर की दूसरी बात दोनों सरकारों की बजट प्रक्रियाओं में निहित थी। प्रत्येक केलेंडर वर्ष के प्रारंभ में वित्त सदस्य केन्द्रीय विधान-मंडल में अपने व्याख्यात्मक ज्ञापन के साथ अपने प्रारंभिक अनुमान प्रस्तुत करता था। बाद में किसी दिन वह ऐसी अन्य व्याख्याएं किया करता था जिन्हें वह आवश्यक समझता था। इन अनुमानों पर विधान-मंडल के सदस्य अपने प्रस्ताव प्रस्तुत करते थे जिनका संबंध (क) कराधान में परिवर्तन का प्रस्ताव (ख) ऋण का प्रस्ताव अथवा (ग) स्थानीय सरकार के अतिरिक्त अनुदान से होता था। भारत सरकार के बजट के विचार-विमर्श की पहली अवस्था उस समय समाप्त हो जाती थी जब इन प्रस्तावों पर मतदान हो जाता था। दूसरी अवस्था उस समय प्रारंभ होती थी जब अनुमानों पर ग्रुप (समूह) द्वारा विचार किया जाता था। इस अवस्था में भी सदस्यों को यह छूट थी कि वे राजस्व और व्यय के बारे में प्रस्ताव प्रस्तुत करें किन्तु प्रतिबंध यह था कि उन विषयों पर प्रस्ताव प्रस्तुत नहीं किए जा सकते थे जो विधान-मंडल में प्रक्रिया के नियमों के अनुसार विचार-वमर्श के लिए वर्जित थे। प्रस्ताव प्रस्तुत और मतदान होने के बाद वित्त सदस्य पूरी बहस पर विचार करता था और ऐसे परिवर्तन करता था जिन पर उसकी सहमति होती थी और इसके बाद अंतिम बजट प्रस्तुत करता था। इसके बाद तीसरी अवस्था में वित्त सदस्य कुछ प्रस्तावों को स्वीकार करने के कारण बताता था और बजट की बहस के दौरान जिन सुझावों को स्वीकार नहीं किया जाता था उनके भी कारण बताता था। इसके बाद बजट पर आम बहस होती थी परन्तु अंतिम बजट प्रस्तुत करने अथवा मत लिए जाने के बाद किसी भी प्रस्ताव के प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं दी जाती थी। प्रांतीय विधान-मंडलों में बजट की प्रक्रिया कुछ अलग होती थी। पहली अवस्था में प्रांतीय अनुमानों का कच्चा मसौदा प्रारंभ किया जाता था और इसके साथ ऐसी अनुसूची संलग्न की जाती थी जिसमें सभी परियोजनाएं जिनका व्यय पांच रुपये से अधिक होता था शामिल की जाती थीं। इसे दो भागों में विभाजित किया जाता था, प्रथम भाग में सभी आबंटित अर्थात् अनिवार्य और व्यय की मदें होती थीं तथा दूसरे भाग में अनाबंटित अर्थात् अनावश्यक और व्यय की मदें शामिल की जाती थीं। भारत सरकार को बजट का मसौदा प्रस्तुत किया जाता था जो प्रांतीय सरकार के परामर्श से राजस्व के अनुमान ठीक करती थी और कुल

ऐसे व्यय को निर्धारित करती थी जो प्रांतीय सरकार के लिए उपलब्ध किए जाते थे और यदि आवश्यकता होती तो अनुसूची के प्रथम भाग की मदों में परिवर्तन किया जाता था। जब परिवर्तित राजस्व और भारत सरकार द्वारा निर्धारित कुल व्यय के आंकड़े प्रांतीय सरकार को बताए जाते थे तो प्रांतीय सरकार की पहली अवस्था समाप्त हो जाती थी। दूसरी अवस्था उस समय प्रारंभ होती थी जब प्रांतीय सरकार द्वारा बजट का मसौदा प्रांतीय विधान-मंडल की समिति को प्रस्तुत किया जाता था। समिति में सरकारी और गैर-सरकारी सदस्यों की बराबर की संख्या होती थी। सरकारी सदस्य सरकार द्वारा नामांकित किए जाते थे और गैर-सरकारी सदस्य उनके साथियों द्वारा निर्वाचित किए जाते थे। प्रांतीय वित्त की कार्यपालिका के प्रभारी सदस्य द्वारा अध्यक्षता की जाती थी। समिति की कार्यवाहियां अनौपचारिक और निजी होती थीं तथा बहुमत से निर्णय लिए जाते थे। समिति का संबंध उस अनुसूची के दूसरे भाग तक की सीमित होता था जिसमें व्यय की अनावश्यक मदें शामिल की गई थीं किन्तु शर्त यह थी कि यह भारत सरकार द्वारा निर्वाचित कुल व्यय से अधिक नहीं होंगे। लेकिन यह उसके घटबढ़ करने के लिए स्तंभ थी तथा इसमें समय-समय पर नई मदें शामिल की जाती थीं। उसके परिवर्तन के निष्कर्ष निकालने पर समिति ऐसे परिवर्तनों की सूचना देती थी जो उसने अपनी सरकार के लिए बनाए थे। इसके साथ ही प्रांतीय बजट की दूसरी अवस्था समाप्त हो जाती थी। तीसरी व्यवस्था उस समय प्रारंभ होती थी जब प्रांतीय अनुमान कुल मिला कर वित्त के प्रभारी सदस्य द्वारा प्रांतीय विधान-मंडल को प्रस्तुत किए जाते थे। इसके बाद बजट पर पूर्ण सदन की समिति में विचार किया जाता था और बहस किए गए अनुमानों के प्रत्येक गुण पर प्रस्ताव प्रस्तुत किए जाते थे। जब सभी प्रस्तावों पर बहस हो जाती थी और उन पर मतदान कर लिया जाता था तो इस बहस के परिणाम को प्रांतीय सरकार को प्रेषित किया जाता था। परन्तु ये प्रस्ताव बाध्य नहीं थे। चौथी अवस्था उस समय प्रारंभ होती थी जब प्रांतीय सरकार अंतिम बजट प्रस्तुत करती थी और इस बारे में कारण स्पष्ट करती थी कि कतिपय मदें क्यों स्वीकार की गई और विधान-मंडल द्वारा शेष सुझाव क्यों अस्वीकार किए गए। इसके बाद एक बहस की जाती थी परन्तु कोई भी प्रस्ताव इस अवस्था में सही नहीं होते थे तथा विधान-मंडल बजट पर विभाजित नहीं होता था। इसे उसी प्रकार स्वीकार कर लिया जाता था जैसा कि कार्यपालिका ने पारित किया था।

संविधान और केन्द्रीय तथा प्रांतीय सरकारों की प्रक्रिया में इन अंतरों से यह अनुमान नहीं लगाना चाहिए कि प्रांतीय सरकारें केन्द्र के अपने विधान-मंडलों में कम उत्तरदायी नहीं थीं। यह तथ्य है कि 1909 से प्रांतीय विधान-मंडल में सरकारी सदस्यों का बहुमत नहीं था जैसा कि केन्द्रीय विधान-मंडल में बहुमत था और यह ऐसा मामला नहीं था कि कार्यपालिका से इसके व्यावहारिक परिणामों का संबंध हो

किन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि व्यावहारिक दृष्टि से गैर–सरकारी और सरकारी सदस्यों से नामांकित सदस्यों और गैर–नामांकित सदस्यों में अंतर था तथा सरकारी सदस्य केवल सतही थे। दोनों ही उस सरकार से अधिदेश प्राप्त करते थे जो विधान–मंडल में उन्हें सीटें दिया करती थीं और सरकार के नामांकित सदस्यों के रूप में वे अपना मत दिया करते थे ताकि सैद्धांतिक रूप से ऐसा न भी हो तो भी व्यावहारिक दृष्टि से प्रांतीय सरकार विधान–मंडलों में इतना अधिक स्थाई बहुमत रखती थी जैसी कि केन्द्रीय सरकार सैद्धांतिक और व्यावहारिक रूप से रखती थी। प्रांतीय सरकार की बजट प्रक्रिया ने कार्यपालिका पर विधान–मंडल के अधिक नियंत्रण के मामले में केन्द्रीय सरकार द्वारा अपनाए गए सुधार से अधिक निश्चित नहीं किया। दोनों ही मामलों में लक्ष्य यह था कि विधान–मंडल के सदस्यों को बजट की आवश्यकताओं के संदर्भ में इस प्रकार के परिवर्तन के प्रश्न पर पहले ही बहस का विशेष अधि कार था। प्रांतीय बजट के मामले में इस विशेष अधिकार को साम्राज्यिक बजट की तुलना में पहली ही अवस्था में कार्यान्वित करने की अनुमति थी परन्तु इस तथ्य की दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि प्रांतीय बजट पर विधान–मंडल के प्रस्ताव और साम्राज्यिक बजट पर केन्द्रीय विधान–मंडल के प्रस्ताव अपनी–अपनी कार्यपालिकाओं की केवल सिफारिशें ही थीं। इन दोनों सरकारों की बजट प्रक्रिया में अंतर केवल यही था कि एक कार्यपालिका की अपेक्षा दूसरी कार्यपालिका पर अधिक नियंत्रण नहीं किया गया। यह भी व्यवस्था की गई थी कि प्रांतीय विधान–मंडल को प्रांतीय बजट के अनावश्यक भाग को बनाने के विशेषाधिकार की अनुमति दी गई थी। अतः विधान–मंडल को कार्यपालिका पर अधिक नियंत्रण नहीं दिया गया था। सर्वप्रथम प्रांतीय सरकार अनावश्यक व्यय के वर्ग से आवश्यक व्यय के वर्ग को किसी भी मद में स्थानांतरण द्वारा इस बजट के कार्यक्षेत्र को प्रतिबंधित कर सकती थी। इसके अलावा लोकवित्त के सामान्य सिद्धान्तों पर आधारित बजट प्रक्रिया के कुछ नियमों के कार्यान्वयन से प्रत्यक्ष रूप से समिति की शक्तियों को प्रतिबंधित किया गया ताकि वैकल्पिक अथवा अतिरिक्त व्यय की योजनाओं को प्रस्तुत किया जाए। यह ठीक ही शर्त रखी गई थी कि आवर्ती व्यय में निहित योजनाओं को आवर्ती राजस्व और आवर्ती व्यय की वृद्धि की दर के संबंध में निहित आवर्ती व्यय ही प्रस्तावित किया जा सकता था। इस नियम के कारण समिति को ऐसे प्रस्ताव छोड़ने पड़ते थे जिनमें आवर्ती व्यय निहित होता था परन्तु जो अपने दृष्टिकोण से वांछनीय होते थे। दूसरी ओर इसी प्रकार के प्रस्ताव कार्यपालिका द्वारा तैयार किए गए जिन्हें भारत सरकार की पूर्व स्वीकृति प्राप्त करने की मुक्त युक्ति से कार्यपालिका द्वारा सरलता से कार्यान्वित किया गया। इसका परिणाम यह था कि नए नियमों के अधीन प्रस्तुत सभी प्रांतीय बजटों में इस आबंटित निधि की राशि

समिति के विवेक पर छोड़ दी गई और इसमें से बजट के कुल व्यय का कुछ ही अंश नगण्य था ताकि प्रांतीय विधानमंडल के अधीन किसी भी वास्तविक मात्रा में प्रांतीय कार्यपालिका को उत्तरदायी बनाना था।

परन्तु कोई भी वास्तविक उत्तरदायी सरकार भारत में केन्द्रीय सरकार और अलग-अलग प्रांतीय सरकारों के बीच पारस्परिक संबंधों में पूर्ण परिवर्तन किए बिना प्रांतों में प्रारंभ नहीं की जा सकी। इन दोनों के बीच संबंध 1919 के अधिनियम के पारित होने के पूर्व मौजूद था और प्रांतीय सरकारें पूर्ण रूप से केन्द्रीय सरकार के अधीन थीं।[1] इस अधीनता के बंधन में हम तीन श्रृंखलाएं अर्थात् विधायी, वित्तीय और प्रशासकीय श्रृंखलाएं देख सकते हैं। इन तीनों श्रृंखलाओं में हमने यह देखा कि वित्तीय श्रृंखला कितनी कसकर बंधी हुई थी। भारत सरकार का राजस्व और व्यय पर नियंत्रण ऐसे संसदीय कानूनों द्वारा किया गया था जिन्होंने भारत के राजस्वों को एक माना था और कुल मिला कर उन्हें भारत सरकार के प्रयोजनों के लिए लागू किया गया था। यह सत्य है कि इस उपबंध का इतनी कठोरता से अर्थ नहीं निकाला गया ताकि अखिल भारतीय या प्रांतीय विशेष प्रयोजनों की आय के विशेष स्रोतों के विनियोग को बचाया जा सके। अन्यथा वित्त की प्रांतीय पद्धति का विकास असंभव ही होता। परन्तु उसने वास्तव में प्रांतीय सरकारों को उस प्रभाव से वंचित रखा जिनका संबंध उन राजस्वों के आंतरिक वैध अधिकार से था जो उन्होंने एकत्र किए थे। भारत सरकार ने पूर्णतया ब्रिटिश भारत में आरोपित कर निर्धारण पर नियंत्रण किया। इसमें वे स्थानीय कर नहीं थे जिन्हें स्थानीय निकायों ने एकत्र किया था। कानून द्वारा ही कराधान किया जाता था[2] परन्तु कानून ने भारत सरकार की पूर्व स्वीकृति के बिना प्रांतीय विधान-मंडल को यह विचार करने से वर्जित कर दिया था कि-

> "उस समय लागू कोई भी कानून भारत के लोग ऋण अथवा सीमा-शुल्क अथवा कोई भी कर या शुल्क को प्रभावित करने वाला और गवर्नर जनरल इन काउंसिल के प्राधिकार द्वारा भारत सरकार के सामान्य प्रयोजनों पर आरोपित करने वाला होगा।"

यह अखिल भारतीय आवश्यकताओं के लिए अखिल भारतीय राजस्व के वैधानिक रहननामे के स्वाभाविक परिणाम हैं। कानून प्रांतीय विधान-मंडल को ऐसे कराधान के नए स्रोत के लिए प्रांतीय प्रयोजनों के उपयोग से प्रतिबंधित नहीं करेगा

---

1. भारतीय संवैधानिक सुधारों पर रिपोर्ट, सी.डी. 1909, 1918, अध्याय 5
2. फिर भी एक स्पष्ट अपवाद है। भारत में भू-राजस्व बिना किसी विधायिका की स्वीकृति के एकत्र किया गया। विधान-मंडल के अधिकार क्षेत्र से भू-राजस्व के अलग करने से व्यावहारिक रूप से किसी भी नियंत्रण से शुद्ध लोक राजस्व के 40 और 50 प्रतिशत के बीच का भाग अलग हटा दिया गया।

जिसकी खोज के लिए उसमें पटुता है। परन्तु ऐसे मामले में परियोजना को कार्यरूप से परिणत करने से पूर्व भारत सरकार के वित्त विभाग की अनुमति लेनी होगी और यह अनुमति उस समय तक नहीं दी जाएगी जब तक कि निकटता से यह विचार न कर लिया जाए कि क्या इसने केन्द्रीय सरकार के काराधान के स्रोतों का अतिक्रमण किया है। कानून का ऐसा उपबंध है जिसकी यह आवश्यकता थी कि :–

''किसी भी गवर्नर अथवा गवर्नर इन काउंसिल (प्रांत का) को गवर्नर जनरल ऑफ इंडिया इन काउंसिल की पूर्व अनुमति के बिना नए कार्यालय के खोलने अथवा कोई वेतन, अनुग्रह राशि अथवा भत्ता देने की शक्ति नहीं होगी।''

भारत सरकार को प्रांतों के व्यय पर नियंत्रण करने का ऐसा अधिकार दिया गया है जो निदेशों की संहिताओं की श्रृंखला के तंत्र द्वारा प्रयोग में लाया गया था यथा सिविल सर्विस रेग्युलेशन्स, सिविल एकाउंट कोड़, पब्लिक वर्क्स कोड और इसी प्रकार के अन्य कोड। इन संहिताओं में वित्त तंत्र यथा लेखा परीक्षा और लेखाओं की एकरूपता का रख-रखाव, लोक धन का अभिरक्षण, प्रेषण, अर्थव्यवस्था और इसी प्रकार के अन्य मामले आंशिक रूप से वर्णित हैं परन्तु इन संहिताओं ने प्रांतीय सरकारों की शक्तियों पर निश्चित रूप से अवरोध लगाए, ये अवरोध नई नियुक्तियां करने अथवा पारिश्रमिक बढ़ाने और अन्य मामले यथा भर्ती, पदोन्नति, छुट्टी, विदेश सेवा और पेंशन के संबंध में लगाए गए। इन विषयों पर भारत सरकार द्वारा समय-समय पर दिया गया केस-लॉ की चयनिका भी वस्तुत: उन संहिताओं में शामिल की गई जिनका अनुपालन प्रांतीय सरकारों द्वारा किया जाना चाहिए। यदि कराधान और व्यय की उनकी शक्तियों पर कठोरता से नियंत्रण किया जाना था तो ऋण लेने की शक्ति भी प्रांतों को कभी नहीं सौंपी गई। यह स्मरण दिलाने वाली बात है कि पोर्टट्रस्ट और नगरपालिकाएं निश्चित सीमाओं में ऋण ले सकती थीं परन्तु चूंकि भारत के राजस्व वैधानिक रूप से अविभाज्य थे तथा भारत सरकार के प्रयोजनों के लिए दिए गए ऋणों के लिए दायित्वपूर्ण थे। प्रांतीय सरकारें ऐसी प्रतिभूति के अलग संसाधन नहीं रखती थीं जिनमें से वे ऋण ले सकें।

प्रांतीय वित्त की प्रस्तावित सीमाओं में प्रांतीय सरकारें केन्द्रीय सरकार के नियंत्रण से मुक्त नहीं थीं। उसका कारण यह था कि प्रांतीय बंदोबस्त प्रांतीय राजस्वों पर ही आधारित नहीं थे अपितु प्रांतीय आवश्यकताओं पर भी आधारित थे और इन पर केन्द्रीय नियंत्रण अनिवार्य था। भारत सरकार किसी भी प्रांत को दिवालिया होने की अनुमति नहीं दे सकती थी। परन्तु यदि भारत सरकार किसी भी प्रांतीय दिवालियापन

के लिए उत्तरदायी थी तो वह ऐसी स्थिति में थी कि प्रांतीय व्यय पर नियंत्रण कर सके। जहां तक राजस्व का संबंध है, जब तक उसमें से भारत सरकार ने एक भाग लिया तो भारत सरकार का यह पक्का इरादा था कि प्रांतों के बजट अनुमानों में न केवल हस्तक्षेप किया जाए अपितु प्रशासन के अलग-अलग मामलों में भी हस्तक्षेप किया जाए। उदाहरणार्थ भारत सरकार की भू-राजस्व में रुचि ने अनिवार्य रूप से राजस्व बंदोबस्त की ओर गहन पर्यवेक्षण की ओर उन्मुक्त किया तथा यह नियंत्रण उन मामलों में अधिक कठोर हो गया जहां राजस्व के स्रोत यथा सिंचाई के प्रसार विकास पूंजी लागत पर निर्भर थे।

प्रांतीय सरकारों की विधायी शक्तियां इसी प्रकार कानूनी प्रतिबंधों के अधीन रहीं। जहां तक कानून के स्थाई उपबंधों का संबंध है निस्संदेह ऐसा कोई विस्तृत क्षेत्र नहीं था जहां प्रांतीय विधान-मंडलों की विधायी क्षमता वैध रूप से मुक्त थी। परन्तु वास्तव में स्थानीय विधान-मंडलों की शक्ति दो तरीकों से कम की गई। सर्वप्रथम सभी प्रांतीय विधान-मंडलों के अस्तित्व को कुछ ही वर्ष हुए थे और कुछ प्रांतीय विधान-मंडल बिल्कुल ही नए थे यदि इनकी तुलना गवर्नर जनरल के केन्द्रीय विधान-मंडल की आयु से की जाए तो इस क्षेत्र का एक बड़ा भाग अन्यथा उनके लिए खुला होना चाहिए और उस निकाय के कार्यों से आच्छादित था जिसने देश के लिए अधिकांशतया विधान की सहवर्ती शक्ति सदैव बनाए रखी। परन्तु विधान के मामले में सरकारों के लिए जो क्षेत्र खुला हुआ था वह इस तथ्य से अधिक प्रतिबंधित कर दिया गया कि अखिल भारतीय विधान निर्माण पर नियंत्रण करने के लिए भारत सचिव (सेक्रेटरी ऑफ स्टेट) तथा संसद की शक्ति कार्यकारी निर्देशों द्वारा लागू की गई थी जिसने प्रांतीय सरकारों के लिए यह आवश्यक बना दिया था कि वे विधान निर्माण के लिए अपनी सभी परियोजनाओं को प्रारंभ करने से पूर्व भारत सरकार और भारत सचिव (सेक्रेटरी ऑफ स्टेट) पूर्व स्वीकृति प्राप्त करने के लिए प्रस्तुत करें। यह कहना सत्य है कि ये निर्देश निजी सदस्यों के विधेयकों पर लागू नहीं किए गए परन्तु विधान मंडल की अनुमति से विधेयक प्रस्तुत किया जा सकता था तथा प्रांतीय सरकार कई मामलों में ऐसी स्थिति में होती थी कि यदि सफलतापूर्वक ऐसे प्रस्ताव का विरोध करने के लिए विचार करती प्रांतीय सरकारों के निर्देशों द्वारा भारत सरकार ऐसी स्थिति में हो जाती थी कि वह ऐसे निजी प्रांतीय विधान निर्माण पर नियंत्रण कर सकती थी जैसी कि वह प्रांतीय सरकारों के विधेयकों पर प्रभावकारी रूप से अपना नियंत्रण रखती थी।

प्रशासन के वास्तविक कार्य को चलाने के लिए प्रत्येक प्रांतीय सरकार को कानून के अनुसार इस बात की आवश्यकता थी कि वह भारत सरकार के आदेशों का पालन करे और भारत सरकार को उन सभी मामलों में तथा कार्यवाहियों के बारे में

निरंतर और ईमानदारी से सूचित करती रहे जो उसके मत के अनुसार सरकार को रिपोर्ट किए जाने चाहिए अथवा जिसके लिए भारत सरकार को सूचना की आवश्कयता हो। इसका कारण यह था कि कानून के अंतर्गत प्रत्येक प्रांतीय सरकार अपने से संबंधित सभी मामलों में अधीक्षण, निर्देश और नियंत्रण की दृष्टि से भारत सरकार के अंतर्गत रखी गई थी। भारत सरकार का प्रशासकीय नियंत्रण उस सरकार द्वारा एकरूपता के हित में कार्यान्वित किया जाता था। यह स्पष्ट है कि कई मामलों में भारत एकता और अखंडता की दृष्टि से अविभाजित देश है जहां अधिकांश कार्य एकरूपता के आधार पर सम्पन्न किया जाता है। भारत सचिव (सेक्रेटरी ऑफ स्टेट) द्वारा दी गई शर्तों पर इंग्लैंड से जो सिविल कर्मचारी नियुक्त किए गए थे उन्होंने प्रांतीय सरकारों के आदेशों को कार्यान्वित किया परन्तु उन्हें प्रभावित करने वाले कई प्रश्न प्रांतीय सरकार द्वारा निर्धारित नहीं हो सके। इसके अलावा भारत भर में व्यापार, उद्योग और विज्ञान के विकास को दृष्टिगत रखते हुए भारत सरकार ने समरूप नीतियों के निर्माण तथा कार्यान्वयन का पक्ष लिया। यहां तक कि समग्र भारत में एक ही कानून द्वारा वाणिज्य और उद्योग उसी के विवेक पर छोड़ दिया गया जिसका संबंध ऐसे मामलों यथा सांख्यिकी, पेटेंट, कापीराइट, बीमा, आयकर, विस्फोटक पदार्थों और खनन आदि के प्रशासन से था। प्रशासन के मामलों में स्थापित आधारों का अनुसरण करने के लिए प्रांतीय सरकारें केन्द्रीय सरकार के अधीन ही नहीं थीं अपितु वे नई नीति की पहल करने के लिए भी स्वतंत्र नहीं थीं। केवल भारत सरकार का ही यह कर्तव्य था कि वह नीति बनाएगी तथा नए आदेश जारी करके समग्र भारत में सुधार करेगी। इन आदेशों को प्रभावकारी बनाने के लिए इनके साथ प्रांतीय सरकारों को प्रचुर अनुदान दिए जाते थे और उन्हें स्पष्ट रूप से नई नीति के कुछ विशेष लक्षण को आगे बढ़ाने के प्रयोजन से इंगित किया जाता था। भारत सरकार को ऐसे नए परामर्श देने वाले अथवा निरीक्षण करने वाले अधिकारियों की प्राय: नियुक्ति नहीं करती थी जिनको यह देखना होता था कि पद्धति में यकायक जो नई ऊर्जा प्रवाहित की गई है उसका चुने गए लक्ष्यों के लिए अच्छा रख-रखाव हो तो उन्हें ठीक ढंग से निदेशित किया जाए।

जब तक प्रांतीय सरकारें भारत सरकार के प्रति ऐसे गुणों से बाध्य बनी रहीं तब तक प्रांतों में उत्तरदायी सरकार नहीं बन सकी। कोई भी सरकार एक बार और एक साथ दो स्वामियों की सेवा नहीं कर सकती।

प्रांतीय सरकारों को भारत सरकार के अधीन रखना[1] तथा विधानमंडल के प्रति उत्तरदायी बनाना सैद्धांतिक रूप से असंगत था और व्यावहारिक दृष्टि से दूषित था।

---

1. अधीनता की कोटि के बारे में यह ध्यान देना चाहिए कि वह प्रांतों की प्रतिष्ठा के अनुसार विविध रूप की थी। देखिए संयुक्त रिपोर्ट, पृ. 37-45।

यह प्रति उत्तरदायी बनाना सैद्धांतिक रूप से असंगत था और व्यावहारिक दृष्टि से दूषित था। यह बात नितांत विचारणीय है कि ऐसे दोहरे शासन में कुछ मामलों में प्रांतीय विधान-मंडल की इच्छाएं भारत सरकार से मेल नहीं खा पाती थीं। ऐसे अवसरों पर प्रांतीय सरकार यह नहीं जानती थी कि वह किसकी आज्ञा का पालन करे। यदि वह विधान-मंडल की इच्छाओं का सम्मान करती थी तो वह भारत सरकार के प्रति अपने कर्तव्य में असफल रह जाती थी। वास्तव में ऐसे संघर्ष का एक मामला रिकार्ड किया गया था।[1]

मार्ले-मिंटो सुधारों के समय एक ऐसा अवसर आया जब बंबई की सरकार भारत सरकार से इस बात के प्रयास करने में असफल रही कि शिक्षा विभाग के कर्मचारियों को प्रभावित करने वाले कुछ प्रभार की स्वीकृति दी जाए। ये प्रस्ताव स्थानीय रूप से लोकप्रिय थे तथा एक चुने गए सदस्य ने बम्बई के विधान-मंडल में इन्हें स्वीकार करने के लिए प्रस्ताव रखा। उसके बाद बम्बई सरकार ने यह प्रस्ताव स्वीकार कर लिया जो सर्वसम्मति से स्वीकार किया गया और एक बार फिर से प्रस्ताव इस आधार पर भारत सरकार को भेजे गए कि इन प्रस्तावों को विधान-मंडल का पूर्ण समर्थन प्राप्त है। परन्तु भारत सरकार और भारत सचिव (सेक्रेटरी ऑफ स्टेट इंडिया) ने यह निर्णय किया कि ये युक्तियां व्यवस्था से परे हैं और यह बताया :-

> ''स्थानीय सरकार का यह कर्तव्य है कि प्रस्तावों को व्यवहार में लाने के लिए भारत सरकार के निर्णय को अपने पूर्ण प्राधिकार से स्वीकार करे।''

अर्थात् इस प्रस्ताव का विरोध किया जाना था चाहे इसे सैद्धांतिक रूप से विधान-मंडल की सहमति क्यों न प्राप्त हो गई।

अधीन रखने के बंधन इतने सशक्त थे जिन्होंने प्रांतों को केन्द्रीय सरकार से जकड़ लिया था और जो प्रांतीय स्वशासन के मार्ग में मुख्य अवरोध थे। यदि प्रांतीय सरकार को प्रांतीय विधान-मंडलों के अधीन करना है तो पहला काम यह करना था कि उन शक्तियों को समाप्त कर देना था जो भारत सरकार प्रांतीय वित्त, प्रांतीय विधान-मंडल और प्रांतीय प्रशासन में हस्तक्षेप करने के लिए रखती थी। संवैधानिक सुधारों पर रिपोर्ट के लेखकों ने ठीक ही लिखा :-

> ''हमें वर्तमान संरचना को समाप्त करना है। कम से कम नई संरचना का निर्माण करने से पहले इसके कुछ भाग को तो नष्ट करना ही है। हमारा काम हस्तांतरण, सीमांकन की रेखाएं खींचने और दीर्घावधि के बंधनों को

---

1. संयुक्त रिपोर्ट, पृष्ठ 75-76
2. संयुक्त रिपोर्ट, पृ. 101

तोड़ने के लिए है। भारत सरकार को प्रदान करना चाहिए और प्रांतों को प्राप्त करना चाहिए। इसलिए प्रांतों के स्वशासन को चलाने के लिए ऐसा करना उनका जीवन दान देना होगा।''

अतः प्रांतीय स्वतंत्रता का मार्ग प्रांतीय और केन्द्रीय सरकारों के बीच कार्यों और वित्त के संतोषजनक विभाजन में निहित था। इन दोनों में से कार्यों का विभाजन तुलनात्मक रूप से सरल था। कार्यों के आवश्यक विभाजन को सुविधाजनक बनाने के लिए भारत सरकार के कुछ सिद्धान्त बनाए जो इस प्रकार हैं :–

''7 कुछ ऐसे विषय हैं जो इस समय भारत सरकार के सीधे प्रशासन के अंतर्गत आते हैं। भारत सरकार इनके प्रशासन के लिए अलग कर्मचारियों का वर्ग रखती है और इसमें प्रांतीय सरकारों का कोई भाग नहीं होता है। इस वर्ग की सरलता से पहचान कर ली जाती है और अधिकांशतया इसमें कोई संदेह की गुंजाइश नहीं है कि इसमें किन विषयों को सम्मिलित किया जाएगा। इस विचार के दूसरे पक्ष में स्थानीय रुचि की अधिकता वाले मामले हैं जिनकी दशाएं प्रांतों में अलग-अलग होनी चाहिए और सामान्य रूप से कहा जाए तो उन्हें प्रांतीयकरण के लिए उपयुक्त विषयों के रूप में मान्यता दी जाएगी।

''8 परन्तु इस चरमसीमा के वर्गों के बीच एक बड़ा अनिश्चित क्षेत्र है कि वर्गीकरण के सिद्धान्तों को निश्चित करने से पूर्व इन वर्गों की और गहन जांच की आवश्यकता है। इनमें वे सभी मामले समाहित होते हैं जिसमें भारत सरकार का इस समय विदाई और प्रशासकीय क्षेत्र में अंतिम नियंत्रण है परन्तु भारत सरकार व्यावहारिक रूप से प्रांतीय सरकारों के साथ विभिन्न अंशों में वास्तविक प्रशासन में भाग लेती है। कई मामलों में अभ्यासगत प्रतिनिधि का विस्तार पहले ही काफी बड़ा है। इन पर लगाई गई भारत सरकार की कसौटी है कि क्या प्रांतीय सरकारों के मामले में ये भारत सरकार के एजेंट हैं अथवा क्या (हस्तक्षेप करने की शक्तियों के संबंध में निचला कहा जाता है) उन्होंने अपने प्राधिकार को स्वीकार किया। इस कसौटी को लागू करने में मुख्य निर्धारित कारक पहले से ही व्यवहार में लाए गए प्रतिनिधान का अंश नहीं होगा परन्तु यह विचार है कि क्या कुल मिला कर (अथवा एक प्रांत से कही अधिक सभी घटनाओं के हितों में) भारत के हित अथवा दूसरी ओर प्रांतों का हित वास्तव में प्रभावी होगा।

विचारबिन्दु यह है कि किसी भी एजेंट के लिए प्रतिनिधान पहले से ही विस्तृत हो सकता है परन्तु उस परिस्थिति में एजेंसी के तथ्य को अस्पष्ट नहीं करना चाहिए अथवा अपनी ही अंतर्निहित शक्ति में मान्य एजेंट की ओर अग्रसर होना चाहिए।''

---

1. भारत सरकार द्वारा कार्य समिति के लिए ज्ञापन अनुबंध 2, समिति की रिपोर्ट, वर्ष 1919, कमांड 103

ये सिद्धांत जिनमें यह कहा गया था कि ''यदि प्रांत्येतर हित विषय पर आधिपत्य रखते हैं तो उन्हें केन्द्रीय समझना चाहिए, ''बल्कि'' ऐसे सभी विषय जिनमें प्रांतों के हित आवश्यक रूप से आधिपत्य रखते हैं, प्रांतीय होने चाहिए। इसके संबंध में प्रांतीय सरकारों ने अपने ही प्राधिकार को स्वीकार कर लिया है।''

उन्हें उस कार्य समिति द्वारा स्वीकार लिया गया था जिसने अखिल भारतीय और प्रांतीय विषयों के बीच विभाजन किया था। इस समिति द्वारा की गई सिफारिशें अल्प संसाधनों के साथ इस बात में निहित थीं जिसे 1919 के भारत सरकार के अधि नियम की धारा 45 (क) के अंतर्गत हस्तांतरण नियमावली कहा जाता है जिसने उत्तरदायी सरकार की नीति को प्रभावी बनाया और जो देश के संवैधानिक कानून का एक भाग था ताकि इसके द्वारा प्रांतों के विषय ऐसी सेवाएं बन गए जिन पर प्रांतों ने अपनी ही मान्यताप्राप्त अधिकार को लाभ उठाया जबकि उन्हें 1833 से पूर्व यह लाभ प्राप्त नहीं हुआ था। हस्तांतरण नियमावली के अनुसार घोषणाएं की गईं जो इस प्रकार हैं :–

प्रांतीय विषय

1. स्थानीय स्वशासी शासन :– इसके अंतर्गत एक प्रांत में स्थानीय स्वशासी शासन के प्रयोजन हेतु स्थापित किए गए नगर निगमों, इम्प्रूवमेंट ट्रस्टों, जिला परिषदों, स्वास्थ्य के माइनिंग बोर्ड तथा अन्य स्थानीय संस्थाओं के गठन और उनकी शक्तियों से संबंधित मामलों, केंटूनमेंट एक्ट, 1910 के अंतर्गत सम्मिलित मामलों को छोड़कर; जो भारतीय विधान-मंडल द्वारा बनाए गए विधान के अध्यधीन हैं; निम्नलिखित मामले :–

(क) उधार लेने के लिए ऐसे प्राधिकारियों की शक्तियां जो प्रांतीय सरकार की नहीं हैं, और

(ख) ऐसे प्राधिकारियों द्वारा कर लगाना जो अनुसूचित कर नियमावली की अनुसूची 2 में सम्मिलित नहीं है।

2. चिकित्सा प्रशासन : – इसमें चिकित्सालय, औषधालय और पागल खाने तथा चिकित्सा-शिक्षा सम्मिलित हैं।

3. जन स्वास्थ्य और स्वच्छता तथा जन्म-मरण के आंकड़े :– भारतीय विधान-मंडल के विधान के अधीन छूत के और संक्रामक रोग जिन्हें भारतीय विधान-मंडल के किसी अधिनियम द्वारा ऐसा घोषित किया जाए।

4. ब्रिटिश भारत में तीर्थ यात्री।

5. शिक्षा : – किन्तु

(क) इसमें निम्नलिखित विषय शामिल नहीं होंगे, अर्थात्

(1) बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय और अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय तथा ऐसे अन्य विश्वविद्यालय जो ऐसे नियमों के लागू होने के बाद बनाए गए हैं, जिन्हें गवर्नर जनरल इन काउंसिल द्वारा केन्द्रीय विषय घोषित किया गया है और (2) महामहिम की सेना अथवा अन्य सरकारी कर्मचारियों अथवा कर्मचारियों के ऐसे सदस्यों के बच्चों के लाभ के लिए गवर्नर जनरल इन काउंसिल द्वारा बनाए गए चीफ्स कालेजों तथा ऐसे अन्य संस्थान/और

(ख) भारतीय विधान-मंडल द्वारा विधान बनाने के अधीन निम्नलिखित विषय:–

(i) इन नियमों के लागू किए जाने के बाद गठित विश्वविद्यालयों के प्रतिष्ठान का नियंत्रण संविधानों और कार्यकलापों का नियम,

(ii) जिस प्रांत में विश्वविद्यालय स्थित है उस प्रांत से बाहर विश्वविद्यालय क्षेत्राधिकार की परिभाषा, और

(iii) इन नियमों में लागू किए जाने की तिथि से पांच वर्ष की अवधि के लिए कलकत्ता विश्वविद्यालय और बंगाल प्रेसीडेंसी में माध्यमिक शिक्षा के नियंत्रण और संगठन।

6. लोक निर्माण कार्य :– इसके अंतर्गत निम्नलिखित मदें शामिल की गई हैं :–

(क) प्रांत के प्रशासन के संबंध में किसी भी प्रयोजन के उपयोग किए गए अथवा उपभोग में आए नए प्रांतीय भवनों का निर्माण और उनका रख-रखाव और प्राचीन स्मारक परिरक्षण अधिनियम (ऐंशियंट मान्यूमेंट्स प्रिजरवेशन एक्ट), 1904 की धारा 2(I) में परिभाषित स्मारकों को छोड़कर अन्य ऐतिहासिक स्मारकों की देखभाल जो कुछ समय के लिए उस अधिनियम की धारा 3(I) के अधीन संरक्षित स्मारक घोषित किए गए हैं बशर्ते कि गवर्नर जनरल इन काउंसिल भारत के गजट में अधिसूचना जारी कर ऐसे स्मारकों को इस उपबंध से अलग न कर दे।

(ख) सड़कों, पुलों, नौकाघाटों, सुरंगों, रज्जुमार्गों, सेतु तथा गवर्नर जनरल इन काउंसिल द्वारा सैनिक महत्त्व के घोषित संचार माध्यमों को छोड़कर अन्य संचार माध्यमों पर नियंत्रण, उनका निर्माण तथा रख-रखाव तथा उन पर विशेष व्यय जैसा कि गवर्नर जनरल इन काउंसिल निर्धारित करे।

(ग) नगर पालिका के क्षेत्रों में ट्रामवेज, और

(घ) प्रांतीय विधान-मंडल द्वारा किए गए प्रावधानों से लाइट तथा फीडर रेलवे और एक्स्ट्रा म्यूनिसिपल ट्रामवेज का निर्माण तथा प्रबंधन एवं रख-रखाव, भारतीय विधानमंडल द्वारा बनाए गए विधान के अध्यधीन ऐसी रेलवे अथवा ट्रामवे जो मुख्य लाइन के साथ भौतिक रूप से जुड़ी हुई है अथवा मुख्य लाइन के साथ-साथ उसी समान गेज पर बनाई गई है।

(7) जल आपूर्तिः–सिंचाई और नहरें, जल निकासी तथा तटबंध जलागार और पनबिजली; भारतीय विधान-मंडल द्वारा बनाए गए विधान के अध्यधीन अंत:प्रांतीय मामलों से संबंधित मामले तथा एक प्रांत के दूसरे राज्य से संबंधित मामलों को प्रभावित करने वाले मामले।

(8) भू-राजस्व प्रशासन :–जैसा कि निम्नलिखित शीर्षों के अंतर्गत वर्णित किए गए हैं :–

(क) भू-राजस्व का निर्धारण और संग्रह।

(ख) भूमि अभिलेखों, राजस्व के प्रयोजनों के लिए सर्वेक्षण, अधिकार के अभिलेखों का रख-रखाव।

(ग) भूमि-राजस्व, जमींदारों और काश्तकारों के संबंध, लगान की उगाही संबंधी कानून।

(घ) प्रतिपालक भारग्रस्त तथा कुर्क परिसंपत्तियों के अधिकरण/न्यायालय।

(ङ) भूमि सुधार और कृषि ऋण।

(च) सम्राट की भूमि का उपनिवेशीकरण तथा निपटान और भू-राजस्व का हस्तांतरण, और

(छ) सरकारी परिसम्पत्तियों का प्रबंध।

(9) अकाल सहायता।

(10) कृषि :– अनुसंधान संस्थान, प्रायोगिक और प्रदर्शन कार्य, उन्नत तरीकों को प्रयोग में लाकर कृषि, शिक्षा की व्यवस्था, नाशक कीड़ों, मकोड़ों तथा पादप रोगों से सुरक्षा जो नाशक कीड़ों, मकोड़ों तथा पादप रोगों से सुरक्षा के संबंध में भारतीय विधान-मंडल द्वारा बनाए गए विधान के अध्यधीन व्यवस्था के अंतर्गत हैं जैसा कि भारतीय विधान-मंडल के अधिनियम द्वारा घोषित किया गया है।

(11) सिविल पशु चिकित्सा विभाग : –पशु चिकित्सा प्रशिक्षण, पशु नस्ल का सुधार और पशु रोगों का निवारण जो पशु रोगों के संबंध में भारतीय विधान–मंडल द्वारा बनाए गए विधान के अध्यधीन हैं और जिसका विस्तार ऐसा हो जो भारतीय विधान–मंडल द्वारा अधिनियम में घोषित किया गया है।

(12) मत्स्यपालन।

(13) सहकारी समितियां।

(14) वन :–शिकारियों से परिरक्षण शामिल हैं, आरक्षित वनों के काटने के संबंध में भारतीय विधान मंडल द्वारा पाए गए विधान की व्यवस्था के अध्यधीन।

(15) भू–अधिग्रहण :–भारतीय विधान–मंडल द्वारा बनाए गए विधान की व्यवस्था के अध्यधीन।

(16) आबकारी :–कहने का अभिप्राय यह है कि अल्कोहल की मदिरा और नशीली दवाओं के उत्पादन, निर्माण, उनको कब्जे में रखने, उन्हें लाने ले जाने, क्रय और विक्रय पर नियंत्रण तथा ऐसी वस्तुओं पर आबकारी शुल्क और लायसेंस फीस लगाना परन्तु इसमें अफीम, इसके निर्यात के लिए इसकी खेती करने, निर्माण करने और विक्रय पर प्रतिबंध का प्रावधान इसमें शामिल नहीं है।

(17) न्याय का प्रशासन :–प्रांत में दीवानी तथा फौजदारी न्यायालयों का गठन, उनकी शक्तियां, उनका रख–रखाव तथा संगठन, भारतीय विधान–मंडल द्वारा बनाए गए विधान के अध्यधीन उच्च न्यायालय, प्रमुख न्यायालय तथा न्यायिक आयुक्तों के न्यायालय शामिल हैं।

(18) प्रांतीय विधि रिपोर्ट्स।

(19) महा–प्रशासक और सरकारी ट्रस्ट :– भारतीय विधान–मंडल द्वारा बनाए गए विधान की व्यवस्था के अध्यधीन।

(20) गैर–अदालती स्टाम्प : –भारतीय विधान–मंडल द्वारा बनाए गए विधान की व्यवस्था के अध्यधीन और न्यायिक स्टाम्प भारतीय विधान–मंडल द्वारा बनाए गए विधान की व्यवस्था के अध्यधीन उच्च न्यायालयों में उनके मूल क्षेत्राधिकार के अंतर्गत वादों तथा कार्यवाहियों के संबंध में लगाए गए न्यायालय की फीस।

(21) प्रलेखों तथा दस्तावेजों का रजिस्ट्रेशन : –भारतीय विधान–मंडल द्वारा बनाए गए विधान की व्यवस्था के अधीन।

(22) जन्म, मृत्यु और विवाह का रजिस्ट्रेशन : – ऐसे वर्गों के लिए भारतीय विधान–मंडल द्वारा बनाए गए विधान की व्यवस्था के अध्यधीन जैसा कि भारतीय विधान–मंडल द्वारा निर्धारित किया जाए।

(23) धार्मिक एवं धमार्थ संस्थान।

(24) उन खनिज संसाधनों का विकास जो सरकारी सम्पत्ति हैं, भारत सचिव (सेक्रेटरी ऑफ स्टेट) द्वारा बनाए गए या स्वीकृत किए गए नियमों के अधीन परन्तु जो खान के विनियमन व्यवस्था के अंतर्गत नहीं आते हैं।

(25) उद्योगों का विकास :–इसमें औद्योगिक अनुसंधान और तकनीकी शिक्षा सम्मिलित है।

(26) औद्योगिक मामले : –इसमें निम्नलिखित शीर्ष सम्मिलित हैं :–

(क) कारखाने?

(ख) श्रम विवादों का निपटान;

(ग) विद्युत;

(घ) बायलर्स;

(ड.) गैस;

(च) धुएं से प्रदूषण; और

(छ) श्रमिकों का कल्याण और भविष्य निधि, औद्योगिक बीमा (सामान्य स्वास्थ्य और दुर्घटना) और आवास, भारतीय विधान-मंडल द्वारा बनाए गए विधान के अनुसार शीर्ष (क), (ख), (ग), (घ) और (छ) के अधीन व्यवस्था।

(27) भंडार और लेखा सामग्री :– आयातित भंडार और स्टेशनरी के मामले में ऐसे नियमों के अधीन व्यवस्था जो भारत सचिव (सेक्रेटरी ऑफ स्टेट इन काउंसिल) द्वारा निर्धारित किए जाएं।

(28) खाद्य सामग्री तथा अन्य वस्तुओं में मिलावट : –आयात और निर्यात व्यापार के संबंध में भारतीय विधान-मंडल द्वारा बनाए गए विधान के अधीन व्यवस्था के अनुसार।

(29) माप और तौल : – इसके मानक के बनाए गए विधान के अधीन व्यवस्था के अनुसार।

(3) पत्तन : – उन पत्तनों के सिवाय जिन्हें गवर्नर जनरल इन काउंसिल द्वारा बनाए गए नियमों के अनुसार अथवा भारतीय विधान-मंडल द्वारा जिन्हें बड़े पत्तन घोषित किया जाए।

(31) अंतर्देशीय जल मार्ग : – इसमें पोत परिवहन और नौचालन सम्मिलित हैं जब तक कि उन्हें गवर्नर जनरल इन काउंसिल द्वारा केन्द्रीय विषय घोषित न किया जाए परन्तु भारतीय विधान-मंडल द्वारा बनाए गए विधान द्वारा अंतर्देशीय भाप चालित पोत घोषित किया गया है।

(32) पुलिस : – रेलवे पुलिस को शामिल करते हुए रेलवे पुलिस के मामले में इसके संबंध में शेषाधिकार की सीमा और रेलवे के अंशदानों की शर्तें जैसा कि गवर्नर जनरल इन काउंसिल निर्धारित करे अर्थात् :–

(क) बाजी लगाने और जुआ खेलने के बारे में विनियमन,

(ख) पशुओं के प्रति क्रूरता पर प्रतिबंध लगाना।

(ग) जंगली पक्षियों और पशुओं की सुरक्षा,

(घ) भारतीय विधान-मंडल द्वारा बनाए गए विधान की व्यवस्था के विषय पर नियंत्रण लगाना।

(ङ) मोटर गाड़ियों का नियंत्रण, ब्रिटिश इंडिया में वैध लाइसेंसों के संबंध में भारतीय विधान-मंडल द्वारा बनाए गए विधान की व्यवस्था के अधीन और

(च) नाटक प्रदर्शनी तथा सिनेमा की फिल्में दिखाने पर नियंत्रण, प्रदर्शन के लिए फिल्मों की स्वीकृति के संबंध में भारतीय विधान-मंडल द्वारा बनाए गए विधान की व्यवस्था के अधीन विषय।

(34) समाचार पत्रों, पुस्तकों और मुद्रणालयों पर नियंत्रण : –भारतीय विधानमंडल द्वारा बनाए गए विधान की व्यवस्था के अधीन।

(35) अपमृत्यु विचारक।

(36) वर्जित क्षेत्र।

(37) अपराधी जन-जातियां :– भारतीय विधान-मंडल द्वारा विधान के अधीन।

(38) यूरोपीय स्वेच्छाचारिता : भारतीय विधानमंडल द्वारा विधान के अधीन।

(39) जेल बंदी (सरकारी बंदियों के अतिरिक्त) और सुधारगृह, भारतीय विधान-मंडल द्वारा विधान के अधीन।

(40) कांजी हाउस : –और पशुओं के अनाधिकार प्रवेश पर रोक।

(41) खजाने की क्षतिपूर्ति।

(42) पुस्तकालय :–(इम्पीरियल पुस्तकालय के अतिरिक्त) और **संग्रहालय:**–(भारतीय संग्रहालय, इम्पीरियल युद्ध संग्रहालय और विक्टोरिया मेमोरियल संग्रहालय, कलकत्ता के अतिरिक्त) तथा चिड़ियाघर।

(43) प्रांतीय सरकारी मुद्रणालय।

(44) चुनाव :–भारतीय और प्रांतीय विधान-मंडलों के लिए चुनाव एक्ट की धारा 64(I) और 72 क(4) के अंतर्गत बनाए गए नियमों के अधीन।

(45) चिकित्सा और अन्य व्यावसायिक योग्यता और मानकों के नियम व विनियमन :–भारतीय विधान-मंडल द्वारा विधान के अधीन।

(46) स्थानीय निधि लेखा परीक्षा :–अर्थात् स्थानीय निकायों द्वारा नियंत्रित आय और व्यय की सरकारी एजेंसी द्वारा लेखा परीक्षा।

(47) अखिल भारतीय और प्रांतीय सेवाओं के सदस्यों का नियंत्रण जैसा कि नियम 10 द्वारा परिभाषा की गई है : –प्रांत में सेवारत और अखिल भारतीय सेवाओं के सिवाय प्रांत में लोक सेवाओं का नियंत्रण जो भारतीय विधान-मंडल द्वारा विधान के अधीन है।

(48) प्रांतीय राजस्व के स्रोत : – पिछले शीर्षों में सम्मिलित नहीं किए गए चाहे :–

(क) अनुसूचित कर-नियमावली की अनुसूचियों में सम्मिलित किए गए कर, अथवा

(ख) ऐसे कर जो अनुसूचियों में सम्मिलित नहीं किए गए, जो ऐसे प्रांतीय विधान द्वारा या उनके अंतर्गत आरोपित होते हैं जिसके बारे में गवर्नर जनरल की पूर्व स्वीकृति प्राप्त कर ली गई हैं।

(49) धन उधार देना :–प्रांत की पूर्ण साख पर धन उधार लिया जाता है जो स्थानीय सरकार (उधार लेने वाले) नियमावली के उपबंधों के अधीन होता है।

(50) दंड के विधान द्वारा जुर्माना अथवा कारावास :– किसी भी प्रांतीय विषय से संबंधित प्रांत के कानून को लागू किए जाने से किसी ऐसे विषय के मामले में भारतीय विधान-मंडल द्वारा विधान के अधीन व्यवस्था, जिसके बारे में इन नियमों के अंतर्गत सीमा आरोपित की जाती है।

(51) कोई भी मामला जो केन्द्रीय विषय के अंतर्गत आता हो, प्रांत में केवल स्थानीय अथवा निजी प्रकृति के अनुसार गवर्नर जनरल इन काउंसिल द्वारा घोषित किया जाता है।

(52) केन्द्रीय विषय से संबंधित मामले जिनके संबंध में किसी नियम द्वारा अथवा उसके अंतर्गत स्थानीय सरकार को शक्तियां प्रदत्त की गई हैं।

केन्द्रीय और प्रांतीय सरकारों के बीच राजस्व संसाधनों के आबंटन का दूसरा नाम तुलनात्मक दृष्टि से कठिन था। ऐसे मामलों में जिनमें यह प्रस्ताव किया गया था प्रांतों को भारत सरकार से स्वतंत्र बनाने का मुख्य कार्य एक समस्या थी कि उन्हें अपने प्राधिकार को प्राप्त करना चाहिए जो कानून द्वारा स्वीकार किया गया था, संवैधानिक सुधारों की रिपोर्ट के लेखकों के लिए यह कहना स्वाभाविक था कि :–

''हमारा प्रथम उद्देश्य....केन्द्र सरकार के संसाधनों को प्रांतों के संसाधनों से बिल्कुल ही अलग करने के लिए कुछ साधन जुटाने हैं।''

इसलिए उस दिशा में पहला कदम ''विभाजित शीर्षों'' अथवा साझे के राजस्व बजट का उन्मूलन करना था क्योंकि आम सहमति यह थी कि जहां तक केन्द्रीय सरकार को प्रांतों के घरेलू मामलों में हस्तक्षेप करने की छूट थी वहां पर आम सहमति थी कि यह प्रांतीय स्वतंत्रता के साथ मनमुटाव की स्रोत थी तथा उसके साथ असंगत थी। परन्तु इस प्रकार के पूर्ण अलगाव की पद्धति को दो मुख्य कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। पहली कठिनाई लाभांश शीर्षों के निपटान के संबंध में हुई। वे किन्हें सौंपे जाएं? पूर्ण अलगाव की योजना के समय ऐसे राजस्व के शीर्षों के बारे में विचार किया गया जो समीप्य कुछ प्रांतों में विभाजित किए गए थे और ये शीर्ष थे :– भू-राजस्व, स्टाम्प, आबकारी, आयकर और सिंचाई। संवैधानिक सुधारों की रिपोर्ट के लेखकों ने प्रस्तावित किया[1] :– (पृष्ठ 293 पर फुटनोट देखें)

''कि स्टाम्प शुल्क से प्राप्त राजस्व पहले ही से पूर्व अंकित उपशीर्ष सामान्य और न्यायिक के अंतर्गत विभेदकारी था और प्रथम को भारतीय बनाया जाना चाहिए तथा दूसरे को प्रांतीय प्राप्ति बनाना जाना चाहिए। अंततोगत्वा यह व्यवस्था वाणिज्यिक स्टाम्प के मामले में आरक्षित की जाएगी जहां यह स्पष्ट रूप से दरों की विसंगति को दूर करने के लिए वांछनीय है और इससे प्रांतों को खुली छूट मिल जाएगी कि वे अदालत शुल्क के स्टाम्पों का लेन-देन कर सकेंगे तथा इस प्रकार उनके संसाधनों को बढ़ाने के लिए अतिरिक्त साधन उपलब्ध करा सकेंगे। आबकारी इस समय बम्बई, बंगाल और असम में पूर्णतया प्रांतीय शीर्ष है और अब हमें ऐसा कोई भी वैध कारण दिखाई नहीं देता कि इसे भारत भर में क्यों न प्रांतीय बना दिया जाए... भू-राजस्व सबसे बड़ा शीर्ष होता है इस शीर्ष को इस समय भारत और सभी प्रांतीय सरकारों में बराबर के भागों में विभाजित किया जाना चाहिए सिवाय इसके कि बर्मा को आधे से अधिक भाग प्राप्त

होता है और संयुक्त को कम प्राप्त होता है..........अब ग्रामीण क्षेत्रों के कुल प्रशासन से भू-राजस्व का निर्धारण और वसूली से निकट से संबंधित है कि इन्हें प्रांतीय प्राप्ति बनाने के लाभ स्पष्ट हैं....इसके अलावा, व्यय तथा बड़े सिंचाई निर्माण कार्यों पर व्यय स्पष्ट कारणों से भू-राजस्व से संबंधित है और यदि उस शीर्ष की प्राप्तियां प्रांतीय बनाई जाती हैं तो तार्किक रूप से यह निष्कर्ष निकलता है कि प्रांतों को दुर्भिक्ष सहायता और रक्षात्मक निर्माण कार्यों को अधिक दायित्वों का भार वहन करना चाहिए....हमें बताया गया कि प्रांतों में लोकप्रिय सरकारों के उदय होने पर यह ठीक ही होगा कि प्रांतीय सरकार को भारत सरकार (मानो यदि शीर्ष अब भी विभाजित थे यह ऐसा करने में सक्षम थी) की सहायता पर निर्भर होना था जब इसकी भू-राजस्व नीति की आलोचना की गई।[1] परन्तु यह इसलिए है कि क्योंकि ऐसी संपत्ति को आंका जाए या उसका मूल्य भू-राजस्व बनाया जा सके।

---

1. सरकार की भू-राजस्व नीति को लोकप्रिय नेताओं ने सदैव सही या गलत तरीके से संदेह की दृष्टि से देखा है और इस नीति के बारे में सदैव आलोचना का खतरा रहा है। भय की दृष्टि से इस नीति को लोकप्रिय प्रांतीय विधान-मंडल के अधीन निष्ठाहीन बना दिया है जिसके नियंत्रण में प्रांतीय विषय के रूप में था, इसने भारत सरकार अधिनियम की 1919 की धारा 12(1) के अधीन रिजर्वेशन ऑफ बिल्स रूल्स द्वारा व्यवस्थित किया था कि किसी भी गवर्नर के प्रांत का गवर्नर जनरल के विचार के लिए किसी बिल को सुरक्षित रखेगा जिस पर इससे पूर्व गवर्नर जनरल की अनुमति नहीं मिली है और जो प्रांत की विधायी परिषद् द्वारा पारित किया गया है तथा गवर्नर को उसकी अनुमति के लिए प्रस्तुत किया जाता है यदि बिल गवर्नर के समक्ष लाया जाता है और इसमें आगे दिए गए ये उपबंध होते हैं :-

(ड.) किसी प्रांत के भू-राजस्व को प्रभावित करने के लिए हों अथवा

(i) ऐसी अवधि या अवधियां निर्धारित करे जिनमें कोई भी अस्थायी रूप से बसी हुई भू-सम्पत्ति (जागीर) या भू-सम्पत्तियां बनाई जाएं अथवा बढ़ाई जाएं या

(ii) भू-राजस्व के निर्धारण को इतना सीमित कर दिया जाए कि विभाजित शीर्षों को केवल वित्तीय कार्य साधक समझा जाए।

(iii) सामान्य सिद्धांतों को भौतिक दृष्टि से संशोधित किया जाए जिन पर अभी तक भू-राजस्व का मूल्यांकन किया गया है यदि इस प्रकार का निर्धारण सीमांकन अथवा संशोधन प्रांत के लोक राजस्वों को गंभीर रूप से प्रभावित करने के लिए गवर्नर के सामने प्रस्तुत किए जाते हैं।

जब तक कि वे बने रहे और प्रांतीय सरकार का अनुसरण करने के लिए उन्हें भारत सरकार के साधन के रूप में देखा जाए कि हम आश्वस्त महसूस करते हैं कि उनका उन्मूलन कर देना चाहिए। इसलिए हमारा प्रस्ताव है कि सिंचाई के साथ भू-राजस्व को पूर्णतया प्रांतीय प्राप्तियां बना दिया जाए। उससे यह निष्कर्ष निकलता है कि प्रांत दुर्भिक्ष सहायता और रक्षात्मक सिंचाई निर्माण कार्यों पर व्यय के लिए पूर्णतया उत्तरदायी हो जाएंगे....एक शेष शीर्ष आयकर है। हम अधिक शक्तिशाली कारण देखते हैं जो इसे भारतीय प्राप्ति बना सके। सर्वप्रथम देश भर में एक समान दर बनाए रखने की आवश्यकता है। विशेष रूप से वाणिज्यिक विश्व के लिए अलग-अलग प्रांतों में अलग-अलग दरों की असुविधाएं व्यक्त होती हैं। दूसरे किसी बड़े शहर में व्यवसाय केन्द्र के साथ बहुशाखी उद्यमों में ऐसा प्रांत जिसमें कर अदा किया जाता है, आवश्यक रूप से ऐसा प्रांत नहीं हो सकता जिसमें आय ही होती है।

हमें वास्तव में यह बताया गया है कि आयकर भू-राजस्व का केवल औद्योगिक अथवा व्यावसायिक पूरक होता है तथा दूसरे का प्रांतीयकरण किया जाता है जबकि पहले का भारतीयकरण किया जाता है इसका अर्थ यह है कि ऐसे प्रांतों को बम्बई जैसे प्रांत से अधिक प्रारंभिक लाभ दिया जाता है जिनकी सम्पत्ति मुख्यतया अधिक कृषि पर आधारित है जैसी कि संयुक्त प्रांत और मद्रास की कृषि सम्पत्ति होती है और जिसमें अत्यधिक वाणिज्यिक और औद्योगिक हित निहित होते हैं। एक अन्य अधिक व्यावहारिक तथ्य यह है कि प्रांतीय एजेंसी द्वारा कर की वसूली की जाती है और यदि प्रांतीय सरकारों को कोई प्रोत्साहन नहीं दिया जाए तो वसूल की गई राशि पर प्राप्तियों के भाग अथवा कमीशन का छद्म रूप से भाग होता है, अतः वसूली में मध्यम गति की प्रकृति होगी और इसके फलस्वरूप प्राप्तियों में कमी होगी। हम स्वीकार करते हैं कि इन तर्कों में बल है परन्तु हम इस बात के लिए तैयार नहीं हैं कि उन तर्कों को राजस्व के पूर्ण विभाजन के मार्ग में लाया नहीं जाए। एक प्रांत और दूसरे प्रांत में समानता का व्यवहार कुल मिला कर यथासंभव होना चाहिए। जहां तक कि पूर्णरूपेण बंदोबस्त का प्रश्न है और यह संभव नहीं है कि राजस्व के अलग-अलग शीर्षों की समानता के सिद्धांत का विस्तार हो। यदि यह पता लगे कि प्राप्तियां कम होती जाती हैं तो कर वसूली के लिए अखिल भारतीय एजेंसी बनाना आवश्यक होगा। परन्तु हमें स्पष्ट रूप से इसे विभाजित शीर्ष के रूप में रखने को वरीयता देनी चाहिए। सारांश में हम इस समय भारतीय और प्रांतीय शीर्ष रखना चाहते हैं परन्तु हम प्रथम प्रकार में आयकर और सामान्य स्टाम्प तथा दूसरे प्रकार में भू-राजस्व, सिंचाई, आबकारी और अदालती स्टाम्प रखना चाहते हैं। उसके बाद कोई भी शीर्ष विभाजित नहीं रहेगा।''

अत: प्रस्ताव के अनुसार सभी वर्तमान राजस्व के स्रोतों को केन्द्रीय और प्रांतीय सरकारों में पूर्णतया वितरित करने के बाद भारत सरकार के बजट में घाटा आना आवश्यक था। इस घाटे की पूर्ति कैसे की जाए यह दूसरी कठिनाई थी जिसमें राजस्व के अलग-अलग शीर्षों की पद्धति द्वारा विभाजित शीर्षों की पद्धति को बदलना था। संवैधानिक सुधारों की रिपोर्ट के लेखकों को उस जटिल समस्या के समाधान के लिए उनके सर्वेक्षण की अवधि में कई योजनाएं प्रस्तुत की गईं। इस बारे में उन्होंने कहा[1] :-

''इसकी पूर्ति के लिए एक मार्ग यह है कि वर्तमान बंदोबस्तों के आधार पर रख-रखाव किया जाए परन्तु भारत सरकार को विभाजित शीर्षों के अपने भाग के बजाय बढ़ते हुए राजस्व का कुछ भाग भारत सरकार को आबंटित किया जाए। परन्तु यह युक्ति उन प्रांतों के बीच सभी वर्तमान असमानताओं को रूढ़िबद्ध बना देगी जो उनमें से कुछ स्थाई बंदोबस्त के कारण विचारणीय हैं, जबकि भारत सरकार के वित्त में अधिक अनिश्चितता का तत्त्व भी प्रारंभ करेगी। दूसरा यह कि हमें प्रति व्यक्ति के आधार पर चहुंमुखी अंशदान लेना चाहिए। परन्तु समयोचित उपाय से भी प्रांतीय संसाधनों और प्रांतीय प्रांतीय आवश्यकताओं की असमानता के कारण कर निर्धारण की दरों में प्रांतों के बीच अवांछनीय विभिन्नताओं को मिटाया नहीं जा सकेगा। एक तीसरी योजना यह थी कि सकल प्रांतीय राजस्व के आधार पर चहुमुखी प्रतिशत को माना जाना था। अन्य बातों के साथ यह भी विवाद के लिए खुला है कि इससे अनेक प्रांतों में बृहद घाटे हो जाएंगे। चौथे, उस प्रस्ताव पर विचार किया और उसे रद्द कर दिया कि जिन प्रांतों के पास अतिरिक्त अंशदान है वे भारी और अव्यावहारिक होने के कारण अन्य प्रांतों की अस्थाई रूप से सहायता करें।''

रिपोर्ट के लेखकों द्वारा सिफारिश की गई योजना इस प्रकार थी[2] :

''सकल प्रांतीय राजस्व और सकल प्रांतीय व्यय के बीच अंतर के प्रतिशत के रूप में भारत सरकार को प्रत्येक प्रांत से अंशदान का निर्धारण।''

दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि प्रांत के अनुदान सकल राजस्व की अतिरिक्त राशि पर कर निर्धारण जब सभी विभाजित शीर्ष अपने अनुमान सामान्य

1. रिपोर्ट, पृष्ठ 168
2. रिपोर्ट, पृष्ठ 169

व्यय पर अलग से आबंटित हैं जिनमें दुर्भिक्ष सहायता और स्वरक्षित सिंचाई के व्यय शामिल हैं। वर्ष 1917–18 के बजट के आंकड़ों के आधार पर यह पाया गया कि इसे 87 प्रतिशत[1] कर निर्धारण की आवश्यकता होगी।[2] जो प्रांतीय लाभ पर होगी ताकि भारत सरकार के बजट में 1363 लाख रुपये के घाटे की पूर्ति की जा सके जो विभाजित शीर्षों की पद्धति के उन्मूलन द्वारा उत्पन्न होने की संभावना है।[2]

(रुपये लाख में)

प्रांत	सकल प्रांतीय राजस्व	सकल प्रांतीय व्यय	सकल प्रांतीय अतिरिक्त लाभ	अंशदान (स्तंभ 4 का 87 प्रतिशत)	शुद्ध प्रांतीय लाभ
मद्रास	13,31	8,40	4,91	4,28	63
बम्बई	10,01	9,00	1,01	88	13
बंगाल	754	6,75	79	69	10
संयुक्त प्रांत	11,22	7,47	3,75	3,27	48
पंजाब	8,64	6,14	2,50	2,18	32
बर्मा	7,69	6,08	1,61	1,40	21
बिहार और उड़ीसा	4,04	3,59	45	39	6
सेंट्रल प्रोविंसेज	4,12	3,71	41	36	5
असम	1,71	1,50	21	18	3
योग	68,28	52,64	15,64	13,63	2,01

1. कर निर्धारण की समान दर का प्रस्तावित आरोपण कुछ विचित्र है क्योंकि रिपोर्ट के लेखकों ने पैरा 206 में विरोध किया है कि ''अंशदान की समानता अव्यावहारिक थी'' आदि। संयुक्त रिपोर्ट का पैरा 206 भ्रांतिपूर्ण है। यह अंशदानों की समानता के विरुद्ध विरोध करता है जो वही है जैसा कि उस योजना में स्वीकार किया गया है जिसकी सिफारिश की गई है।
2. ऐसा तरीका जिससे प्रस्तावित योजना व्यावहारिक रूप से बनाई गई, आगे दिए गए आंकड़ों से एकत्र किया जा सकता है जैसा कि रिपोर्ट कलकत्ता संस्करण (पृ. 134) में दिया गया है और वर्ष 1917–18 के बजट आंकड़ों पर आधारित है :–

टिप्पणी :–पंजाब के आंकड़े स्तंभ 5 में कम कर दिए जाने चाहिए और प्रत्येक मामले में स्तंभ 6 के आंकड़ों में 3½ लाख की वृद्धि कर देनी चाहिए ताकि ऐसा लगातार प्रतिकर दिया जा सके जो 1914 में भारत सरकार के शेष में एक करोड़ के समनुदेश के लिए प्राप्त करने का प्रांत का अधिकार हो।

इन सिफारिशों के करने के समय रिपोर्ट के लेखक यह अवलोकन करने के लिए सावधान रहे[1] :–

> ''हमें एक चेतावनी देनी है। आपातकाल की परिस्थितियां पैदा हो सकती हैं जिसका सामना करने के लिए भारत सरकार द्वारा शीघ्र ही कर लगाने की व्यवस्था नहीं की जा सकती, और ऐसी दशा में केन्द्रीय सरकार के लिए यह छूट होनी चाहिए कि वह प्रावधानों का विशेष पूरक कर लगा सके। हमें यह भी कहना चाहिए कि हमारे प्रस्ताव अधिकांशतया युद्ध के आंकड़ों पर निर्भर हैं, उन्हें इसके बाद संशोधन के लिए खुला रखना चाहिए; परन्तु छः वर्ष की अवधि तक परिवर्तन नहीं करना चाहिए। साथ ही तात्कालिक बहस को बचाने के लिए योजना को इस बीच प्रांतों के साथ संवैधानिक समझौता के एक भाग के रूप में समझा जाना चाहिए। यह उस समसामयिक आयोग का कर्तव्य होना चाहिए जिसकी नियुक्ति के बारे में हमारा प्रस्ताव है ताकि आयोग अपने दस वर्ष के कार्य अनुभव के बाद संवैधानिक परिवर्तनों के विकास की जांच करे और भारत सरकार को प्रांतीय अंशदान के प्रश्न की पुनः जांच पड़ताल करे।''

इन प्रस्तावों को प्रांतीय सरकारों को उनकी राय जानने के लिए भेजा गया। किसी ऐसी योजना की आपत्तियों ने स्वयं ही तत्परता से सुझाव दिए जो कुछ प्रांतों को अन्य प्रांतों की तुलना में केन्द्रीय सरकार की अधिक लागत वहन करने के लिए थी। मद्रास और संयुक्त प्रांत ने अपने लाभ का क्रमशः 47.4 प्रतिशत तथा 41.1 प्रतिशत भाग भारत सरकार को दिया। जबकि बम्बई और बंगाल ने अपने लाभ का क्रमशः 9.6 प्रतिशत तथा 10.1 प्रतिशत भाग दिया। इस विषय की असमानता इतनी स्पष्ट लगती थी कि जिन प्रांतों के लिए अधिक भार सौंपा गया, उन्होंने अधिक विरोध किया। भारत सरकार इस चीत्कार की संगतता से इतनी अधिक प्रभावित थी कि उसने भारत सचिव (सेक्रेटरी ऑफ स्टेट) को पत्र लिखा जिसमें कहा गया[2]:–

---

1. रिपोर्ट, पृष्ठ 170
2. भारतीय संवैधानिक सुधारों की रिपोर्ट में उठाए गए प्रश्न पर, पृ. 1919 का कमांड 123, दिनांक 5 मार्च 1919 (पैरा 61)

''हमें सिफारिश के प्रारंभिक अंशदानों को अस्थाई रूप से मान्यता देनी चाहिए और यथासंभव शीघ्रता के साथ ऐसे कदम उठाने चाहिए ताकि अंशदानी के मानक और समाज स्तर निर्धारित किए जा सकें............इस पूरे प्रश्न को समझदारी के साथ जांच पड़ताल की आवश्यकता है। इस स्थिति की कठिनाई रिपोर्ट में पहले ही देखी गई और प्रथम कानूनी आयोग द्वारा जांच पड़ताल के लिए वचन दिया गया परन्तु हम प्रस्ताव करते हैं कि वित्तीय संबंधों की समिति का गठन किया जाए, चाहे वह आपके अथवा हमारे द्वारा हो, और जो इस विषय पर पूर्णतया सलाह दे सके ताकि प्रत्येक राज्य को सही तरीके से मालूम हो सके कि वह नए शासन के प्रारंभ होने पर किस स्थिति में है।

और अब इस सिफारिश की पुष्टि[1] उस संसद की संयुक्त चयन समिति द्वारा की गई जिसने सुधार विधेयक पर विचार किया। तदनुसार भारत सचिव (सेक्रेटरी ऑफ स्टेट) ने लार्ड मेस्टन की अध्यक्षता में एक समिति गठित की जो इन बातों पर सलाह देगी :–

(क) वित्तीय वर्ष 1921–22 के लिए विभिन्न प्रांतों द्वारा केन्द्रीय सरकार को अंशदान का भुगतान करे,

(ख) इसके बाद प्रांतीय अंशदानों में सुधार किए जाएं ताकि उनका समान वितरण हो सके जब तक यह अखिल भारतीय घाटा समाप्त न हो,

(ग) प्रांतीय ऋण लेखाओं का भावी वित्त पोषण, और

(घ) क्या बंबई की सरकार आयकर से प्राप्त राजस्व का कोई भाग अपने पास रखेगी?

लगभग सात सप्ताह की जांच के बाद समिति ने रिपोर्ट प्रस्तुत की।[2] उसके विचारार्थ विषय के खंड (क) पर परामर्श देने में उस योजना पर अपना असंतोष व्यक्त किया जो केन्द्रीय राजकोष को अपने अंशदान के रूप में अपने लाभ के निर्धारित समान अनुपात प्रांतों से लेने के लिए संयुक्त रिपोर्ट में दी गई थी। इस योजना के विरुद्ध मुख्य आपत्ति पर जोर दिया गया कि कुछ प्रांतों में कोई लाभ नहीं हुआ था और अपने अनुदानों के अपने–अपने कोटा के भुगतान के बाद अन्य प्रांतों में कोई अतिरिक्त राशि नहीं बची थी। समिति ने यह निर्णय किया और यह निर्णय सही भी था कि :–

---

1. भारत सरकार विधेयक पर संयुक्त चयन समिति की रिपोर्ट (भाग 5, वाक्य खंड 41, पैरा 9, 1919 का हाउस ऑफ कामन्स रिटर्न 203, पृ. 12
2. भारत सचिव (सेक्रेटरी ऑफ स्टेट फॉर इंडिया) द्वारा नियुक्त समिति की रिपोर्ट जो भारत में केन्द्रीय और प्रांतीय सरकारों के बीच वित्तीय संबंधों के प्रश्न पर परामर्श दे सकें, 1919 का कमांड 724, अध्याय 3

''किसी भी मामले में कोई अंशदान ऐसा नहीं होना चाहिए जो प्रांत को उस बात पर बाध्य करे कि वह तदर्थ रूप से नए कर लगाए जो हमारे विचार से प्रचुर सामान्य संसाधनों के विशुद्ध प्रशासकीय पुनर्व्यवस्था के फलस्वरूप अविचारणीय होंगे।''

समिति ने अंशदान के उपलब्ध कराने में सीमित विचार द्वारा अपने को बाध्य महसूस किया जिसके फलस्वरूप उसने यह उत्तरदायित्व महसूस किया कि प्रत्येक प्रांत को न्यायोचित कार्यशील लाभ छोड़ देना चाहिए। ''इसने ऐसे लाभ को वरीयता दी जिसकी यथा संभव प्रांत की सामान्य वित्तीय स्थिति के संबंध तथा उसके संसाधनों पर अधिक सन्निकट दावों में गणना की जा सके।''

प्रत्येक प्रांत को लाभ का त्याग करने की आवश्यकताओं का पालन करने के और नए कराधान लागू करने की आवश्यकता को बिना नई परिषदों का उद्घाटन करना चाहिए।

समिति ने यह समझा कि सबसे समान योजना यह होगी कि समान अंशदान न लिए जाएं जैसा कि संयुक्त रिपोर्ट में सलाह दी गई थी।[1] परन्तु प्रांतों के लाभ के असमान अंशदान लिए जाएं जिनका उन पर दायित्व था।

समिति ने अपनी योजना की निष्पत्ति के बारे में यह विचार व्यक्त किया कि प्रांतीय लाभ की वृद्धि एक आवश्यक कदम था। इसके बाद बिना इसने अपने कार्य को व्यर्थ समझा। प्रांतीय लाभ के बढ़ाने का केवल एक ही उपाय था कि पहले ही से प्रांतीयकृत संसाधन के अलावा साम्राज्यवादी राजस्व के कुछ अन्य संसाधन आबंटित किए जाएं। आयकर के प्रांतीयकरण के लिए एक ऐसे मामले पर विरोध महसूस किया गया जो विचारार्थ के वाक्य खंड (घ) में सम्मिलित किए गए थे। जहां तक बम्बई का संबंध था, समिति संयुक्त रिपोर्ट के तर्कों से प्रभावित हुई। एक विकल्प के

1. वित्तीय संबंध समिति की रिपोर्ट में यह तर्क दिया गया है कि अंशदानों के थोपने की योजना और संयुक्त रिपोर्ट में सुझाई गई योजना के बीच अंतर अंशदानों के आधार पर है, इसका आधार बढ़ती हुई काम में लाई शक्ति का आधार है। जबकि संयुक्त रिपोर्ट की कुल प्रांतीय अतिरिक्त राशि थी। वित्तीय संबंध समिति ने विशेष रूप से उस विधि की आलोचना की जो संयुक्त रिपोर्ट में प्रस्तावित की गई थी ताकि कुल प्रांतीय राजस्व और कुल प्रांतीय व्यय के बीच अंतर की प्रतिशतता के रूप में प्रत्येक प्रांत से अंशदान का मूल्यांन किया जा सके। उस योजना और केन्द्रीय तथा प्रांतीय सरकारों के बीच राजस्व के नए वितरण के अधीन प्रांतों की बढ़ती हुई व्यय की शक्ति के अनुसार प्रतिशत लागू करने के लिए समिति की योजना के बीच अधिक अंतर नहीं दिखाई देता। इस मूल्यांकन के दो अलग-अलग आधार हैं और इससे सामान्य अभिव्यक्ति विदित होती है (देखिए केन्द्रीय कोष में प्रांतीय अंशदानों के संबंध में प्रस्ताव पर माननीय राय बहादुर बख्शी सोहन लाल का भाषण, विधान सभा बहस, खंड 3, संख्या 8, पृ. 508) अलबत्ता यह एक भूल है क्योंकि व्यय करने की शक्ति साधारणतया बड़ी अतिरिक्त राशि का दूसरा नाम है। समिति द्वारा किया गया परिवर्तन समान अंशदान के स्थान पर असमान अंशदान के प्रस्ताव में था। इसके मूल्यांकन के आधार में कोई परिवर्तन नहीं किया गया।

रूप में उसने सिफारिश की कि सामान्य स्टाम्पों का प्रांतीयकरण किया जाना चाहिए ताकि अदालती स्टाम्पों के साथ प्रांतीय लाभ के बढ़ाने के साधन बन सकें। अखिल भारतीय सूची से प्रांतीय सूची में इन सामान्य स्टाम्पों के स्थानांतरण का प्रभाव प्रांतीय संसाधनों में वृद्धि करना था और केन्द्रीय सरकार के संसाधनों को कम करना था। समिति ने स्वीकार किया कि वर्ष 1991-92 में दस करोड़ रुपये का घाटा रहा जिसमें भारत सरकार[1] द्वारा अनुमानित 6 करोड़ का पिछला घाटा सम्मिलित है। इसके अलावा सामान्य स्टाम्पों से 4 करोड़ की हानि रही जिसमें समिति ने प्रांतों को राजस्व दिया। यह राशि कुछ समाधानों[2] के अधीन रही। इन समाधानों के फलस्वरूप 983.06 लाख रुपये का स्पष्ट घाटा हुआ। इस विचार का कड़ाई से पालन करने में समिति ने आगे दिए गए अनुपात निर्धारित करने की पद्धति अपनाई जिसके लिए समिति का आदर करना अनिवार्य समझा गया और इस दिशा में 9 प्रांतों को वर्ष 1921-22 में 983 लाख रुपये की राशि को पूरा करने के लिए अंशदान दिए :-

प्रारंभिक अंशदान (लाख रुपये में)

प्रांत	राजस्व के वितरण के अधीन व्यय करने की शक्ति का बढ़ाया जाना	समिति द्वारा निर्धारित सिफारिश किए गए अंशदान	अंशदानों के भुगतान के बाद शेष को व्यय करने की शक्ति को बढ़ाया
मद्रास	5,76	3,48	2.28
बम्बई	93	56	37
बंगाल	1,04	63	41
संयुक्त प्रांत	3,97	2,40	1,57
पंजाब	2,89	1,75	1,14
बिहार और उड़ीसा	51	शून्य	51
बर्मा	2,46	64	1,82
सेंट्रल प्रोविंसेज	52	22	30
असम	42	15	27
योग	18.50	9.83	8,67

1. केन्द्रीय तथा प्रांतीय राजस्व के सीमांकन के बारे में भारत सरकार की सिफारिशें, 1919 का कमांड 334 विवरण 3
2. ये समायोजन बर्मा में मिलिटरी फोर्स, पेंशन और वेतन भत्तों के बारे में थे। सी.एफ. फाइनेंशियल रिलेशंस कमेटी की रिपोर्ट, पैरा 10

प्रारंभिक अंशदानों का यह अनुपात समिति द्वारा किसी भी विधि से ऐसा नहीं था कि इसे आदर्श मानदंड माना जाए और जिस पर प्रांतों को समान आधार पर अंशदान दिए जाने के लिए कहा जाए। वास्तव में प्रारंभिक अंशदानों के संबंध में सिफारिशें करने के लिए समिति ने अंशदानों की..... पर कम ध्यान दिया और इस बात पर अधिक ध्यान दिया :–

''कराधान के स्थापित कार्यक्रम तथा विधायी और प्रशासकीय आशाएं और आदतें जो बिना गंभीर शरारत के गत वर्षों से व्यापक रूप से भिन्न (जैसे समान अनुपात को स्वीकार किया जाना चाहिए) अंशदानों के अधिक समान अनुपात में यकायक समायोजित किए गए। तदनुसार यह आवश्यक है कि यदि इस अंशदानों का अनुपात उसके साथ बहुत कम संबंध रखना चाहिए जो आदर्श रूप से समान होगा।'' परन्तु समिति ने भी यह मान्यता दी कि ''इन प्रकार का आरंभिक अनुपात केवल संक्रमण के रूप में बचाया जा सकता है। यह आवश्यक है परन्तु यह आवश्यक ही है ताकि प्रांतों को समय दिया जा सके कि वे नए वातावरण में अपने बजट का समायोजन कर सकें और हमारा यह स्पष्ट मत है कि अंशदानों की कोई भी योजना संतोषजनक नहीं हो सकती जो न्यायोचित समय में घाटे के भारत को अधिक समान रूप से वितरण करने के लिए कोई प्रावधान नहीं करती है।''

इसलिए समिति प्रारंभिक अंशदानों से भिन्न मानक अंशदानों के प्रश्न को विचार करने के लिए आगे बढ़ी। ऐसे भार के समान वितरण के लिए आदर्श आधार का होना चाहिए इस बारे में समिति काफी आश्वस्त थी, क्योंकि समिति ने बताया कि:–

> ''प्रांतों के बीच समता लाने के लिए आवश्यक है कि भारत सरकार का अनुसरण करने के लिए प्रत्येक प्रांत का कुल अंशदान उसके योगदान की क्षमता के सानुपातिक होना चाहिए।''

इस सिद्धांत को कार्यरूप में परिणत करने के लिए दो प्रश्न निहित थे। भारत सरकार का अनुसरण करने के लिए प्रांत का कितना अंशदान होना चाहिए? दूसरे, प्रांत को अंशदान करने के लिए क्षमता का मापदंड क्या है? पहले के बारे में समिति ने लिखा कि:–

> ''भारत सरकार के कोष में प्रांत का कुल अंशदान भविष्य में घाटे की पूर्ति हेतु होगा जिनमें उसके प्रत्यक्ष अंशदान निहित होंगे और इसके साथ इसके अप्रत्यक्ष अंशदान होंगे (जैसा कि वर्तमान में है) और ये सीमा शुल्क, आयकर, नमक कर आदि के माध्यम से एकत्र किए जाएंगे।''

अन्य शब्दों में यह कहा जा सकता है कि केन्द्रीय सरकार के लाभ के लिए सीमा में करों का दबाव रहा। दूसरे के बारे में समिति ने यह निर्णय किया कि :–

''प्रांतों को अंशदान देने की क्षमता उसकी कर निर्धारण की क्षमता होती है जो उसके कर दाताओं की आय के जोड़ पर निर्भर करती है अथवा उसके कर दाताओं की औसत आय उनकी संख्या से गुणा की जाती है।''

समिति इस तथ्य की स्वीकृति में निष्कपट थी कि जो आंकड़े उपलब्ध थे वे प्रत्यक्ष मात्रा लाभ मूल्यांकन के लिए पर्याप्त न थे या उस कुल निवल अंशदान का मूल्यांकन होता है जो प्रांत ने भारत सरकार को किए अथवा अंशदान के लिए उसकी क्षमता रही तथा निर्णय किया कि:–

''जब तक किसी ऐसे सूत्र के बताने का यत्न न किया जाए जो अशंदानों के मानक अनुपात का आधार हो और जिसमें निश्चित आंकड़ों के द्वारा वर्ष प्रतिवर्ष स्वत: प्रयोग की क्षमता है।''

फिर भी समिति ने उस आदर्श आधार को नहीं छोड़ा जब उसने मानक अंशदान निर्धारित करने का चयन किया था। उसने यह कहा:–

''ऐसे आंकड़े उपलब्ध हैं उनके सर्वेक्षण के बाद और प्रांत की परिस्थितियों की गहन जांच के बाद हम उन अंशदानों के नियत अनुपात की सिफारिश के योग्य हो जाते हैं जो हमारे मत में किसी भी घाटे के भार के मानक और सम वितरण का प्रतिनिधित्व करते हैं। इस अनुपात के मानने में हमने भारत सरकार के कोष में प्रांतों के अप्रत्यक्ष अंशदानों पर विचार किया है और विशेष रूप से सीमा–शुल्क तथा आयकर के दायित्व को समझा है। हमने प्रांतों की तुलनात्मक कर निर्धारण योग्य क्षमताओं की जांच की है। यहां जांच उनकी कृषि और औद्योगिक संपत्ति तथा उनकी आर्थिक अवस्थाओं के अन्य संबंधित पक्षों को लेकर की है जिसमें विशेष रूप से दुर्भिक्ष के लिए उनका दायित्व दिया जाना चाहिए कि हमने उनकी कर योग्य क्षमताओं पर विचार किया है जो वर्तमान समय में हैं अथवा जो निकट भविष्य में होंगी, अपितु कृषि और उद्योग की दृष्टि से प्रसार और विकास के लिए प्रत्येक प्रांत की क्षमता पर भी विचार किया है और खनिजों तथा वनों जैसे अपूर्ण विकसित सम्पत्तियों के बारे में भी विचार किया है। हमने राजस्व के वर्तमान शीर्षों के लचीलेपन पर भी विचार किया है जो प्रत्येक प्रांत के लिए और कर निर्धारण के लिए उसकी सम्पत्ति की उपलब्धता हेतु सुरक्षित किए जाएंगे।''

अपनी पूर्ण क्षमता के अनुसार अनुमान लगाने के बाद प्रत्येक परिस्थिति पर जो बल दिया गया उसके अनुसार समिति ने आगे दिए गए अनुपात की सिफारिश की

जैसा कि भारत सरकार के बजट में घाटे को पूरा करने के लिए प्रांतों के तुलनात्मक अंशदान के लिए समान आधार का प्रतिनिधित्व करते हैं :–

स्थाई अंशदान

मद्रास	**घाटे में अंशदान का प्रतिशत**
मद्रास	17
बंबई	13
बंगाल	19
संयुक्त प्रांत	18
पंजाब	9
बर्मा	6½
बिहार और उड़ीसा	10
सेंट्रल प्रोविंसेज	5
असम	2½
योग	100

समिति इस बात पर सहमत हुई कि पर्याप्त समयावधि होनी चाहिए ताकि प्रांतों को इस मानक अनुपात[1] के अनुसार समान अंशदान देने के लिए कहा जाए तो इससे पहले नई परिस्थितियों के अनुरूप वे अपने बजट का समायोजन कर सकें परन्तु समिति ने यह विचार किया कि समायोजन के लिए जो समयावधि दी गई है उसको अनुचित रूप से नहीं बढ़ाया जाना चाहिए।

प्रारंभिक अनुपात के बारे में समिति ने कहा ''कि हमने जो अनुपात प्रस्तावित किया है वह व्यावहारिक रूप से आवश्यक है परन्तु उन प्रांतों को अधिक अवधि के लिए उस भार के वहन करने की आवश्यकता नहीं है अथवा प्रांतीय बजटों के विस्थापन को रोकने की आवश्यकता से अधिक विस्तार देने की नहीं है जिन्हें इसके अंतर्गत भुगतान करने के लिए कहा जाएगा और जिन्हें क्षमता से अधिक भुगतान करना चाहिए।'' इसलिए समिति ने प्रस्ताव किया:–

''किसी भी ऐसे घाटे के लिए मानक अनुपात के अनुसार अंशदान किए जाने चाहिए जिससे कि अंशदान के सातवें वर्ष और मानक अनुपात के प्रारंभ से संक्रमण

1. मानक अनुपात की दिशा में वित्तीय संबंध समिति द्वारा अपनाए गए आधार की आलोचना देखिए पैरा 12, रायबहादुर के.वी. रेड्डी का सुधार आयुक्त, शिमला को लिखा गया पत्र, 1920 का कमांड 974, पृष्ठ 58, सी.एम.डी., पृ. 974, 920

की प्रक्रिया तक अंशदान के दूसरे वर्ष में लगातार भुगतान किए जाएं और इन्हें प्रतिवर्ष 6 समान भागों में भुगतान किया जाना चाहिए।''

समिति की सिफारिशों के अनुसार 7 वर्ष के लिए अंशदानों के प्रारंभिक, माध्यमिक और अंतिम अनुपात आगे की तालिका में दिखाए गए हैं :–

अंशदान के प्रथम वर्ष से प्रारंभ होकर लगातार सात वर्ष के घाटे में अंशदान का प्रतिशत।

(सम अर्ध भाग तक)

प्रांत	पहला वर्ष	दूसरा वर्ष	तीसरा वर्ष	चौथा वर्ष	पांचवां वर्ष	छठा वर्ष	सातवां वर्ष
मद्रास	35½	32½	29½	25½	23	20	17
बम्बई	5½	7	8	9½	10½	12	13
बंगाल	6½	8½	10½	12½	15	17	19
संयुक्त प्रांत	24½	23½	22½	21	20	19	18
पंजाब	18	16½	15	13½	12	10½	9
बर्मा	6½	6½	6½	6½	6½	6½	6½
बिहार और उड़ीसा	शून्य	1½	3	5	7	8½	10
सेंट्रल प्रोविंसेज	2	2½	3	3½	4	4½	5
असम	1½	1½	2	2	2	2	2½
योग	100%	100%	100%	100%	100%	100%	100%

इन सिफारिशों को भारत सरकार और भारत सचिव (सेक्रेटरी ऑफ स्टेट) द्वारा स्वीकार किया गया। परन्तु जब नियम जिनमें वे निहित थे, उस संसदीय संयुक्त चयन समिति के समक्ष लाए गए, जो भारत सरकार अधिनियम के अंतर्गत बनाए गए नियमों के मसौदे के संशोधन के लिए नियुक्त की गई थी तो समिति ने प्रांतों से राजस्व और अंशदान के आबंटन में कुछ महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किए। संयुक्त समिति ने अपनी रिपोर्ट[1] में मान्यता प्रदान की जो इस प्रकार है:–

''उस समस्या की जटिलता, जिससे वित्तीय संबंध समिति को निपटना था और किसी असंभव समाधान के लिए जो लगभग सभी स्थानीय सरकार को मान्य हो वह बहुत कठिन था। यह विश्वास करती है कि इस प्रस्ताव का असंतोष जैसा कि प्रस्तावों

1. भारत सरकार के अधिनियम पृ. 172 के अंतर्गत बनाए गए प्रारूप नियमों में संशोधन करने हेतु गठित संयुक्त समिति की दूसरी रिपोर्ट, 1920, पृ. 2–3

ने पैदा किया है केन्द्रीय और प्रांतीय सरकारों के बीच संसाधनों के वितरण के लिए अनिवार्य है और उन असमानताओं को दूर करना असंभव है जो दीर्घावधि के परिणाम हैं तथा ऐतिहासिक अवहेलना के कारण हैं।'' समिति ने यह इच्छा व्यक्त की कि ''फिर भी नीति के आधार पर उन अवरोधों द्वारा पैदा की गई निराशा को दूर करना है जिनसे प्रांतों के लिए अंशदान की पद्धति भी बनाई गई है। इस भार को कम करने के लिए साधनों के बारे में समिति ने सुझाव दिया:–

1. ''कि आय पर कर निर्धारण से राजस्व की वृद्धि का कुछ भाग सभी प्रांतों को दिया जाना चाहिए जहां तक यह वृद्धि निर्धारित आय की राशि में वृद्धि के कारण हो।''

2. ''कि किसी प्रांत द्वारा देय प्रारंभिक अंशदान में वृद्धि बिल्कुल नहीं की जानी चाहिए परन्तु कुल अंशदान में शनैः शनैः कमी करना वित्त संबंध समिति द्व ारा सिफारिश किए गए सैद्धांतिक मामलों को प्राप्त करने का प्रमुख साधन होना चाहिए।'' तदनुसार हस्तांतरण नियमों में यह व्यवस्था की गई है कि :

   (15) भारतीय आयकर अधिनियम, 1918 के अधीन जमा किए गए आयकर का एक भाग प्रत्येक स्थानीय सरकार को आबंटित किया जाएगा। उक्त अधि नियम के अंतर्गत निर्धारण में 3 पाई प्रति रुपये आबंटित की जाएगी जिसका संबंध एकत्र किए जाने वाले निर्धारित आयकर से है। इस प्रकार विनिर्दिष्ट पाइयों की संख्या की इस प्रकार गणना की जाएगी ताकि स्थानीय सरकारों को प्रारंभ में ही ऐसी राशि मिल सके जो लगभग 400 लाख की राशि होगी।[1]

---

1. हस्तांतरण नियम 15 से संबद्ध आगे दिए गए उपबंध के अधीन यह व्यवस्था की गई थी :–

   (2) इस आबंटन के फलस्वरूप प्रत्येक स्थानीय सरकार गवर्नर जनरल इन काउंसिल को एक ऐसी राशि का नियत वार्षिक समनुदेशन करेगी जो वर्ष 1920–21 में स्थानीय सरकार को प्रोद्भूत हुई थी (उस वर्ष में विशेष आयकर और यदि स्थापनाओं की लागत के प्रांतीय भाग को कम करने के बाद यदि उस वर्ष में उप–नियम (1) के अंतर्गत पाई गई दर निर्धारित की गई और कर की वसूली में असामान्य रूप से देर हो जाए तो समुचित छूट की व्यवस्था की जाएगी।

   (3) किसी प्रांत में रखी गई विशेष आयकर की स्थापनाओं की लागत स्थानीय सरकार और गवर्नर जनरल इन काउंसिल द्वारा क्रमशः 25 प्रतिशत और 75 प्रतिशत के अनुपात में वहन की जाएगी।

   (4) यदि किसी वित्तीय वर्ष में निर्धारित समनुदेशन के संबंध में उप–नियम (2) और (3) के अधीन स्थानीय सरकार द्वारा देय कुल राशि और विशेष आयकर स्थापनाओं की लागत उप–नियम (1) के अधीन आबंटित आयकर के भाग की राशि से अधिक हो तो उस वर्ष के लिए नियत समुदेशन ऐसी अधिक राशि द्वारा किया माना जाएगा।

(17) वित्तीय वर्ष 1921–22 में स्थानीय सरकारों द्वारा गवर्नर जनरल इन काउंसिल को अंशदानों का भुगतान किया जाएगा जो इस प्रकार होगा :–

प्रांत का नाम	अंशदान (लाख रुपये मे)
मद्रास	3,48
बम्बई	56
बंगाल	63
संयुक्त प्रांत	2,40
पंजाब	1,75
बर्मा	64
सेंट्रल प्रोविंसेज	22
असम	15

(18) वित्तीय वर्ष 1922–23 से आगे 983 लाख का कुल अंशदान अथवा गवर्नर जनरल इन काउंसिल द्वारा निर्धारित कोई भी कम राशि स्थानीय सरकारों द्वारा गवर्नर जनरल इन काउंसिल को भुगतान की जाएगी जैसा कि पूर्व नियम में बताया गया है। यदि किसी वर्ष के लिए गवर्नर जनरल इन काउंसिल पूर्व वर्ष में देय राशि की तुलना में अंशदान की कुल राशि में से अपेक्षाकृत कम राशि निर्धारित करता है तो यह कमी उन स्थानीय सरकारों के अंशदानों से पूरी की जाएगी जिनके गत पूर्व वार्षिक अंशदान आगे दी गई उस अपेक्षाकृत कम राशि में दिए गए अनुपात से अधिक हो जाता है जैसा कि कुल अंशदान निर्धारित किया गया है, और इस प्रकार की गई कोई भी कमी ऐसी अधिक राशि के सानुपातिक होगी :–

मद्रास	$\frac{13}{90}$	भाग
बम्बई	$\frac{19}{90}$	भाग
बंगाल	$\frac{18}{90}$	भाग
संयुक्त प्रांत	$\frac{09}{90}$	भाग
पंजाब		भाग
बर्मा	$\frac{6\ 1/2}{90}$	भाग

(19) आपातकाल की स्थिति में किसी भी प्रांत की स्थानीय सरकार से गवर्नर जनरल इन काउंसिल द्वारा यह आवश्यकता हो सकती है कि वह किसी वित्तीय वर्ष में गवर्नर जनरल इन काउंसिल को ऐसे अंशदान का भुगतान करेगी जो पिछले वर्ष से अधिक होगी।

प्रांतीय और केन्द्रीय वित्त को अलग कर यथासंभव पूर्ण बनाने के लिए दो अन्य मामलों का समाधान किया जाना है। दोनों ही पूंजी के लेन-देन के साथ हुड़े हुए थे। एक प्रांतीय ऋण लेखा का प्रश्न था। उस लेखा से उस निधि का प्रतिनिधित्व हुआ जिससे प्रांतीय सरकार ने कृषि ऋण, ऋणी किसानों को ऋण, नगर पालिकाओं और अन्य स्थानीय निकायों आदि को ऋण दिए। यह पूंजी भारत सरकार द्वारा उपलब्ध कराई गई थी जैसी आवश्यकता हुई थी और इसे वापिस किया गया था जैसा कि उसका पुनर्भुगतान किया गया हो। प्रांत ने भारत सरकार को प्रति वर्ष औसत पूंजी पर ब्याज अदा किया। प्रांतीय सरकार ने ऊंची दर पर ब्याज के भुगतान से बचने के लिये अशोध्य ऋण का भुगतान किया। इस बात पर आमतौर से सहमति हुई कि सुधार योजना का यह स्वाभाविक परिव्यय था कि प्रांतों को अपने भावी वित्त के लिए अपने ही ऋण का लेन-देन करना चाहिए और उनके तथा भारत सरकार के बीच में इस प्रकार के स्वाभाविक संयुक्त खानों को यथासंभव शीघ्रता से बंद कर देना चाहिए। यह मामला वित्तीय संबंध समिति के समक्ष प्रस्तुत किया गया और इस दिशा में उसकी सिफारिशों के आधार पर हस्तांतरण नियमावली के नियम 23 द्वारा यह व्यवस्था की गई कि :-

> "एक अप्रैल 1921 को गवर्नर-जनरल-इन-काउंसिल को देय किसी भी प्रांत के प्रांतीय ऋण लेखा से लिया गया अग्रिम ऋण भारत के राजस्व से स्थानीय सरकार को दिया गया ऋण समझा जाएगा और इस पर ब्याज की वही दर लगेगी जो 31 मार्च, 1921 को लागू थी। ब्याज की राशि ऐसी तारीखों को देय होगी जिन्हें गवर्नर जनरल इन काउंसिल निर्धारित करें। इसके अलावा स्थानीय सरकार गवर्नर जनरल इन काउंसिल को प्रति वर्ष ऋण के मूलधन के भुगतान की किश्त अदा करेगी और यह किश्त इस प्रकार निर्धारित की जाएगी कि गवर्नर जनरल इन काउंसिल किन्हीं विशेष कारणों से अन्य निर्देश दें तो इस कुल ऋण की 12 वर्ष की अवधि समाप्त होने से पूर्व भुगतान कर दिया जाएगा। यह स्थानीय सरकार के लिए विकल्प होगा कि वह नियत किश्त से अधिक राशि का किसी वर्ष भुगतान करे।"

दूसरा प्रश्न सिंचाई कार्यों पर पूंजी-व्यय के उत्तरदायित्व का था। प्रांतीय ऋण लेखा के मामले के अनुसार इसमें भी यह सहमति की गई कि सिंचाई कार्यों को

प्रांतों के नियंत्रण में देना और स्थानीय सरकार को इसके व्यय के लिए जिम्मेदार ठहराना प्रांतीय वित्त की पूर्व विभाजन की योजना से असंगत होगा अतः इस संबंध में[1] नियम यह है कि :–

(1) गवर्नर–जनरल–इन–काउंसिल द्वारा विभिन्न प्रांतों में उत्पादक और सुरक्षात्मक सिंचाई निर्माण कार्यों पर व्यय किया गया पूंजी धन और स्थानीय सरकारों के प्रबंध के ऐसे निर्माण कार्यों के लिए समय–समय पर ऋण निधियों से दी गई धन राशि ऋण समझी जाएगी। भारत के राजस्व से स्थानीय सरकारों में ऋण के रूप में मानी जाएगी। ऐसे ऋणों पर ब्याज की दरें इस प्रकार निर्धारित की जाएंगी अर्थात् :–

(क) परिव्यय की स्थिति में वित्तीय वर्ष 1916–17 के अंत तक 3.3252 प्रतिशत

(ख) वित्तीय वर्ष 1916–17 के बाद लगाया गया परिव्यय पर औसत ब्याज दर वह होगी जो गवर्नर जनरल इन कौंसिल द्वारा उस वर्ष के अंत में खुले बाजार से लिए गए ऋणों पर ब्याज की औसत दर निर्धारित की गई हो।

(2) ब्याज ऐसी तारीखों पर देय होगा जैसा कि गवर्नर जनरल इन काउंसिल निर्धारित करें।

वित्तीय और प्रशासनिक व्यवस्था इतनी डगमगा गई थी कि प्रांतीय सरकारें और केन्द्रीय सरकार इस तरह एक साथ बंध गई थीं जिससे उत्तरदायी सरकार बन ही नहीं सकी। जैसे ही प्रांतों ने सेवाओं तथा आबंटित स्रोतों पर अपना ही स्वीकृत प्राधिकार प्राप्त किया, इससे उन्होंने यह पाया कि उन्हें अपने ही नाम से ऋण लेने की स्वतंत्रता होनी चाहिए जिसका अधिकार उन्हें अभी तक नहीं था। इसके फलस्वरूप सुधार अधिनियम के अधीन स्थानीय सरकार के ऋण लेने संबंधी नियमों[2] को कतिपय शर्तों[3] के अधीन बनाया गया। स्थानीय सरकार अपने

1. हस्तांतरण नियम 24
2. भारत सरकार अधिनियम, 1919 की धारा 2(2) के अंतर्गत नियमावली।
3. (1) स्थानीय सरकार द्वारा गवर्नर जनरल इन काउंसिल की स्वीकृति (यदि भारत में ऋण लिए जाएं) सेक्रे. टरी ऑफ स्टेट इन काउंसिल की स्वीकृति के बिना कोई ऋण नहीं लिया जाएगा और गवर्नर जनरल इन काउंसिल अथवा सेक्रेटरी ऑफ स्टेट इन काउंसिल जैसी भी स्थिति हो, किसी भी ऋण लेने की स्वीकृति के लिए इश्यू की राशि अथवा कोई या सभी शर्तों को स्पष्ट करेगा जिनके अधीन ऋण लिया गया है।
(2) भारत सचिव (सेक्रेटरी ऑफ स्टेट) की स्वीकृति के लिए प्रत्येक आवेदन पत्र गवर्नर जनरल इन काउंसिल के माध्यम से प्रेषित किया जाएगा।

आबंटित राजस्व की जमानत पर निम्नलिखित प्रयोजनों में किसी प्रयोजन के लिए ऋण ले सकती है :–

(क) स्थाई सार्वजनिक उपयोगिता की परियोजना के संबंध में भौतिक प्रकार की स्थाई परिसम्पत्ति अथवा किसी निर्माण व्यय अथवा अधिग्रहण (उसमें भूमि का अधिग्रहण, निर्माण कार्यों और उपकरण की देख–रेख सम्मिलित है)। पर होने वाले खर्चे को पूरा करने के लिए बशर्ते कि :–

(i) प्रस्तावित व्यय इतना अधिक है कि इसे न्यायसंगत रूप से चालू राजस्व से पूरा नहीं किया जा सकता और

(ii) यदि गवर्नर जनरल इन काउंसिल को ऐसा लगे कि परियोजना से होने वाली आय उनके आदेश द्वारा समय–समय पर निर्धारित प्रतिशत से कम है तो ऋण के परिशोधन के लिए रहननामे के प्रबंध किए जा सकते हैं।

(ख) ऐसे सिंचाई कार्यों पर किसी भी श्रेणी के व्यय को पूरा करने के लिए जो अधिनियम के पारित होने से पूर्व लागू नियमों के अधीन ऋण की निधियों से पूरे किये गए हैं।

(ग) दुर्भिक्ष अथवा अभाव के समय सहायता कार्यों को चालू रखने तथा उसके स्थापना पर होने वाले व्यय को वहन करने के लिए।

(घ) प्रांतीय ऋण लेखा को वित्तपोषित करने के लिए और

(ङ) इन नियमों के अनुसार लिए गए ऋणों के भुगतान करने अथवा समाहरण करने के लिए अथवा गवर्नर जनरल इन काउंसिल द्वारा दिए गए ऋण का भुगतान करने के लिए।''

वित्तीय और प्रशासकीय व्यवस्था को समाप्त करने के बाद केवल विधायी तंत्र शेष रहे जिसने अभी तक प्रांतीय स्वायत्तता के विकास को रोके रखा था। यह विधायी तंत्र जैसा कि पहले वर्णित किया गया है उस सिद्धांत के माध्यम से कार्यान्वित किए गए जिनके लिए पूर्व स्वीकृति की आवश्यकता हुई तथा बाद में भारत सरकार की अनुमति की आवश्यकता हुई। सुधार अधिनियम के अधीन बनाए गए नियमों द्वारा उन प्रांतों की विधाई शक्तियों के स्वतंत्र अभ्यास के लिए एक क्षेत्र का चयन किया

गया जिसमें उस सिद्धांत की व्यवस्था की गई थी। जहां तक कर लगाने संबंधी विधान के क्षेत्र का संबंध है यह व्यवस्था की गई कि[1] :–

प्रांत में विधायी परिषद् गवर्नर जनरल की पूर्व स्वीकृति के बिना अनुसूची 1 में सम्मिलित किसी कर को स्थानीय सरकार के प्रयोजनों के लिए आरोपित करने के किसी कानून के बनाने अथवा उसे कार्यान्वित करने के लिए विचार कर सकती है।'' अनुसूची में कर लगाने की मदें शामिल की गई हैं जो इस प्रकार हैं :–

1. कृषि प्रयोजनों के अलावा अन्य प्रयोजनों के लिए प्रयोग की जाने वाली भूमि पर कर।
2. किसी संयुक्त परिवार में उत्तरजीविता द्वारा उत्तराधिकार अथवा अधिग्रहण कर।
3. कानून द्वारा स्वीकृत बाजी लगाने अथवा जुआ खेलने पर कर।
4. विज्ञापनों पर कर।
5. मनोरंजन पर कर।
6. किसी विशिष्ट विलासिता की वस्तुओं पर कर।
7. रजिस्ट्रेशन फीस।
8. ऐसे शुल्कों के अलावा स्टाम्प शुल्क जिसकी राशि भारतीय विधान-मंडल द्वारा निर्धारित की जाती है।

गैर-कर विधान के मामले में नियमों द्वारा अपनाई गई प्रक्रिया कुछ अलग हो गई है। कर विधान के बताए गए नियमों के मामले में पूर्व स्वीकृति की आवश्यकता नहीं थी।

गैर-कर विधान के मामलों में ऐसे नियमों की आवश्यकता थी जिनमें पूर्व स्वीकृति की आवश्यकता थी। पूर्व स्वीकृति के नियमों की आवश्यकताओं में इस अंतर कर प्रभाव यह था कि कर-विधान के मामलों में प्रांतीय सरकार कुछ नामांकित कर ही

---

1. भारत सरकार अधिनियम, 1919 की धारा 10(3)(क) के अधीन नियमावली अनुसूचित कर नियम।
2. भारत सरकार के अधिनियम 1919 की धारा 10(3) एल स्थानीय विधान मंडल पूर्व स्वीकृति नियम के अंतर्गत नियम। यह ध्यान रखना चाहिए कि यदि प्रांतीय विधेयक को पूर्णगामी स्वीकृति की आवश्यकता नहीं फिर भी यह नहीं मान लेना चाहिए कि यह उपरोक्त नियमों के तहत कानून बन गया है क्योंकि इसे प्रांतीय विधायिका की स्वीकृति मिल गई है चूंकि उपरोक्त अधिनियम की धारा 12(1) के तहत बने नियम जिन्हें रिजर्वेशन ऑफ बिल्स रूल्स कहा जाता है के अन्य नियमों के तहत प्रांत का गवर्नर कुछ को रिजर्व रखेगा और अन्य कुछ को रिजर्व रख सकता है जिन पर गवर्नर जनरल की स्वीकृति प्राप्त होनी चाहिए ताकि वे कानून बन सकें यद्यपि उन्हें पूर्व स्वीकृति की आवश्यकता नहीं है।

लगा सकी। गैर-कर विधान के मामले में यह कुछ भी कर सकी किन्तु प्रतिबंध यह था कि इससे कुछ कानूनों का उल्लंघन नहीं होगा। इस अंतर के कारण स्पष्ट थे। प्रांतीय कराधान के आधार को विस्तृत करने का अर्थ यह है कि साम्राज्यवादी कराधान को लघु बनाना है। इस प्रकार का प्रतिकूल प्रभाव गैर-कर विधान के मामले में सरकार की ओर प्रवाहित नहीं हो सका चाहे प्रांतों की गैर-कर विधायी शक्तियां कितनी ही अधिक क्यों न हों। प्रांतों को दिए जाने वाले कराधान की शक्ति विधायी शक्ति देने की अपेक्षा बहुत अधिक सीमित और कठोर थी। फिर भी इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि गत स्वीकृति के संबंध में नियमों ने विधायी प्रांतों को सैद्धांतिक और व्यावहारिक स्वायत्तता देने के मामले में तंत्र को ढीला कर दिया।

यह स्वायत्तता प्रांतों की नई बजट प्रक्रिया में भली-भांति प्रतिबिंबित होती है। पुराने शासन के अधीन प्रांतीय बजट भारत सरकार के वित्त विभाग द्वारा पारित किए जाते थे, प्रांतीय लेखाओं की समीक्षा महालेखाकार द्वारा की जाती थी और भारत सरकार के महालेखा परीक्षक लेखाओं की जांच किया करते थे और विनियोग रपटें भारत सरकार के वित्त विभाग को प्रस्तुत की जाती थीं यह सभी नए शासन के अधीन परिवर्तित हो गया है। प्रांतीय बजट भारत सरकार के वित्त विभाग द्वारा पारित न होकर अब सुधार अधिनियम[1] के तहत प्रत्येक प्रांत में गठित वित्त विभाग द्वारा तैयार किया जाता है और प्रांतीय विधान मंडल द्वारा एक मद के बाद पूरी मद पर मतदान कराया जाता है।[2]

प्रांतों के लेखाओं की समीक्षा अभी भी जारी है[3] तथा उनकी लेखा परीक्षा भारत सरकार के अधिकारियों द्वारा की जाती है। परन्तु नए शासन के अंतर्गत ऐसी महत्त्वपूर्ण बात यह है जो प्रांतीय स्वतंत्रता का प्रमाण चिह्न है कि विनियोग रिपोर्ट आवश्यक कार्रवाई के लिए भारत सरकार को भेजने के बजाय अब लोक लेखा समिति को भेजी जाती है। लोक लेखा समिति का गठन प्रांतीय विधान-मंडल के सदस्यों में से किया जाता है। प्रांतीय विधान-मंडल ने रिपोर्ट के लिए बजट की स्वीकृति दी कि विधान-मंडल द्वारा जिस राशि के लिए मतदान किया गया है वह राशि विधान मंडल द्वारा दिए गए अनुदानों के कार्यक्षेत्र में व्यय की जाएगी।

---

1. प्रांत के वित्त विभाग के गठन और उसके कार्यकरण के लिए भारत सरकार के अधिनियम, 1919 की धारा 1 के अंतर्गत बने अंतरण नियमों का भाग 3 देखें।
2. भारत सरकार के अधिनियम, 1919 की धारा 11(5) के तहत बनाए गए प्रांतीय विधान परिषदों के लिए कार्य संचालन नियमों के नियम 25 से 32 देखें।
3. भारत सरकार के अधिनियम, 1919 की धारा 96 डी (1) के तहत बनाए गए नियम।

इस प्रकार भारत में शासन के लिए केन्द्रीय और प्रांतीय क्षेत्रों को अलग-अलग किया जाता है। इस प्रकार के प्रशासकीय और वित्तीय मामलों का विभाजन करना भारतीय राजनीतिज्ञों और राजनेताओं का स्वप्न था। विकेन्द्रीकरण के संबंध में रायल कमीशन से पूर्व इस बात पर जोर दिया गया और स्वर्गीय श्री गोखले ने अपनी उस राजनीतिक वसीयत में इस बात पर जोर दिया जो उन्होंने अपने निधन से पूर्व लिखी थी। परन्तु ये सभी परियोजनाएं गलत समय पर बनाई गईं और इन्हें उस समय तक प्रभावी नहीं बनाया जा सका जब तक भारतीय संविधान के कानून में परिवर्तन न किया गया। अब यह परिवर्तन कर लिया गया है अतः प्रांतीय स्वायत्तता का आदर्श वास्तविक हो जाता है। परन्तु इस विषय में अध्ययन समाप्त करने से पूर्व यह उपयोगी होगा कि इसके सफलतापूर्वक कार्य में किए गए परिवर्तनों का मूल्यांकन किया जाए।

12

परिवर्तन की समालोचना

यह स्पष्ट है कि अच्छा प्रशासन अच्छे वित्त पर निर्भर करता है। क्योंकि वित्त ''समग्र प्रशासकीय तंत्र का ईंधन है।'' सुधार की योजना का कोई भी पक्ष उन वित्तीय प्रबंधों जिनसे नई प्रशासन व्यवस्था आरंभ होती है, की तुलना में अधिक समीपी और अधिक चिन्तामुक्त अध्ययन की मांग नहीं करता। इस प्रकार की परीक्षा की आवश्यकता इसलिए अधिक होती है क्योंकि सुधार योजना के इस पक्ष की आम जनता या विशेषज्ञ द्वारा तुलनात्मक दृष्टि से बौद्धिक आलोचना बहुत कम हुई है।

विचारणीय पहला प्रश्न यह है कि क्या नए वित्तीय प्रबंधों को प्रशासकीय दृष्टि से व्यावहारिक कहा जा सकता है। प्रशासकीय भद्र लोगों को स्वतंत्र बनाने के लिए उन्हें पूर्णतया अपने ही संसाधनों से वित्तपोषित करना है और इसमें उन्हें एक-दूसरे पर निर्भर रहना है। अतः उन्हें सदैव अधिक महत्त्वपूर्ण संबंध बनाना चाहिए ताकि नया वित्तीय प्रबंध सोचकर किया जाए। यह सत्य हैं कि इस लक्ष्य की प्राप्ति सदैव संभव नहीं है। कुछ मामलों में उनके कार्य करने में यह वस्तुतः सहायक हो सकता है कि भद्र लोग परस्पर आश्रित बनें क्योंकि पारस्परिक निर्भरता के लिए कम से कम सार्वजनिक वित्त के मामलों में निर्बाध सहयोग और शक्ति के लिए विचारणीय आधार प्रस्तुत कर सकता है। फिर भी जहां कहीं भी संभव हो प्रत्येक प्रशासकीय नीति के लिए वित्त में स्वतंत्रता लानी है। इसमें कोई संदेह नहीं हो सकता कि इस विचार से अंशदानों की पद्धति विभाजित मदों की पद्धति से बेहतर होती है। यह विभाजित मदों की पद्धति की मर्यादा के लिए नहीं है। कई सहवर्ती अथवा अतिव्याप्त कर के कार्यक्षेत्रों की मौजदूगी सदैव कठिनाई का एक स्रोत होती है जब प्रतियोगी कर के कार्य-क्षेत्रों में जो राजस्व के विभिन्न क्षेत्रों को विभाजित किया जाता है ताकि प्रत्येक को पर्याप्त विधियों की अनुमति दी जाए। इसका कारण है कि राजस्व के स्रोतों का विभाजन केवल पर्याप्तता के विचार द्वारा ही शासित नहीं होना चाहिए

अपितु उपयुक्तता के विचारों द्वारा भी शासित होना चाहिए। यह कराधान की क्षमता की समस्या है जैसाकि प्रो. सेलिगमैन ने कहा है।[1]

> ''समस्या वस्तुतः बहुत महत्त्वपूर्ण है। योजना भले ही कितनी भी सुविचारित क्यों न हो अथवा न्याय के मूल सिद्धान्तों के समान कितनी ही पूर्णता लिए क्यों न हो परन्तु यदि कराधान व्यवस्था प्रशासकीय दृष्टि से कार्य नहीं करती है तो यह योजना से असफल के गर्त में डूब जाएगी।''

चाहे राजस्व के साधनों में विभाजन किया जाए फिर भी कुछ ऐसे भी हैं जो स्वाभाविक रूप से किसी कराधान के कार्यक्षेत्र द्वारा उपयोगिता के लिए अधिक उपयुक्त है ''परन्तु दूसरा इस बात पर निर्भर करता है कि कर का क्या आधार है? यदि कर का आधार संकीर्ण है तो अधिक संकीर्ण समाधान के कार्यक्षेत्र द्वारा इसके उपयोग के पक्ष में तर्क अधिक सशक्त रहेगा। यदि इसका आधार व्यापक है तो अधिक व्यापक कराधान के कार्यक्षेत्र द्वारा इसकी उपयोगिता के पक्ष में तर्क अधिक संतुलित होगा। परन्तु उपयोगिता के निर्देशों का अनुसरण करने के फलस्वरूप यह सदैव संभव नहीं है कि प्रत्येक प्रशासकीय राज्यतंत्र को अपने प्रयोजनों के लिए पर्याप्त राजस्व प्रदान करने के लिए इसका विभाजन किया जाए। यह हो सकता है कि कोई विशेष कर किसी क्षेत्र के लिए उपयुक्त होता है जबकि उसकी पैदावार उस क्षेत्र के लिए आवश्यक न होने के बजाए किसी ऐसे दूसरे क्षेत्र के लिए आवश्यक हो सकती है जो उस पर रोपित करने के लिए अयोग्य है अथवा दोनों के लिए अंशतः आवश्यक हो सकता है। ऐसी दशा में पर्याप्तता के लक्ष्य किस प्रकार सहायक हो सकते हैं? दो उपचार स्वसयं ही दो सुझाव देते हैं। इनमें से एक का संबंध विभाजित शीर्षों की पद्धति के अपनाने से है और दूसरे का संबंध कई राज्यों के बीच अभाव को समविभाजित करना है और उसे इसको पूरा करने की ओर निश्चित अंशदान करना है।[2]

विभाजित शीर्षों की पद्धति किसी भी दशा में भारतीय वित्त पद्धति के लिए विचित्र थी। इसको कई अन्य देशों द्वारा किसी एक रूप या अन्य रूप में स्वीकार किया गया है। उदाहरण के लिए इंग्लैंड में उत्तराधिकार कर को केन्द्रीय सरकार द्वारा निर्धारित किया जाता है परन्तु आय का एक भाग स्थानीय सरकार को आबंटित किया जाता है। यही बात इंग्लैंड में कुछ अन्य करों के मामले में भी सही है। साम्राज्य के अंतर्गत जर्मनी में कतिपय अप्रत्यक्ष करों की आय संघीय और राज्य सरकारों के

---

1. कराधान संबंधी निबंध (आठवां संस्करण 1913) अध्याय 12, राज्य और संघीय वित्तीय संबंध।
2. इस बात पर ध्यान दिया जाएगा कि यद्यपि नई भारतीय पद्धति विशेषतया अंशदानों की पद्धति है यह विभाजित मदों की पद्धति के मिश्रण के बिना नहीं है जहां तक आयकर का संबंध है।

बीच विभाजित की गई थी। कनाडा में यह सर्वविदित है कि प्रांतीय राजस्व का अधिकांश भाग उन करों की आय से प्राप्त होता है जो संघीय सरकार द्वारा लगाए जाते हैं। भारत में राजस्व के विभाजित शीर्षों की पद्धति के विरुद्ध पक्षपात अंशतः खेदजनक है क्योंकि यह इस विचार पर आधारित है कि यह राजस्व के विभाजन के सिद्धांत के विरुद्ध है। जिन लोगों ने इसका विरोध किया[1] उन्होंने कहा कि इसमें व्यय के विभाजित शीर्ष निहित हैं जिसमें प्रांतों की व्यय करने की शक्तियों में बाधा डाली गई और भारत सरकार को प्रत्यक्ष रूप से अपने बजट अनुमान में हस्तक्षेप करने योग्य बना दिया तथा भारत सरकार ने अपनी प्रत्येक पाई पर निगाह रखी। विभाजित शीर्षों की पद्धति को निस्संदेह इन आपत्तिजनक लक्षणों द्वारा स्पष्ट किया गया है, परन्तु व्यय का विभाजन राजस्व के विभाजन का आवश्यक सहवर्ती न ही है और नहीं यह उसका आवश्यक प्रसंग है कि ऐसा राज्य क्षेत्र को किसी भी आय के अनुमानों की गणना में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए जिसने कर की आय में भाग लिया परन्तु उसका प्रशासन नहीं किया। यदि इसके बुरे लक्षणों को अलग कर दिया जाए तो राजस्व के विभाजित शीर्षों की पद्धति साधारणतया एक दूसरा नाम है जिसको प्रोफेसर सेलिगमैन ने आय की पृथक्करण पद्धति और आय का विभाजन बताया है।[1] इस पद्धति के स्तर में किसी एक कर क्षेत्र द्वारा राजस्व के विशेष स्रोत के विशिष्ट मूल्यांकन सम्मिलित है फिर भी इसमें अन्य कर क्षेत्र की आय के एक भाग का समविभाजन होता है। राजस्व के विभाजित शीर्षों की पद्धति स्रोतों के पृथक्करण की पद्धति समाप्त नहीं की जाती जिसका केवल कारण यह है आय का विभाजन होता है। विभाजित शीर्षों की ऐसी पद्धति में पृथक्कता होती है क्योंकि कर का निर्धारण अलग-अलग किया जाता है जो पृथक्कता का सार होता है और यह विशेषकर एक कर क्षेत्र में होता है और आय का विभाजन इस प्रकार विनियमित किया जा सकता है कि वास्तविक प्रथकता से असंगतता की आवश्यकता नहीं है।

अंशदानों की पद्धति वही करती है जो विभाजित शीर्ष पद्धति का लक्ष्य होता है। विभाजित शीर्षों की पद्धति के समान यह उपयुक्तता तथा पर्याप्तता की परीक्षाओं के उत्तर देती है और इसके लिए प्रशासित किए जाने वाले कर उस क्षेत्र द्वारा दिए जाते हैं जो ऐसा करने के लिए सबसे सहज होते हैं और कराधान क्षेत्र द्वारा कोई राशि गैर-कराधान क्षेत्र को देकर पर्याप्तता की भी परीक्षा दी जाती है। आवश्यक रूप से विभाजित शीर्षों की पद्धति और अंशदानों की पद्धति एक समान होती है। इन दोनों में केवल यह अंतर होता है कि जहां तक आय

---

1. आर.सी.डी., मिट ऑफ एवीडेंस, खंड 6, क्यू 25017-25020, खंड 7, क्यू. 35531, 35225-29
2. सामने उद्धरण अध्याय II, राज्य और स्थानीय राजस्व की पृथकता, विशेषकर पृष्ठ 365-66

के समविभाजन का संबंध है उनमें से एक मदवार प्रबंध है जबकि दूसरा कुल राशि का प्रबंध है इसलिए वास्तव में ऐसा कुछ भी नहीं है कि दोनों में से किसी का चयन किया जाए। परन्तु यह मामला किसी अपयश की पद्धति का अलग नाम देने के लिए ही नहीं है ताकि यह आशा की जाए कि इसके अच्छे प्रतिफल होंगे। अंशदानों की पद्धति में विभाजित शीर्षो की पद्धति की तुलना में उच्चता का एक वास्तविक विचार बिन्दु है। यह न केवल निर्धारता की पृथक्कता की ही अनुमति देता है वरन् विभाजित शीर्षो की पद्धति से कहीं अधिक पृथक्कता पैदा करता है। विभाजित शीर्षो की पद्धति के अंतर्गत प्राप्त करने वाले पक्ष का कर निर्धारण में चिंतायुक्त संबंध होता है और राजस्व के विभाजित शीर्षो के प्रशासन में किसी शिथिलता के लिए कर का एकत्र किया जाना उसके हितों को विपरीत रूप से बाध्य करता है; और इसलिए कर के प्रशासन में भाग लेने का दावा किया जा सकता है परन्तु अंशदानों की पद्धति के अंतर्गत ऐसी संभावना का कोई स्थान नहीं है। इसके भाग को उसी समय आश्वस्त किया जाता है जब वह कर-निर्धारण और एकत्र करने के कार्य से परे हो। इस प्रकार विभाजित शीर्षो की पद्धति के अंतर्गत पृथकता अंशदानों की पद्धति के अंतर्गत होती है।

जब हम नए वित्तीय प्रबंधों की क्षमता का विश्लेषण करते हैं तो हमें यह पता चलता है कि बड़ी आपत्तियां अंशदानों की पद्धति में उठाई जाती हैं परन्तु इनमें से कई आपत्तियां गलत समझी जाती हैं। यह याद रखना चाहिए कि भारत में प्रांतों से केन्द्रीय सरकार को अंशदान उनकी व्यय करने की क्षमता के अनुसार विनियमित किए जाते हैं। दूसरे शब्दों में घाटे से निपटने के लिए व्यय का समविभाजन का यह तरीका पर्याप्तता के लक्ष्यों में सहायक होता है और यह बात स्पष्ट है परन्तु ऐसा क्या है जो इतना स्पष्ट नहीं है, परन्तु यह सब वही है जो अंशदानों की पद्धति का बड़ा गुण है। यह कर-क्षेत्र के प्राप्त करने और देने में अर्थव्यव्यस्था को प्रोन्नत करता है। कर-क्षेत्र के योगदान में यह व्यर्थ का व्यय उसके भार को बढ़ाता है जबकि प्राप्त हुआ कर क्षेत्र के व्यर्थ का व्यय अंशदानों की वृद्धि में प्रत्यक्ष ही प्रतिबिंबित होता है। फिर भी यह विरोध किया जाता है कि अंशदान न्याय-विरुद्ध होते हैं, क्योंकि वे जनसंख्या पर ही आधारित नहीं थे और न ही क्षेत्र अथवा सम्पत्ति अथवा प्रांतों की क्षमता पर आधारित होते हैं। यह भी शिकायत की जाती है कि व्यय करने की शक्तियों के अनुसार अंशदानों की पद्धति विवेकहीन होती है क्योंकि यह अधिक प्रगतिशील प्रांतों में वांछनीय व्यय को निमंत्रित करती है। अलबत्ता बाद के अपने सामान्य स्वरूप में अंशदानों के व्यय के तरीके द्वारा समविभाजन के लिए वास्तविक आपत्ति है। परन्तु दूसरी ओर यह कहा जा सकता है कि यदि क्षेत्र वांछनीय लक्ष्यों के लिए अधिक व्यय के भार उठाने का इच्छुक है तो उस मामूली से अतिरिक्त भार का भय दिखाकर रोक देगा जो अंशदान में वृद्धि का परिणाम होगा। दूसरे, यदि

यह पाया गया कि अंशदान से ऐसा परिणाम पैदा हुआ तो इस प्रकार के व्यय की छूट देने के सरल औचित्य की स्वीकृति द्वारा इसे अनावश्यक बनाना संभव होगा जो आवश्यक समझे जाते हैं। इन व्ययों को कैसा होना चाहिए यह समायोजन का मामला होगा, जो अलग–अलग होगा। अंशदानों की उगाही के तरीके से व्यय के तरीके द्वारा समविभाजन की पद्धति के गुण अविकल रूप से सुरक्षित किए जाएंगे। और इसके स्वतः लक्षण समान रूप से भलीभांति कार्य करेंगे यदि सभी खर्चों के बजाय कुछ खर्चों को गणना के आधार के रूप में चुना जाए।

फिर भी इस आपत्ति को अंशदानों की भारतीय पद्धति के विरुद्ध उत्तेजित नहीं किया जा सकता। सबसे पहले, अंशदान परिवर्ती धन–राशि नहीं है जैसा कि अन्य देशों की वित्तीय पद्धतियों के मामले में है। चूंकि प्रांत केन्द्रीय सरकार के घाटे को पूरा करने के लिए अंशदायी होते हैं, इसलिए यह याद रखना चाहिए कि वे केन्द्रीय घाटे को पूरा करने के लिए उत्तरदायी हैं चाहे वर्ष प्रति वर्ष कुछ भी क्यों न हो। दूसरी ओर, साधारण वर्षों में प्रांत 9.83 लाख रुपये के मानक केन्द्रीय घाटे को पूरा करने की दिशा में अंशदान कर सकते हैं। ऐसा मामला होने पर भी अंशदान प्रांतीय बजटों में अनिश्चितता का तत्त्व नहीं बनाते। दूसरे अंशदान केन्द्रीय और प्रांतीय सरकारों के बीच वित्तीय प्रबंधों के लिए स्थायी लक्षण नहीं हैं। अंशदानों की उगाही केवल अस्थायी रूप से विचार की जाती है ताकि भारत सरकार अपना वित्तीय उद्धार कर सके और भारत सरकार ने यह वचन दिया है कि वह ऐसी नीति का पालन करेगी जो यथासंभव कम समय में अंशदानों की समाप्ति कर सके। अंत में मानक राजस्व की तुलना में अंशदानों का अनुपात अथवा प्रांतों से किसी प्रांत का व्यय इतना अधिक नहीं है कि वह अपनी वित्तीय पद्धति का भारी दुःस्वप्न देखे तथा परिवर्ती मात्रा न होने के कारण यह नहीं कहा जा सकता कि प्रांतों द्वारा उस उपयोगी व्यय को नियंत्रित करे जो उन्हें खर्च करने का प्रस्ताव करते हैं।

वास्तव में अंशदानों की उगाही को व्यय के समविभाजन तरीके से त्रुटियों के विरुद्ध कुछ भी कहा जाए, यह इन्कार करना कठिन होगा कि यह पद्धति विशेष रूप से समता की आवश्यकताओं का उत्तर देती है। वास्तव में इससे अन्य प्राप्तियों की अपेक्षा भार का अधिक समान[1] विरतण होता है। इस बात का न्यायोचित रूप से अनुमान लगाया जाता है कि व्यय जनसंख्या[2] अथवा क्षेत्र से कहीं अधिक संबंधित समुदायों की वास्तविक क्षमताओं के लगभग बराबर होते हैं। यह सिद्धांत अपने आप में ही समान नहीं होता परन्तु ऐसी सावधानी बरती गई है कि अलग–अलग प्रांतों

1. देखिए–सेलिगमैन, सामने के उद्धरण का पृष्ठ 360।
2. साम्राज्य के अधीन जर्मनी में राज्यों से अंशदान जनसंख्या के आधार पर समविभाजित किए गए। यही स्थिति स्विटजरलैंड में है।

के बीच उसके प्रयोग में समता लाई जाए। हम जानते हैं कि अंशदान इस प्रकार विनियमित किए जाते हैं कि धनी और गरीब प्रांतों में व्यय करने की शक्ति को सुरक्षित रख दिया जाता है ताकि वे अपनी उन अधिक आवश्यकताओं को पूरा कर सकें जो मानक व्यय के लिए किसी आंकड़े द्वारा पूरी नहीं की गई हैं।

आसान अंशदानों के पक्ष में समान अंशदानों के रद्द करने का मुख्य उद्देश्य यह देखना था कि अंशदानों के भार ने किसी भी प्रांत को इस बात से वंचित नहीं किया कि वह अतिरिक्त व्यय को पूरा करे जैसा कि वह नितांत आवश्यक समझे। वास्तव में अंशदानों की कोई भी पद्धति भारतीय पद्धति की तुलना में अधिक साम्यता बनाने में गणना ही की जा सकती।

अभी तक हमने इस बात की जांच की है कि क्या नवीन वित्तीय प्रबंध प्रशासकीय देय से व्यावहारिक और समान है। हमें अब यह देखना है कि क्या प्रबंध वित्तीय रूप से पर्याप्त सिद्ध हुए हैं? यह बात याद रखी जाएगी कि वित्तीय संबंध समिति ने यह निर्णय किया कि देश के आम स्रोत प्रचुर मात्रा में थे, उसके लिए बुद्धिमत्तापूर्ण योजना की आवश्यकता थी ताकि प्रत्येक प्रांत के पास ''व्यय करने की शक्ति'' अथवा अतिरिक्त राशि पर्याप्त मात्रा में बनी रहे।

(हजारों-रुपये में)

प्रांत		**मानक अंक**	**संशोधित 1921-22**	**बजट 1922-23**
मद्रास	राजस्व व्यय बेशी	14,98,02	15,58,59	16,76,50
	और घाटा	14,07,20	17,15,93	17,18,55
		90,02	1,57,34	42,05
बम्बई	राजस्व व्यय	12,09,70	13,67,13	14,93,06
	बेशी और घाटा	11,55,03	16,52,80	15,42,17
		54,67	2,85,67	50,11
बंगाल	राजस्व व्यय	8,55,28	8,86,53	10,55,86
	बेशी और घाटा	8,61,13	11,10,60	10,36,90
		5,85	2,24,07	18,96
संयुक्त प्रांत	राजस्व व्यय	12,29,88	13,34,31	13,58,67
	बेशी और घाटा	12,06,56	14,59,87	13,85,65
		1,23,32	1,25,56	26,98

प्रांत		मानक अंक	संशोधित 1921-22	बजट 1922-23
पंजाब	राजस्व व्यय	9,73,51	10,73,76	11,38,26
	बेशी और घाटा	9,10,69	12,23,24	12,68,44
		62,82	1,49,48	1,30,18
बर्मा	राजस्व व्यय	8,24,28	9,99,33	10,00,57
	बेशी और घाटा	7,84,78	10,27,51	11,90,70
		39,50	28,18	1,90,13
बिहार और	राजस्व व्यय	4,30,39	4,46,15	4,62,65
उड़ीसा	बेशी और घाटा	4,20,70	4,85,97	5,13,80
		90,69	39,82	51,15
मध्य भारत	राजस्व व्यय	4,35,37	5,14,80	5,35,23
(सेंट्रल	बेशी और घाटा	4,38,80	5,41,76	5,72,17
प्रोविंसेज)		3,43	29,96	36,94
असम	राजस्व व्यय	1,81,46	2,01,12	2,08,06
	बेशी और घाटा	1,78,25	2,19,45	2,22,58
		3,21	18,33	14,52

समिति द्वारा जिस योजना की सिफारिश की गई थी, उसकी गणना को ऐसे अलबत्ता स्वीकार किया जाना था। परन्तु जब हम सुधारों के प्रारंभ किए जाने के समय से अलग-अलग प्रांतों के बजटों का विश्लेषण करते हैं तो यह नितांत निराशाजनक लगता है।

इस प्रकार वर्ष 1922-23 के लिए नौ प्रांतों के अनुमानित राजस्व और लाभ पर विचार करते समय यह वि्ति हुआ कि केवल दो प्रांतों अथार्त् बर्मा और बंगाल के चालू राजस्व के बीच केवल संतुलन पाया गया और बाद में यह परिणाम भी प्राप्त नहीं हो सका परन्तु केन्द्रीय सरकार को अपने वार्षिक अंशदान के अस्थायी छूट[1] में निहित था तथा कराधान का कार्यक्रम बनाया गया ताकि 140 लाख रुपये एकत्र किए जा सकें। शेष प्रांतों में वर्ष के घाटे बढ़कर कुल 7,74 लाख रुपये हो गए। यह भारी घाटा नए-नए कराधान[2] से 3,52 लाख रुपये तक वित्तपोषित हुआ। और शेष घाटा बची हुई राशि से और जनता तथा केन्द्रीय सरकार से ऋण लेने से पूरा किया

1. विधान सभा बहस, खंड 3 संख्या 8
2. देखिए—भारत सरकार, वित्त विभाग का सेक्रेटरी ऑफ स्टेट फॉर इंडिया को तारीख 13 जुलाई, 1922 का पत्र संख्या 13

गया। परन्तु भारत सचिव (सेक्रेटरी ऑफ स्टेट) ने अपने डिस्पैच[1] में बताया कि ''गत वर्षों के एकत्रित राजस्व शेष से आंशिक रूप में प्रांतीय घाटों को वित्तपोषित करने की प्रक्रिया अब व्यावहारिक रूप से समाप्त हो जाएगी और इस प्रकार शेष राशियां चालू वित्त वर्ष में सामान्यतया समाप्त हो जाएंगी यदि प्रांतों की वित्तीय स्थिरता को भारत सरकार की वित्तीय अंतिम जोखिम के सरल कम नहीं आंका जाए तो जनता अथवा केन्द्र सरकार से सीधे ही ऋण लेकर प्रांतीय घाटों की शृंखला को जारी रखना असंभव हो जाएगा।

इसका क्या समाधान है? अप्रैल, 1922 में शिमला में एक सम्मेलन आयोजित किया गया जिसमें केन्द्रीय सरकार और प्रांतों के बीच वित्तीय प्रबंधों से संबंधित विभिन्न मामलों पर विचार किया गया। इस सम्मेलन में यह स्पष्ट किया गया कि भारत सरकार और प्रांत स्थायी और परिचित आय पर प्रांतीय वित्त का ठोस पुनर्वास सुनिश्चित करने हेतु समाधान ढूंढ़ने के लिए विभिाजित हो जाएं। प्रांतों ने सुधार अधिनियम द्वारा किए गए वित्तीय प्रबंधों के संशोधन द्वारा उनके संसाधनों में वृद्धि का प्रस्ताव रखा। दूसरी ओर, भारत सरकार के प्रवक्ता के रूप में भारत सचिव (सेक्रेटरी ऑफ स्टेट) ने इस बात पर जोर दिया कि ''व्यय में कमी करके और राजस्व की वृद्धि की ओर उन्मुख होकर साधनों के अपनाने से संतुलन प्राप्त किया जा सकता है।''

परन्तु प्रांत अपने उन प्रस्तावों में एक मत नहीं थे जो उन्होंने प्रबंध व्यवस्था में फेरबदल करने के लिए बनाये थे। बम्बई सरकार ने ''विभाजित शीर्षों की पुरानी पद्धति को पूरा लागू करने का प्रस्ताव[2] किया जबकि अन्य सरकारें इसके विपरीत रहीं। परन्तु अधिकांश राज्य अंशदानों के उन्मूलन द्वारा सुरक्षित मुक्ति के पक्षधर थे। नए वित्तीय प्रबंधों की ओर प्रांतों की प्रवृत्ति है। वे विभाजित मदों की पद्धति तथा अंशदानों की पद्धति दोनों ही के विरुद्ध हैं। इससे दोनों ओर का लाभ उठाया जाता है और निश्चय ही वे ऐसा प्राप्त कर सकते थे यदि देश के वर्तमान संसाधनों की उचित रूप से देखरेख रखी जाती। वित्त की अपर्याप्तता सदैव राजस्व के संसाधनों की कमी का परिणाम नहीं है। राष्ट्रीय समृद्धि महान और विकसित हो सकती है तथा राष्ट्रीय सम्पत्ति की वृद्धि अबाध गति से आगे बढ़ सकती है।[3] यदि ऐसी परिस्थितियों में पर्याप्त राजस्व प्राप्त नहीं किया तो इसका दोष सामाजिक आय में निहित नहीं है। अलबत्ता यह सरकार का दोष है जिसके लिए कहना चाहिए

1. देखिए–सेक्रेटरी ऑफ स्टेट वित्त द्वारा ऊपर बताए गए पत्र के उत्तर में डिस्पैच तारीख 9 नवम्बर 1922 का संख्या 17
2. सम्मेलन के परिणाम के सारांश के लिए देखिए– भारत सरकार का पत्र सुपरा पृष्ठ 257
3. सेक्रेटरी ऑफ स्टेट का डिस्पैच, सुपरा पृष्ठ 257

कि वित्तीय प्रयोजनों के लिए राष्ट्रीय संसाधनों को संगठित करने और इन्हें व्यवस्थित करने में असफल हुए हैं। कुछ सीमा तक यही बात भारत सरकार के लिए सही है।

देश के राष्ट्रीय संसाधनों का सर्वेक्षण करते समय यह बात स्पष्ट हो गई है कि ऐसे दो स्रोत हैं जिन्हें सरकार उचित रूप से व्यवस्थित करने योग्य नहीं बनी है। इनमें से एक भू-राजस्व है। यह विख्यात है कि भू-राजस्व भारत सरकार का सबसे बड़ा संसाधन है। भू-राजस्व की उगाही के लिए प्रत्येक किसान को अंशदान देना होता है परन्तु उनमें से प्रत्येक के लिए निर्धारण की दर समय-समय पर बढ़ाई नहीं जाती। दूसरी ओर बंगाल और भारत के अन्य भागों में निर्धारण की दर स्थायी तौर पर तय की जाती है। इसके फलस्वरूप भारत के ऐसे भागों में, जो लम्बी अवधि की स्थिर सरकार तथा परिणामस्वरूप पूंजी की वृद्धि का लाभ उठाते हैं, उन भागों की अपेक्षा समृद्धि में अधिक उन्नति प्राप्त की है। भू-राजस्व में व्यावहारिक रूप से कोई वृद्धि नहीं होती लेकिन भू-स्वामी अपनी अधिक बढ़ी हुई आय के साथ राज्य के वित्तीय भार की वृद्धि में कुछ भी योगदान नहीं करते। लार्ड केनिंग के समय से स्थाई बंदोबस्त का लोगों की वित्तीय दशा सुधारने के लिए रामबाण के रूप में सुझाव दिया है। 1860 के घोर दुर्भिक्ष के बाद भारत के तत्कालीन वायसराय और गवर्नर जनरल ने भारत के सभी भागों में स्थाई बंदोबस्त के विस्तार की सिफारिश की। सर जान (बाद में लार्ड) लारेंस ने इस सिफारिश का समर्थन किया तथा सेक्रेटरी ऑफ स्टेट फॉर इंडिया, सर चार्ल्सवुड और सर स्टेफर्ड नार्थकोट ने इस प्रस्ताव का अनुमोदन किया। सौभाग्यवश देश के लिए स्थाई बंदोबस्त को व्यापक बनाने का प्रस्ताव 1883 में रद्द कर दिया गया। निस्संदेह कुछ लोगों ने इस निर्णय को दुर्भाग्यपूर्ण माना और इसके बाद अधिक समय तक स्थाई बंदोबस्त के पक्ष में अपना आंदोलन जारी रखा परन्तु वास्तविक शक्ति यदि इस आंदोलन में थी, किसी विदेशी और अनुत्तरदायी नौकरशाही के वित्तीय संस्थानों को सीमित करने के इरादे से ली गई थी। उस समय स्थाई बंदोबस्त के पक्ष में जिन लोगों ने आंदोलन किया था उन्होंने यह महसूस नहीं किया कि यह अनुत्तरदायी नौकरशाही किसी दिन लोगों के उत्तरदायी शासन को स्थाई बंदोबस्त में बदल देगी क्योंकि नौकरशाही के अप्राधिकृत लाइसेंस को समाप्त करने के लिए उत्तरदायी शासन स्थापित करने की इच्छा की गई थी। इससे व्यवस्थित प्रगति के मार्ग में प्रवेश करने के लिए लोकप्रिय सरकार की स्वतंत्रता को बंधन में डाल दिया गया। एक घटिया सरकार अपनी वित्तीय शक्तियों का दुरुपयोग कर सकती है परन्तु ऐसी सरकार अच्छी सरकार नहीं हो सकती यदि उसकी वित्तीय शक्तियों पर गंभीर सीमा हो इसलिए यह अच्छी बात थी कि स्थाई बंदोबस्त के अवगुण को भारत

भर में फैलने की अनुमति नहीं दी गई। परन्तु यह अधिक अच्छा होगा यदि नवीन वित्तीय प्रबंधों की आवर्ती बंदोबस्त पद्धति से भू-राजस्व के स्थाई बंदोबस्त पद्धति को बदलने के लिए उपाय निकाला जाता। यह देश के सामान्य संसाधनों के बढ़ाने का एक महत्त्वपूर्ण उपाय था और इसके द्वारा सभी संबंधित सरकारों को उपयुक्तता प्रदान की। इसके बजाए वित्तीय प्रबंध पर इस प्रकार विचार किए गए कि वे ऐसे प्रांतीय दबाव स्थाई रूप से व्यवस्थित प्रांतों के अधीन नहीं थे जो स्थाई बंदोबस्त पर पुनर्विचार करने के लिए उन पर दबाव के व्यावहारिक परिणाम को प्राप्त करते।''[1]

यदि ऐसा किया गया होता तो सभी के लाभ के लिए सामान्य संसाधनों को बढ़ाया जाता। जैसी कि स्थिति थी, स्थाई बंदोबस्त के बचाए रखने के पक्ष में न केवल व्यवस्था की गई परन्तु बंगाल जिसमें स्थाई रूप से बसे हुए भू-स्वामियों की संख्या सबसे अधिक थी, भारत सरकार को अंशदान देने के लिए मुक्त कर दी गई थी क्योंकि भारत सरकार पर अन्य उपायों से अपना घाटा पूरा करने के लिए दबाव डाला गया था।

इसलिए भू-राजस्व एक ऐसा स्रोत था जिसे नवीन वित्तीय प्रबंधों के लिए पर्याप्तता प्रदान करने के हित में सुव्यवस्थित किया जा सकता था। एक अन्य स्रोत सीमा-शुल्क का राजस्व है जिसे सरकार उपयोग करने से इंकार करती है। वित्तीय नीति जो गदर से पूर्व के दिनों में अपनाई गई थी आत्मघाती प्रकार की थी। जैसा कि हम जानते हैं कि यह नीति इसी प्रकार की थी। यही बात गदर के बाद वित्तीय नीति के लिए सही है। गदर से लेकर इस समय तक भारत सरकार ने राज्य की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए सीमा शुल्क से प्राप्त राजस्व को स्रोत के रूप में उपयोग नहीं किया और जब भारत सरकार ने इसका उपयोग किया तो अधिक अनिच्छा से उपयोग किया और कभी भी इसका भरपूर उपयोग नहीं किया, उन परिस्थितियों का वर्णन नहीं किया जाना है जब भारत सरकार ने खजाने की अत्यधिक मांग होने पर भी इस स्रोत से अपने राजस्व को वस्तुतः कम कर लिया।[2] इस प्रकार की वित्तीय नीति के पक्ष में दिया गया प्रत्यक्ष कारण यह है कि सीमा-शुल्क से प्राप्त राजस्व सैद्धांतिक रूप से गलत है, प्रत्येक व्यक्ति जानता है कि भारत में सीमा-शुल्क से राजस्व एकत्र नहीं किया जाता क्योंकि यह आशंका है कि इसके अंतर्गत भारतीय उद्योग अंग्रेजी उद्योगों के विरुद्ध सुरक्षित किए जाएंगे। यह बात निर्विवाद है कि भारत की पूर्ण नीति इंग्लैंड के निर्माताओं के हितों द्वारा अधिदेशित है और इसके कारण को जानना सरल है। भारत के लिए सर्वोच्च कार्यकारी भारत सचिव (सेक्रेटरी ऑफ

1. संयुक्त रिपोर्ट, पृ. 171
2. वित्त वक्तव्य 1880-81 के लिए पैरा 74

स्टेट फॉर इंडिया) प्रत्यक्ष रूप से इंग्लैंड के मतदाताओं का वशवर्ती है जिनकी मुख्य चिंता यह देखने की है कि उनके बाजार उनके विरुद्ध बंद नहीं किए गए हैं क्या संरक्षणात्मक नीति अच्छी है या बुरी—यह अलग प्रश्न है। इस समय इस बात पर ध्यान दिया जाना पर्याप्त है कि भारत सरकार अपनी वित्तीय शक्तियों पर हानिकारक परिसीमन के अधीन रही है जो राजस्व के स्रोत का उपयोग करने से वंचित करती है जो सर्वत्र वित्तीय संसाधनों में सबसे लचीला और प्रचुर सिद्ध हुआ है। यदि ये परिसीमन न होते तो सभी संभाव्यता में वर्तमान वित्तीय अपर्याप्तता बिल्कुल भी घटित न होती और विभाजित शीर्षों की पद्धति स्वीकार करने अथवा अंशदानों को आरोपित करने के लिए कोई आवश्यकता न होती। देश के कर लगाने के संसाध नों का परिसीमन के कारण स्थिति यह है कि केन्द्रीय सरकार के बजट का घाटा अनिवार्य है। यदि इस तथ्य को मान लिया जाए तो उस घाटे को पूरा करने के किसी तरीके को स्वीकार करना अनिवार्य था और इसमें कोई संदेह नहीं है कि अपनाई गई पद्धति उस पद्धति से अधिक अच्छी है जिसने उसका स्थान लिया है। केन्द्रीय सरकार के वित्त की वर्तमान परिस्थितियों में अंशदानों को तय किए गए मामले के रूप में समझना चाहिए। यह भी नहीं कहा जा सकता कि अंशदानों के उन्मूलन से प्रांतीय वित्त की स्थिरता पुनः प्रतिष्ठित हो जाएगी। इसमें कोई संदेह नहीं है कि प्रांतीय सरकारों का यह विचार प्रचलित है और इस प्रकार का विचार गैर–सरकारी राजनीतिज्ञों के लिए भी है। 14 सितंबर, 1922 को भारतीय विधान सभा में एक प्रस्ताव प्रस्तुत किया गया और यह उसी विचार पर आधारित था कि यदि भारत सरकार इन अंशदानों को समाप्त करना चाहती थी तो उसे शीघ्र ही प्रांतों की वित्तीय स्थिति को संतुलित करना होगा। इस विश्वास को इस अनुदान द्वारा सशक्त किया गया कि सभी प्रांतों के सकल अनुमानित घाटे ने यह स्पष्ट किया कि वित्तीय वर्ष 1922–23 में 352 लाख रुपये का घाटा था और चूंकि प्रांतों द्वारा साम्राज्यवादी सरकार को कुल अंशदान 983 लाख रुपये का था अतः इस राशि की छूट प्रांतीय बजटों में घाटे को पूरा करेगी। फिर भी यह कहना चाहिए कि 352 लाख रुपये का घाटा प्रांतों की सही स्थिति को नहीं बताता जैसा कि अधिनियम द्वारा किए गए वित्तीय प्रबंधों से प्राप्त किया गया है। यदि हम नए प्रबंध का अनुसरण करके प्रांतों की सही स्थिति जानना चाहते हैं तो हमें लगाए गए नए कराधान पर ध्यान देना चाहिए तथा साम्राज्यवादी खजाने में उसके अंशदान की छूट द्वारा बंगाल के लाभ पर ध्यान देना चाहिए। इसके लिए समायोजन हेतु प्रांतों की स्थिति आगे दी गई है यदि अंशदानों के बिना रहती :–

1922-23 में प्रांतों की वित्तीय स्थिति

(हजार रुपयों में)

प्रांत	राजस्व	व्यय	लाभ या घाटा
मद्रास	15,99,00	17,18,55	−1,19,55
बम्बई	14,32,06	15,42,17	−1,10,11
बंगाल	9,15,86	10,99,90	−1,84,04
संयुक्त प्रांत	13,58,67	13,85,65	−28,98
पंजाब	11,38,26	12,68,44	−1,30,18
बर्मा	10,00,57	11,90,70	−1,90,13
बिहार और उड़ीसा	4,62,65	5,13,80	−51,15
मध्य भारत (सेंट्रल प्रोविंसेज)	5,35,23	5,72,17	−36,94
असम	2,05,06	2,22,58	−17,52
कुल घाटा	–	–	−8,66,60

इस गणना के अनुसार प्रांतों का कुल घाटा लगभग 867 लाख रुपये होगा। परन्तु हमें इस लेखे में कुछ अन्य समायोजन करने चाहिए। यह संभव नहीं हुआ है कि सेंट्रल प्रोविंसेज के राजस्व से वह राशि घटा दी जाए जो सेंट्रल प्रोविंसेज की उत्पादक शुल्क की वृद्धि से ली गई है। दूसरे वर्ष 1922-23 के लिए सेंट्रल प्रोविंसेज के राजस्व में गत वर्षों के स्थगित राजस्व की वसूली सम्मिलित है। यदि इन समायोजन को प्रांतों का कुल घाटा बनाया गया होता तो इससे ऐसा आंकड़ा निकाला जाएगा जो अंशदानों की छूट द्वारा पूरा किया जाएगा। इसलिए हमें यह निष्कर्ष निकालना होगा कि यदि केन्द्रीय सरकार के बजट में इस प्रकार की छूट द्वारा उत्पन्न अतिरिक्त घाटे को वित्तपोषित करने की समस्या की अवहेलना की जाए कि अंशदानों की छूट प्रांतों में वित्तीय अभाव को दूर करने के लिए अपर्याप्त साधन होगा।

किन्तु यदि प्रांतीय वित्त के संबंध में उत्पन्न कठिन स्थिति को अंशदानों की छूट से नहीं सुधारा जा सकता तो हमें इस मामले की जड़ तक पहुंचना चाहिए और यह पूछना चाहिए कि ऐसे क्या कारण हैं जिनसे ऐसी स्थिति उत्पन्न हुई है। क्या प्रांतों के साधारण व्यय के कारण ऐसा हुआ है जो वास्तविकता से कम आंके गए थे? अथवा क्या प्रांतों के साधारण राजस्व के कारण ऐसा हुआ है जो वास्तविकता से अधिक आंके गए थे? इस प्रयोजन के लिए सबसे पहले हमें यह जानना चाहिए कि क्या प्रांतों को आबंटित संसाधन प्रांतों की सामान्य आवश्यकताओं की दृष्टि से

वस्तुतः अपर्याप्त थे। आगे दी गई तालिका में मानक प्राप्तियों और व्यय की तुलना की गई है और व्यय से संभावित अग्रिम राशि को पूरा करने के लिए उनके बीच शेष मार्जिन को दिखाया गया है।

मानक राजस्व और मानक व्यय

प्रांत	मानक राजस्व	मानक व्यय	मानक व्यय की तुलना में मानक राजस्व का लाभ या घाटा
मद्रास	14,98,02	14,07,20	90,82
बम्बई	12,09,70	11,55,03	54,67
बंगाल	8,55,28	8,61,13	−5,85
संयुक्त प्रांत	12,29,88	11,06,56	1,23,32
पंजाब	9,73,51	9,10,69	62,82
बर्मा	8,24,28	7,84,78	38,50
बिहार और उड़ीसा	4,30,39	4,20,70	9,69
मध्य भारत (सेंट्रल प्रोविंसेज)	4,35,37	4,38,80	−3,43
असम	1,81,46	1,78,25	3,21

इस संबंध में यह स्पष्ट है कि दो प्रांतों को छोड़ कर मानक व्यय के ऊपर मानक राजस्व ने पर्याप्त *मार्जिन* छोड़ा है। केवल बंगाल और सेंट्रल प्रोविंसेज में कोई *मार्जिन* नहीं था जिसका कारण यह था कि मानक व्यय मानक राजस्व से कुछ ही अधिक था। परन्तु बंगाल के मामले में केन्द्रीय सरकारर को अंशदान में छूट द्वारा इस दोष को ठीक कर लिया गया और सेंट्रल प्रोविंसेज के मामले में मानक राजस्व के ऊपर मानक व्यय की अधिकता वस्तुतः बहुत कम थी। इसे छोड़कर शेष प्रांतों में वास्तविक मार्जिन बहुत अधिक था। अब हमें वास्तविक आंकड़ों की ओर ध्यान देना चाहिए और उनकी मानक आंकड़ों से तुलना करनी चाहिए। सबसे पहले हम प्रांतीय बजटों के राजस्व के बारे में विचार करेंगे क्या मानक राजस्व से वसूल किया गया राजस्व कम हो गया है। आगे दी गई तालिका में नए अधिनियम के अंतर्गत किए गए वित्तीय आबंटन में प्रांतों की वसूल की गई प्राप्तियों की माने गए मानक आंकड़े की तुलना साधारण है :–

प्रांतीय राजस्व*

प्रांत	मानक राजस्व	मानक के ऊपर वृद्धि मानक में कमी	
		1921–22 के लिए	1922–23 के लिए
	रुपये	रुपये	रुपये
मद्रास	14,98,02	60,57	40,41
बम्बई	12,09,70	1,57,47	2,22,36
बंगाल	8,55,28	31,25	60,58
संयुक्त प्रांत	12,29,88	1,04,43	1,28,79
पंजाब	9,73,51	1,00,15	1,64,75
बर्मा	8,24,28	1,75,05	1,76,29
बिहार और उड़ीसा	4,30,79	15,76	32,26
मध्य भारत (सेंट्रल प्रोविंसेज)	4,35,37	79,43	99,86
असम	1,81,46	22,60	23,60

*विशेष रूप से नए कराधान

ऊपर दी गई तालिका से यह तथ्य स्पष्ट रूप से उभरता है जो तुरंत स्वीकार नहीं किया जा सकता अर्थात् वसूल किया गया राजस्व किसी भी दशा में मानक राजस्व से कम नहीं हुआ है। फिर भी यह पूछा जा सकता है कि क्या वसूल किए गए राजस्व की वृद्धि प्रांतों के मानक राजस्व और मानक व्यय के अंतर्गत अनुमानित मार्जिन के बराबर है? इस प्रश्न पर कुछ प्रकाश डालने के लिए आगे दी गई ताकिला रोचक है :–

प्रांतीय राजस्व की वृद्धि

प्रांत	मानक मार्जिन	वसूल की गई राशि की अधिकता या कमी	
		मानक मार्जिन के ऊपर मार्जिन	
		1921–22 के लिए	1922–23 के लिए
मद्रास	90,82	−30,25	−50,41
बम्बई	54,67	1,02,80	1,68,19
बंगाल	−5,85	25,40	54,73
संयुक्त प्रांत	1,23,32	−18,89	5,47

जारी....................

प्रांत	मानक मार्जिन	वसूल की गई राशि की अधिकता या कमी	
		मानक मार्जिन 1921–22 के लिए	ऊपर मार्जिन 1922–23 के लिए
पंजाब	62,82	37,33	1,01,93
बर्मा	39,50	1,35,55	1,36,79
बिहार और उड़ीसा	9,69	6,07	22,57
मध्य भारत (सेंट्रल प्रोविंसेज)	3,43	76,00	96,43
असम	3,21	19,39	20,39

इन आंकड़ों से यह स्पष्ट है कि मद्रास को छोड़कर वसूल किया गया मार्जिन मानक मार्जिन से कम नहीं हुआ है। वसूल की गई राशि की अधिकता मानक मार्जिन से कहीं अधिक है। इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि प्रांतों की वित्तीय कमी इस कारण है कि प्रांतीय राजस्व अवास्तविक सामान्य स्थिति तक पहुंचने में असफल रहा है। दूसरी ओर राजस्व प्रांतों के सामान्य व्यय को पूरा करने के लिए आवश्यकता से अधिक थे। इस मामले के तथ्यों से भलीभांति निकाला गया निष्कर्ष केवल यह है कि प्रांतीय घाटे प्रांतों के व्यय में असाधारण वृद्धि[1] के कारण हैं। इस विचार के समर्थन में आगे दिए गए आंकड़े पर्याप्त साक्ष्य प्रदर्शित करते हैं :–

प्रांत	मानक व्यय	[1]मानक के ऊपर वृद्धि –मानक में कमी	
		1921–22 के लिए	1922–23 के लिए
मद्रास	14,07,20	3,08,73	3,11,35
बम्बई	11,55,03	2,97,77	3,87,14
बंगाल	8,61,13	2,49,47	1,75,77
संयुक्त प्रांत	11,06,56	3,43,31	2,79,09
पंजाब	9,10,69	3,12,55	3,57,75
बर्मा	7,81,78	2,42,73	4,05,92
बिहार और उड़ीसा	4,20,70	65,27	93,10
मध्य भारत (सेंट्रल प्रोविंसेज)	4,38,80	1,02,96	1,23,37
असम	1,78,25	41,20	44,33

1. इस तथ्य की सारांश में समीक्षा के लिए देखें–भारत सरकार के पत्र के सार।

इसलिए हम भारत सचिव (सेक्रेटरी ऑफ स्टेट) के इन विचारों की ओर उन्मुख होते हैं कि व्यय में कमी और कराधान में वृद्धि प्रांतीय वित्त को ठोस आधार देने के लिए एकमात्र उपचार है। ऐसे क्या अवसर हैं कि प्रांत व्यय में कमी और कराधान में वृद्धि करेंगे जो उनकी सुरक्षा के लिए अधिक आवश्यक है? इस संबंध में यह ठीक है कि महान वित्त पोषक श्री जेम्स विल्सन के कथन को दोहराया जाए। उन्होंने कहा कि :–

> ''वित्त केवल गणित नहीं है, वित्त एक महान नीति है। ठोस वित्तव्यवस्था के बिना ठोस सरकार संभव नहीं है, ठोस सरकार के बिना ठोस वित्तव्यवस्था संभव नहीं है।''

यदि उसमें कोई सत्यता है तो क्या प्रांतीय सरकारें मितव्ययता करेंगी अथवा नहीं करेंगी या कराधान की वृद्धि का सामना करेंगी। यह स्थिति इस बात पर निर्भर करती है कि क्या सुधार अधिनियम द्वारा प्रांतों में स्थापित सरकारी पद्धति ठोस पद्धति है अथवा नहीं। अब सरकार की प्रकृति क्या है जो सुधार अधिनियम के अधीन प्रांतों में स्थापित की जाती है? बोलचाल की भाषा में इसे द्विशासन की पद्धति कहते हैं। इसके अधीन प्रांत की कार्यपालिका पूर्ववत् गवर्नर इन काउंसिल में बनाने के बजाय अब गवर्नर युक्त काउंसिल (गवर्नर इन काउंसिल) और गवर्नर युक्त मंत्रिपरिषद् (गवर्नर इन मिनिस्ट्री) के बीच विभाजित की जाती है। इसके अधीन केन्द्र लिए गए विषय को प्रांतीय रूप में अंकित विषय को फिर विभाजित कर आरक्षित और अंतरित विषय माना जाता है। पहले प्रकार के विषय गवर्नर जनरल इन काउंसिल के अधिकार में होते हैं और दूसरे प्रकार के विषय गवर्नर इन मिनिस्ट्री के अधिकार में होते हैं। प्रांतीय कार्यपालिका के इन भागों में ''आरक्षित विषयों की प्रभारी परिषद् पूर्ववत् प्रांतीय विधान-मंडल के प्रति अनुत्तरदायी रहती है और उसके द्वारा हटाए नहीं जा सकते। तथा इस अर्थ में गैर-संसदीय कार्यपालिका है। प्रांतीय कार्यपालिका का दूसरा भाग अर्थात् ''अंतरित'' विषयों का प्रभारी मंत्रालय की नियुक्ति प्रांतीय विधान-मंडल के चुने गए सदस्यों द्वारा की जाती है। ये सदस्य उस प्रांतीय विधान-मंडल के लिए उत्तरदायी बनाए जाते हैं जो न्यूनाधिक लोक मत पर आधारित होता है तथा उसके द्वारा हटाए जा सकते हैं और इस अर्थ में इसे संसदीय कार्यपालिका कहते हैं।

प्रांतीय विधान-मंडल प्रांतीय कार्यपालिका के दोनों भागों से सर्वोच्च है। इसे विधान बनाने की पूर्ण शक्तियां ही नहीं मिली हैं अपितु कानून की व्यवस्था करने के लिए भी पूर्ण तथा उन्मुक्त शक्तियां मिली हैं। प्रांतीय बजट के संबंध में इसके मतदान और स्वीकृत करने की शक्तियां पूर्ण हैं। यद्यपि इसकी व्यवस्था सुधार अधिनियम[1] में की गई है जो इस बात की अनुमति देता है कि :–

1. भारत सरकार का अधिनियम, 1919, देखिए धारा 2 (2)(ए)

''स्थानीय सरकार को ऐसी किसी मांग के संबंध में शक्ति प्राप्त होगी (राशि की स्वीकृति) ताकि वह ऐसा कार्य करे मानो उसकी स्वीकृति दे दो गई हो, चाहे स्वीकृति को रोका जाए अथवा प्रांतीय विधान-मंडल द्वारा संदर्भित मामले में इसमें निहित राशि की कमी हो, यदि मांग का संबंध आरक्षित विषय से है [यह विषय गवर्नर युक्त काउंसिल (गवर्नर इन काउंसिल) के प्रभार में सौंपा गया है] और गवर्ननर ने यह प्रमाणित किया कि मांग द्वारा व्यवस्थित व्यय इस विषय में उसमें उत्तरदायित्व निर्वहन करने के लिए आवश्यक है।''

क्या ऐसी सरकार ठोस वित्त की समस्याओं का समाधान कर सकती है? यह स्पष्ट है कि इस द्विशासकीय कार्यपालिका के दो भागों को एक अर्थात् गवर्नर इन काउंसिल को व्यय के कम करने के लिए बहुत कम चिंतित होने की आवश्यकता है अथवा कराधान की वृद्धि की आवश्यकता है। यह संसद से अपना अधिवेशन प्राप्त करता है और इस प्रकार किसी भी नीति को अपनाने में मुक्त है- इसका समर्थन किया जाता है क्योंकि कर दाता के सबसे अच्छे हितों के लिए किसी संबंध के बिना गवर्नर की प्रमाणित करने की शक्ति द्वारा किया जाता है। संयुक्त रिपोर्ट के लेखकों ने यह देखा था कि विधानमंडल की इच्छाओं को दबा कर यह प्रमाणित करने की शक्ति गवर्नर इन काउंसिल की ओर से अनुत्तरदायी अपव्यय को प्रेरित करती थी और गवर्नर इन मिनिस्ट्री को ऐसी समान शक्ति के साथ दान देने का प्रस्ताव किया था जिसे पूर्व स्थिति में प्रतिबंध के रूप में कार्य करना था। उस शक्ति में ऐसा उपबंध सम्मिलित किया जाता था जिसमें यह दिया गया था कि ''आरक्षित'' विषयों के हितों में भी कोई भी कराधान मंत्रालय की अनुमति के बिना किसी भी प्रांत में आरोपित नहीं करना चाहिए।[1] भारत में राजनीतिज्ञों का एक अतिवादी वर्ग है और यह वर्ग अपर्याप्त कर सुधारों को कम से कम कराने पर तुल गया है और इस वर्ग ने मंत्रियों को सोच समझ कर बलि का बकरा बनाने के लिए इस उपबंध को नापसंद किया तथा उन्हें लोगों के बीच अविश्वासी बना दिया। परन्तु उनके प्रतिद्व द्वी ''नरमपंथी'' ने जो अब अपने को ''उदारवादी'' कहते हैं, यह कोई भी नहीं जानता कि वे ऐसा क्यों कहते हैं- देखा जाए तो स्पष्ट रूप से उस उपबंध का क्या अर्थ था? यदि इसे मूर्त्त रूप दे दिया जाता तो निस्संदेह मंत्रालय केवल बाध्य संस्था ही नहीं होती तो उस परिषद् को सलाह देती जिसे स्वीकार किया जाता अथवा रद्द किया जाता परन्तु बजट के व्यवस्थापन में सशक्त आवाज पाप्त कर लेता। इस तथ्य को ध्यानपूर्वक देखें कि किसी भी मंत्री को जब तक वह बजट के प्रस्तावों को संभव ठहराने की स्थिति में न हो और इनमें वे प्रस्ताव भी हासिल किए जाएं

1. संयुक्त रिपोर्ट, पैरा 256

जो आरक्षित विषयों के थे, यह आशा होती कि वह नए कराधान के प्रस्ताव पर सहमत कराने के लिए विधान-मंडल को राजी कर लेगा, ''आरक्षित'' विषयों अर्थात् परिषद् पर मंत्रालय का प्रभाव आवश्यक रूप से मितव्ययिता और कटौती की दिशा में होगा। ''नरमपंथी'' इस उपबंध की व्याख्या करने में पूर्णतया सही थे और देश को नए कराधान से बोझिल करने के अपने आग्रह में ठीक थे।[1] परन्तु घोर विवादास्पद मामले में और सुधारों की वास्तविकता से जनता को विश्वसनीय बनाने की उनकी इच्छा से उन्होंने कुछ मनोरंजक चित्र बनाए कि इस उपबंध के तत्वावधान में कार्य करने वाले मंत्रीगण किस प्रकार परिषद् को मुकाबले पर रखेंगे। उसने नौकरशाही को सचेत कर दिया। नौकरशाही ने यह शोर मचाया कि ''आरक्षित'' विषयों के लिए इस उपबंध का छोड़ना खतरनाक था कि उन मंत्रियों की दया पर अर्पित करना था जिन्होंने उन विषयों की पर्याप्त बजट व्यवस्था को इंकार करने के परिणामों के लिए कोई भी उत्तरदायित्व वहन नहीं किया था। संयुक्त रिपोर्ट[2] के लेखकों ने इस दलील के बल को महसूस किया और यह स्वीकार किया कि प्रबंधों की सफलता संगत तरीकों से कार्य करने वाले उपयुक्त व्यक्तियों के कार्य पर निर्भर करती थी। शायद वे इस अनुमान से इंकार करने में सही थे कि मंत्रीगण या तो अपने दावों के कम करने या कराधान आरोपित करने में सहयोग नहीं देंगे ताकि उस व्यय को पूरा किया जाए जिसे परिषद् ''आरक्षित'' विषयों के समुचित प्रशासन के लिए आवश्यक समझती थी। परन्तु समर्थकों के अप्रिय उल्लास से भयभीत नौकरशाही ने इस बात पर जोर दिया कि विवेकी व्यक्ति कभी-कभी पूर्ण विश्वास के साथ उन अन्य विवेकी व्यक्तियों से अधिक मतभेद रखेंगे जब कार्य उपलब्ध कराने का प्रश्न आएगा जिसे एक पार्टी सशक्त और विकसित बनाने के लिए उत्तरदायी थी जबकि दूसरी पार्टी अपने धन का शेयर पाने के लिए चिंतित थी। उसके मत में उन परिस्थितियों का भली-भांति अनुमान किया जा सकता है जिनमें औचित्य प्रभावोत्पादक नहीं था। यह तर्क दिया गया कि हमें यह अनुमान करना चाहिए कि गवर्नर इन काउंसिल ने किसी आरक्षित विषय पर आवश्यक नया और भारी व्यय प्राप्त किया है परन्तु वह मंत्रियों को प्रेरित नहीं कर सकता कि वे अपने विषयों अथवा उसके लिए कराधान आरोपित करने के लिए स्वीकृति की अनुमति दे सकें। इसके बाद गवर्नर अपनी विशेष शक्तियों के अधीन उस व्यय के लिए आग्रह करता है जिसे आगामी बजट में व्यवस्थित किया जाना होता है। और इसका परिणाम यह है कि मंत्रियों के पास अपने अंतरित विषयों की अपर्याप्त निधि रह जाती है। क्या होना है? क्या मंत्रियों पर इस बात का

---

1. वाइनबर्ज, सेपरेशन ऑफ स्टेट एंड लोकल रेवेन्यूज इन कैनेडा, पृ. 13 एक उदाहरण के लिए जहां सैन्य शक्ति कैनेडा में उसके व्यय का स्वेच्छा से भुगतान करने के लिए स्थापित की गई।
2. संयुक्त रिपोर्ट, पैरा 257

दबाव डाला जाएगा कि वे कर की वसूली करें क्योंकि प्रत्यक्ष रूप से उनकी यह आवश्यकता है परन्तु परिषद् द्वारा उनकी इच्छा के विरुद्ध आवश्यकता बनाई गई है, यह बताया गया कि इस प्रकार की प्रक्रिया उत्पीड़क, उत्तेजक और असमर्थनीय होगी। इसके बाद हम यह अनुमान करें कि मंत्रियों ने आवश्यक राशि की वसूली की अनुमति दी परन्तु विधान-मंडल ने अपने राजस्व कानून पारित करने के लिए इनकार कर दिया। क्या मंत्रियों को त्याग-पत्र देना चाहिए क्योंकि उन्होंने अपना विश्वास खो दिया है? नौकरशाही ने संयुक्त रिपोर्ट के लेखकों के सामने एक अन्य दुविधा उत्पन्न कर दी। मंत्रियों ने अपने ही किसी प्रयोजन के लिए नए कर की वसूली की। आगामी बजट में गवर्नर स्वयं इस बात से बाध्य हो गया कि किसी नई आवश्यकता के लिए आरक्षित व्यवस्था में काफी वृद्धि कर दी जाए और इस प्रकार "अंतरित" विषयों की व्यवस्था में कमी की जाए। मंत्रीगण वास्तव में अपनी नए कराधान की प्राप्तियों पर ध्यान देते हैं जिनसे कुछ ऐसे विकास कार्यों को वित्तपोषित किया जाना है जिनके लिए वे उत्तरदायी नहीं होते और वास्तव में वे उन्हें अस्वीकार कर सकते हैं। उन्हें क्या करना है? इन कठिनाइयों के दूर करने के लिए इस उपबंध को निकाल दिया गया और इसके स्थान पर आगे दिए गए परिवर्तन अंतरंग नियमावली में किए गए :-

कराधान और ऋण

30. प्रांत के राजस्वों पर धन उधार लेने अथवा कराधान बढ़ाने के लिए सभी प्रस्ताव कार्यकारी परिषद् सहित गवर्नर और मंत्रीगण द्वारा परस्पर रूप से विचार किए जाएंगे परन्तु इसके बाद गवर्नर इन काउंसिल या गवर्नर और मंत्री अथवा मंत्रीगण द्वारा निर्णय किया जाएगा जैसे यह प्रस्ताव गवर्नर इन काउंसिल अथवा गवर्नर और मंत्रियों की ओर से आया है।

अंतरित विषयों के प्रशासन के लिए राजस्व का आबंटन

31. आरक्षित और अंतरित विषयों दोनों के प्रयोजन के प्रशासन के लिए व्यय प्रत्येक राज्य में सामान्य राजस्वों और शेष राशियों पर भारित होगा और अंतरित तथा आरक्षित विषयों के संबंध में व्यय के प्रस्तावों का निर्माण उस समझौते का विषय होगा जो इस सरकार की ओर से अंतरित विषयों के प्रशासन के लिए उत्तरदायी है और इस सरकार की ओर से जो आरक्षित विषयों के प्रशासन के लिए उत्तरदायी है, के बीच समझौता किया जाएगा।

समझौते की असफलता की दशा में प्रक्रिया

32. (1) बजट की तैयारी के समय यदि गवर्नर इस बात से संतुष्ट है कि यदि एक ओर कार्यकारी परिषद् के सदस्यों और दूसरी ओर मंत्रियों के बीच उपयुक्त

अवधि में समझौता किए जाने की कोई आशा नहीं है ताकि आरक्षित और अंतरित विभागों में क्रमशः निधियों का समविभाजन हो सके तो गवर्नर अपने लिखित आदेश द्वारा आरक्षित और अंतरित विषयों के बीच प्रांत के राजस्व एवं शेष राशियों का आबंटन उन राजस्वों और शेष राशियों के आंशिक अनुपातों के उल्लेख द्वारा विषयों के प्रत्येक वर्ग को निर्धारित करेगा।

(2) इस नियम के अंतर्गत आबंटन का आदेश गवर्नर अपने विवेक के अनुसार या उस प्राधिकार की रिपोर्ट के अनुसार जो गवर्नर के आवदेन पत्र पर इस हेतु गवर्नर जनरल द्वारा नियुक्त किया जाएगा, जारी करेगा।

आबंटन के आदेश की अवधि

33. इस प्रकार का प्रत्येक आदेश (जब तक शीघ्र ही उसको रद्द न कर दिया जाए) उस आदेश में उल्लिखित अवधि के लिए प्रभावकारी होगा और यह अवधि वर्तमान विधायी परिषद् की अवधि से कम न होगी तथा यह अवधि एक वर्ष से अधिक न होगी।

किन्तु गवर्नर किसी भी समय यदि उसकी कार्यकारी परिषद् और मंत्रियों की इच्छा हो, आबंटन का आदेश रद्द कर देगा अथवा ऐसा आबंटन करेगा जो उसके द्वारा सहमत किया गया है,

किन्तु यदि वह आदेश जिसके रद्द किए जाने का प्रस्ताव है, गवर्नर जनरल द्वारा नियुक्त प्राधिकारी की रिपोर्ट के अनुसार पारित किया गया था तो गवर्नर को उसे रद्द करने से पूर्व गवर्नर जनरल की अनुमति प्राप्त करनी होगी।

आबंटन के आदेश की शर्त

34. इन नियमों के अधीन आबंटन का प्रत्येक आदेश यह व्यवस्थित करेगा कि यदि नए कराधान के आरोपण के द्वारा किसी आदेश की अवधि में राजस्व में वृद्धि होती है जब तक कि विधान-मंडल अन्यथा आदेश दे, सरकार के उस भाग की सहायता के लिए आबंटित किया जाएगा जिसके द्वारा कराधान प्रारंभ किया गया है।

आबंटन के आदेश के समझौते की कमी में बजट बनाना

35. यदि किसी बजट की तैयारी के समय कोई भी समझौता या आबंटन जैसा कि इन नियमों के द्वारा किया गया है, नहीं किया जाता तो बजट वर्ष के समाप्त होने तक बजट में आरक्षित और अंतरित विषयों के लिए क्रमशः व्यवस्थित अनुदानों के आधार पर तैयार किया जाएगा।

इस प्रकार औचित्य पर निर्भर रहने के बजाए जबकि परिस्थितियां प्रायः उत्तेजक हों तो इन नियमों के तहत मंत्रालय के विरुद्ध कार्यवाही करते हुए एहतियात बरती

जाती है और आरक्षित विषयों की निधि के आबंटन का समर्थन नहीं किया जाता तथा गवर्नर को ऐसे आबंटन की अनुमति दी जाती है जो कार्यपालिका के दोनों भागों को बाध्य होती है और गवर्नर की अनुमति से प्रांतीय विधान-मंडल में वीटो करने का अधिकार दिया जाता है जिससे यह आवश्यक समझना चाहिए कि आरक्षित विषय पर बजट अनुदान फिर से बहाल किया जाए यदि प्रांतीय विधान-मंडल द्वारा उसे या तो रद्द कर दिया गया है या कम कर दिया गया है जिसे प्रांतीय बजट के निर्धारण का अधिकार है और तीसरे गवर्नर इन काउंसिल को गवर्नर इन मिनिस्ट्री (मंत्रालय में गवर्नर के) समान नए कराधान लगाने अथवा नए ऋण लेने की अनुमति है जिसका संबंध उसके अपने प्रभार के विषयों के विकास से है। इसका परिणाम यह है कि इस द्विशासकीय कार्यपालिका के एक भाग अर्थात् गवर्नर इन काउंसिल की अर्थव्यवस्था में रुचि रखने के लिए कुछ कारण हो सकता है अथवा कराधान के विचारों द्वारा अधिक भारमुक्त हो सकता है। इसकी सप्लाई प्रांतीय वित्त की स्थिरता की चिंता को आश्वस्त करती है और इसे कुछ दूर ही समझा जाना चाहिए। इसलिए ठोस वित्त के पुनरुद्धार की समस्या को पूरा करने का कुल भार ''अंतरित'' विषयों के प्रभारी मंत्रालय में गवर्नर पर है। वितरण और स्थायित्व की शक्तियों के अंतर्गत ऐसे अंतरित विषय हैं जो उन निधियों के बिना आगे बढ़ जाते हैं जिनकी उन्हें आवश्यकता होती है और ऐसे वे विषय जिनके प्रभारी अर्थात् मंत्रीगण जिन्हें मितव्ययता के आवेग को सहन करना चाहिए अथवा नए कराधान की ओर पुनरुद्धार करना चाहिए ताकि प्रांतों के वित्त में संतुलन लाया जा सके। यह संदेहपूर्ण है कि गवर्नर इन काउंसिल नए करों की वसूली के दूभर कार्य का चयन करेगा अथवा मितव्ययता का अभ्यास करेगा, जब उनके लिए वित्त को बढ़ाने के अन्य उपाय उपलब्ध हों जो उन्हें अन्य विषयों के संबंध में मिले हैं जो उनके नियंत्रण में हैं। क्या सरकार का अलग आधा भाग अर्थात् गवर्नर इन मिनिस्ट्री मितव्ययता बरतने की सहमति देगा अथवा आवश्यकता पड़ने पर नए कराधान को भार के वहन करेगा? यह विशेषकर विधान-मंडल के स्वभाव पर आश्रित है।

प्रारंभ में ही इस बात पर ध्यान दिया जाना चाहिए कि विधान-मंडल शीघ्र ही हुए कराधान बढ़ाने की परियोजना का समर्थन करेगा। यह कहना सही है जैसा कि बर्क ने टिप्पणी[1] की है कि :-

> ''लोगों से यह कहना कि वे अपनी लोक संपत्ति की जीर्णावस्था से राहत प्राप्त कर लेंगे एक क्रूर और धृष्ट आरोपण है। राजनेताओं को अपने राजस्व के विनाश से लोगों को दी गई राहत पर अपना मूल्यांकन करने से पूर्व समस्या के समाधान

1. फ्रांस की क्रांति पर टिप्पणी।

के लिए सावधानीपूर्वक ध्यान देना चाहिए था कि यह क्या लोगों के लिए अधिक लाभदायक होगा और इसे अनुरूप लाभ होगा अथवा कुछ या बिल्कुल भी लाभ नहीं होगा और सभी अंशदान के भार से मुक्त होगा?''

इस प्रश्न का दार्शनिकों का उत्तर कुछ भी हो सकता है परन्तु इसमें कोई संदेह नहीं है कि भारत जैसे गरीब देश में जहां कराधान के भार को वहन करने की बहुत कम क्षमता है यदि क्रूर नहीं तो यह सदैव दुःखद है कि इस भार में वृद्धि करने का प्रस्ताव किया जाए। अतिरिक्त कराधान के प्रस्तावों से बचा जाएगा क्योंकि उससे चुनावों में विधायकों के अवसरों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ सकता है। जब तक विधान-मंडल में सीट प्राप्त करने के लिए नामांकन की साधारण विधि थी तब तक निर्वाचकों के पक्षपात पर ध्यान देना अनावश्यक था। परन्तु जब विधान-मंडल के उम्मीदवार को एक निर्वाचित सीट का जो उपहार है और ऐसे में वह निर्वाचक को कर देने का प्रस्ताव करता है तब ऐसे उम्मीदवार को जीतने के लिए बहुत कम अवसर है चाहे नए करों से सानुपातिक लाभ से कितना ही अधिक लाभ क्यों न मिलता हो। इसके अलावा राजनीतिक पार्टी जिसने भारी कराधान पर आरोप लगा कर नौकरशाही से अपनी शक्ति प्राप्त की है, इसी नीति के अनुसरण द्वारा अपने को अपमानित कराने की सहज सहमति नहीं दे सकती। विधानमंडल की ओर से कराधान की आंतरिक विमुखता आरक्षित और ''अंतरित'' विषयों की ओर विधान-मंडल की विचित्र प्रवृत्ति द्वारा सशक्त की जाती है। आरक्षित विषय वे हैं जो अधिकांशतया शांति और व्यवस्था से संबंध रखते हैं और अंतरित विषय वे हैं जिनका संबंध अधिकांशतया प्रगति से होता है परन्तु जैसा कि पहले ही बताया गया है कि सुधारों से पूर्व नौकरशाही की नीति प्रगति को व्यवस्थित कराने में बलिदान के लिए बनाई गई थी। अतः यह स्पष्ट है कि संशोधित संविधान के अंतर्गत लोकप्रिय विधान-मंडलों का उद्देश्य यह होना चाहिए कि वे ऐसे विषयों के पक्ष में कार्य करें जिनसे प्रगति होती है। कराधान की वृद्धि की ओर उनकी विमुखता और अंतरित विषयों के लिए उनकी पक्षपात की भावना उनका पक्षपात करेगी ताकि मंत्रियों की ओर से ऐसे प्रस्तावों का स्वागत किया जाए ताकि आरक्षित विषयों के लिए आबंटित राशियों में अधिक कटौती की जाए। मंत्रियों की ओर उनकी प्रवृत्ति अधिकांशतया मितव्ययता की राशि से शासित की जाएगी। वे अंतरित विषयों के लाभ के लिए आरक्षित विषयों में प्रभावकारी होने के योग्य होंगे। इस प्रकार राजस्व की वृद्धि के बड़े आसान न होने के कारण कार्यपालिका के दोनों अर्धभाग, वितरण और प्रकरण शक्ति द्वारा समर्पित गवर्नर इन काउंसिल और लोकप्रिय विधान-मंडल की सामान्य द्वारा समर्पित गवर्नर इन मिनिस्ट्री एक दूसरे पर मितव्ययता के दबाव अपने विषयों के दबाव के मामले में प्रतियोगी होंगे। यदि विधान-मंडल कर लगाने

में अनिच्छुक हों, गवर्नर इन काउंसिल कटौती को रोकने की स्थिति में रहे तथा गवर्नर इन मिनिस्ट्री विस्तार करने की चिंता में हो तो प्रांतीय वित्त के शीघ्र ही संतुलन करने के अवसर बहुत कम हो जाएंगे।

इसलिए यह स्पष्ट है कि प्रांतों में कोई भी ठोस वित्त व्यवस्था न हो तो इसका कारण द्विशासन है जो अच्छी प्रशासन व्यवस्था नहीं है। द्विशासन की पद्धति अच्छी सरकार क्यों नहीं है? इस प्रश्न का उत्तर अति सरल है। द्विशासन की पद्धति अहितकर सरकार बनाती है क्योंकि यह पद्धति सामूहिक उत्तरदायित्व के सिद्धांत के विरुद्ध है। प्रशासकीय तंत्र सुगमता और सामंजस्यता के साथ कार्य करना चाहिए। परन्तु इसे ऐसा करने के लिए सरकारी कार्य की निष्पक्षता के सिद्धांत और प्रशासकों के सामूहिक उत्तरदायित्व के क्रियान्वयन को मान्यता दी जानी चाहिए। सरकार का कार्य अपनी प्रकृति के अनुसार अविभाज्य होता है और यह तथ्यों से मेल खाते हुए दिखाई नहीं देता क्योंकि सरकार के व्यवहार में आने वाले कार्य विभाजित हो सकते हैं और आमतौर पर विभाजित होते हैं क्योंकि वे कार्य स्थानीय निकायों और विभागों के बीच सम्पन्न किए जाते हैं। फिर भी यह कहना सत्य है कि इन सभी के बीच एक ही तारतम्य रहता है। सरकार का कोई भी कार्य शून्य में नहीं होता क्योंकि प्रत्येक कार्य किसी अन्य कार्य की प्रतिक्रिया होती है और विभिन्न प्रकार के तब तक व्यवस्थित प्रगति लाने के लिए काम नहीं कर सकते जब तक कि उनमें संतुलन करने की शक्ति न हो। अन्यथा एक विभाग में निरूपति नीति अन्य विभागों की ओर से सहायक कार्यों के अभाव में सफल होने के बजाए असफल हो सकती है। संतुलन की शक्ति केवल सामूहिक उत्तरदायित्व के नियम में ही पायी जा सकती है। यह इसलिए क्योंकि इसके अंतर्गत जैसा कि हर्न ने बताया है[1] :–

> ''प्रत्येक मंत्री अपने विभाग में अपने साथियों के मान्यता प्राप्त एजेंट के रूप में कार्य करता है फिर भी उस विभाग में सांझा निकाय द्वारा जांच पड़ताल और नियंत्रण के अधीन होता है। परन्तु ऐसे सभी मामलों में जिनमें किसी भी कठिनाई के उठने की संभावना है प्रत्येक मंत्री केवल बुद्धिमत्ता के आधार पर प्रेरणा से नहीं अपितु आदर से मंत्रिमंडल की राय लेता है। जब चेतावनी दी जाती है तो यह कार्यवाही मंत्रालय का आम कार्य हो जाता है।''

सही हो या गलत यह फिर भी एक आम समन्वित नीति होती है जो सामूहिक उत्तरदायित्व पर आधारित एकीकृत सरकार का मार्गदर्शन करती है। परन्तु सरकारी कार्य में विभाजन करने के बाद द्विशासन के बारे में यह कहना चाहिए कि उसने कार्यपालिका में विभाजित उत्तरदायित्व का तत्त्व प्रारंभ किया है। यह सही है कि यह विभाजन

---

1. द *गवर्नमेंट ऑफ इंग्लैंड*, पृ. 204

सपाट नहीं होता अपितु ऊर्ध्वाकार (खड़ा) होता है। यह भी सही है कि इन दोनों भागों को कार्य में स्थापित करने पर इस बात की व्यवस्था नहीं की गई है कि दो अलग-अलग कार्यपालिकाओं के लिए दो अलग-अलग विधानमंडल होने चाहिए अथवा प्रत्येक को अपने कानून बनाने चाहिए, अपने वित्त पर नियंत्रण रखना चाहिए, अपना बजट तैयार करना चाहिए, अपने कराधान लगाए जाएं अपने ऋण लिए जाएं। अथवा प्रत्येक को अपने लिए आबंटित विषयों के प्रशासन के लिए अलग-अलग स्टाफ होना चाहिए और भर्ती के अपने तरीके होने चाहिए, अपनी सेवाओं में कार्यरत व्यक्तियों के लिए अलग-अलग वेतन और पेंशन होनी चाहिए, ताकि दोनों अधिकारी वास्तव में स्पष्ट रूप से विशेष रूप से अपने कार्यक्षेत्रों की व्याखया कर सकें। वास्तव में भारत सरकार ने यह सुझाव दिया था कि यदि सभी न होकर कुछ विशेष दोहरी कार्यपालिका के इन सहवर्ती विषयों को उस द्विशासन पद्धति का अंग होना चाहिए जो प्रांतों की सरकार को चलाने के लिए स्वीकार किए जाते हैं। सौभाग्यवश देश के लिए नए संविधान के निर्माताओं ने यह निर्णय किया[1] :-

> ''बुद्धिमत्ता इसमें है कि अलग-अलग तत्त्वों में से प्रत्येक को अपने ही समग्र साज-सामान से सुसज्जित नहीं करना चाहिए और उनके परिक्रमा पथ पर विश्वास करना चाहिए जो एक-दूसरे से टकराव से काफी दूर रखे जाते हैं, परन्तु ऐसे प्रत्येक अवसर को ध्यान में रखना चाहिए ताकि इन दोनों को समीप में लाया जाए और संयुक्त कार्यो की आदतों से प्रेरित किया जाए।''
> संयुक्त रिपोर्ट[2] के लेखकों ने लिखा है कि यह हमारा इरादा है कि इस प्रकार बनाई गई सरकार और उसके अलग-अलग कार्यो को एक सरकार के रूप में निभाया जाएगा।''
>
> प्रांतीय बजट सरकार द्वारा कुल मिलाकर तैयार किया जाना चाहिए।[3]

इसमें कोई संदेह नहीं था कि द्विशासन की कार्य पद्धति में संशोधन किया जाए और इसे दो सिद्धांतों के परस्पर कार्यो के अधीन रखा जाए। इसका एक भाग व्यवस्थित था कि यथासंभव सरकार तथा संघ के दो भागों के कई उत्तरदायित्वों की स्पष्ट परिभाषा की जाए ताकि उन दोनों भागों के बीच उद्देश्यों और नीति की साझेदारी हो। कार्यपालिका के प्रत्येक भाग को अलग-अलग साज-सामान से सुसज्जित करना किसी से क्या कम होगा। परन्तु चूंकि एक ऐसी समझ है कि जब मंत्रीगण अंतरित विषयों के मामले में कार्य करेंगे तब परामर्शदाता उन्हें सलाह देंगे और जब परामर्शदाता अंतरित विषयों के मामलों में कार्य करेंगे तब मंत्रीगण उन्हें

1. संयुक्त रिपोर्ट, पृष्ठ 199
2. वही, पृष्ठ 180
3. वही, पृष्ठ 207

सलाह देंगे इससे इस तथ्य में कोई परिवर्तन नहीं होगा कि द्विशासन की पद्धति विभाजित उत्तरदायित्व की पद्धति होती है। यह ऐसी पद्धति नहीं है जो सरकार के कार्य को सामंजस्यता से चलाने तथा आम नीति के अनुसार आश्वस्त करती है। दूसरी ओर यह ऐसी पद्धति है जो संगठित झगड़े से भरपूर होती है। द्विशासन और अराजकता में विभाजन रेखा बहुत क्षीण होती है। यदि इस प्रकार की पद्धति व्यवहार में काम नहीं आती तो इसकी दो अस्थाई परिस्थितियां होती हैं। एक परिस्थिति में ऐसा प्रांतीय विधान-मंडल निहित होता है जो राजनीतिक मतभेदों द्वारा अपनी शक्ति के नष्ट होने से कमजोर हो जाता है। दूसरी परिस्थिति में मंत्रियों की अवधि निहित होती है जो विधान-मंडल की इच्छा पर निर्भर नहीं करती परन्तु विधान-मंडल की अवधि पर निर्भर करती है और जो गवर्नर की इच्छा के दौरान अपना स्थान बनाए रखती है। गवर्नर विधान-मंडल द्वारा निर्वाचित मंत्रियों को स्वीकार करने के बजाए विधान-मंडल के निर्वाचित सदस्यों में से मंत्रियों का चयन करने की अनुमति प्राप्त करे तो यह ऐसी उत्तरदायी सरकार के सिद्धांत का घोर अपमान है जो सुधार अधिनियम का प्रकट रूप से उद्देश्य है। एक मंत्री जिसे गवर्नर का विश्वास प्राप्त है और एक अन्य मंत्री जिसे विधान-मंडल का विश्वास प्राप्त है दोनों ही नितांत अलग-अलग होते हैं। जहां तक एक अच्छी सरकार का संबंध है इन दोनों के बीच कितना अधिक अंतर होता है। 18वीं और 19वीं शताब्दी के इंगलिश राजनीतिक इतिहास के पृष्ठों में यह स्पष्ट रूप से लेखबद्ध है। इस प्रकार की पद्धति विरोध के रूप में स्वीकार की जानी चाहिए जैसा कि समग्र इंगलिश संवैधानिक इतिहास में बृहद विरोध है और यह अलबत्ता किसी कारण के बिना नहीं हो सकती। इसका तथाकथित कारण बताया गया है कि[1] :-

> ''विधानमंडल को मंत्रियों के बर्खास्त करने की शक्ति का कोई अनुभव न था अथवा इस शक्ति के प्रयोग के परिणामों का कोई अनुभव प्राप्त था। भारत में कोई भी व्यक्ति उन दायित्वों से अभी तक परिचित नहीं है जो प्रतिनिधित्व करने वाली विधानसभा की इच्छा पर पद की कार्यवाही द्वारा आरोपित किए गए हों। यह केवल वास्तविक अनुभव है कि इस स्थिति से यह सीखा जा सकता है.... (विधानमंडल) के निर्वाचित सदस्यों से मंत्रियों की नियुक्ति की युक्ति द्वारा और उनकी सीटों के रखे जाने पर पद की शर्त कार्यावधि को बनाए रखना जो उत्तरदायित्व के किसी कानून द्वारा एक बार स्थापित की गई हों और जो उनके संघटक के उत्तरदायित्व के रूप में हों और इस प्रकार ऐसे मामलों की शर्त समाप्त करने के लिए हों जिनमें उन्हें प्रशासन का उत्तरदायित्व दिया गया हो, उन निर्वाचितों के प्रति पूर्णतया अनुत्तरदायी हैं जिन्होंने उन्हें (विधान-मंडल) निर्वाचित किया है।''

---

1. संयुक्त रिपोर्ट, पृ. 181

इस तर्क की अकाट्यता में विश्वास करना कठिन है। यह तर्क करना कि अनुभव के बिना कुछ भी नहीं सीखा जा सकता यह बात अनर्गल है। किसी भी व्यक्ति अथवा ग्रुप के लिए उचित व्यवहार देने के लिए आवश्यक है चीजों के अर्थ और मूल्य को समझना। यह अनावश्यक है कि वास्तविक परीक्षा में से गुजरा जाए। उत्तरदायी व्यक्तियों से निर्मित विधान-मंडल पर विश्वास किया जा सकता है कि उन्हें इस बात का ज्ञान हो कि एक मंत्री को अनुभव प्राप्त किए बिना उसे प्रारंभ में ही बर्खास्त करने से क्या परिणाम निकलेंगे?

फिर भी यह तर्क दिया जाता है कि यह पद्धति कम उत्तरदायी नहीं है क्योंकि मंत्रीगण अपने निर्वाचकों के प्रति उत्तरदायी होते हैं, यह बात ओछा पांडित्य प्रदर्शन है। निस्संदेह आस्टिन[1] द्वारा इंगलिश संविधान के संबंध में यह तर्क दिया गया कि "हाउस ऑफ कामन्स उस निकाय के केवल न्यासधारी थे जिसके द्वारा उसका निर्वाचन किया गया और उनकी नियुक्ति की गई।" यह कहना सही है कि राजनीतिक भावना में निर्वाचक सबसे महत्त्वपूर्ण अंग होते हैं, हम यहां तक कह सकते हैं वे वास्तव में प्रभुसत्ता सम्पन्न शक्ति होते हैं क्योंकि उनकी इच्छा प्रत्येक सरकार की प्रतिनिधित्व पद्धति के अधीन होती है और निश्चय ही अंतिम आज्ञाकारिता को प्राप्त कर लेते हैं। परन्तु जैसा कि प्रो. डायसी ने लिखा है[2] :-

> "ऐसी कोई भी अभिव्यक्ति जो कानून निर्माण की प्रक्रिया में संसदीय निर्वाचकों को श्रेय देती है, वे निर्वाचकों की स्थिति के कानून द्वारा बिल्कुल ही असंगत होती है। इंगलिश संविधान (और भारतीय संविधान के अधीन भी वही सही है) के अधीन निर्वाचकों का एकाकी कानूनी अधिकार संसद के सदस्यों का निर्वाचन करना है। निर्वाचन को संसद के विधान को प्रारंभ करने, स्वीकार करने अथवा निरस्त करने का कोई वैध साधन प्राप्त नहीं है। कोई भी न्यायपालक एक क्षण के लिए भी यह दलील नहीं सुनेगा कि ऐसा कानून अमान्य है जो निर्वाचक के मतानुसार उसका विरोधी है।"

और यही भारतीय निर्वाचकों की प्रतिष्ठा को सही तौर पर परिभाषित करता है। किसी भी मंत्री को ऐसी अस्तित्व विहीनता के लिए उत्तरदायी ठहराना उसे वास्तव में अनुत्तरदायी बनाना है। इस पर कठिनाई से विश्वास किया जा सकता है कि संविधान के रचियता मंत्रियों की नियुक्ति के इस विशेष तरीके को प्रस्तावित करते समय उन विचारों के प्रति सजग नहीं थे। इससे अधिक संभावना इस बात की है कि मंत्रियों की नियुक्ति का यह विशेष तरीका स्वीकार किया गया क्योंकि इसने उस व्यक्ति

---

1. ज्यूरिसप्रुडेन्स, खंड 1, चौथा संस्करण, पृ. 253
2. सविधान का नियम, आठवां संस्करण, 1915, पृ. 57

के चयन करने की अनुमति दी जो आरक्षित जनता के प्रभारी लोगों को सहयोग देने के लिए तैयार था और जो विधान-मंडल द्वारा हटाया नहीं जा सकता था। ऐसा व्यक्ति विधान-मंडल की इच्छाओं के अनुकूल काम करने के लिए बहुत कम प्रेरित किया जा सकता था। परन्तु मंत्रीगण विधानमंडल के दंड से बिल्कुल वंचित नहीं किए जा सकते। उस मंत्री की स्थिति जिसने विधान परिषद् के सदस्यों से मित्रता कर ली है और जो बजट के अवसरों पर समझाने में असफल नहीं हो सकते थे और विधान-मंडल के पक्ष में स्वयं को कृपापात्र बनाने में असफल हुआ है की दयनीयता को भली प्रकार समझा जा सकता है। बजट में समाहित मंत्री के प्रस्ताव विधान-मंडल के बहुमत से प्रतिवर्तित हो जाएंगे परन्तु न तो वह और न गवर्नर हस्तक्षेप करेगा। मंत्री के लिए त्यागपत्र देने के अलावा अन्य कोई साधन नहीं रह जाता है।

चाहे कुछ भी हो कहने के लिए इन परिस्थितियों ने असफल होने से द्विशासन को बचाया परन्तु ये परिस्थितियां अस्थाई हैं। राजनीतिक मतभेद अस्थाई होते हैं और सुधार किए गए विधान-मंडल के दूसरे सत्र से सभी मंत्री उसके प्रति उत्तरदायी हो जाएंगे ताकि शक्तियों को अधिक संगठित किया जाए जैसा कि वे हैं जब द्विशासन अवश्य ही असफल हो जाता है।

परस्पर विरोधी विचारों वाली कार्यपालिकाएं विभाजित उत्तरदायित्व, कार्यों का विभाजन और शक्तियों का आरक्षण सरकार की अच्छी पद्धति नहीं बना सकती और जहां सरकार की अच्छी पद्धति नहीं है वहां वित्त की ठोस पद्धति की बहुत कम आशा हो सकती है। इसका प्रारंभिक समाधान यह है कि सामूहिक उत्तरदायित्व के साथ अविभाजित सरकार होनी चाहिए। फिर भी यह केवल उसी दशा में उपलब्ध की जा सकती है जब संपूर्ण सरकार आम स्रोत से अपना अधिदेश प्राप्त करे। इस प्रकार का निष्पादन यथा संभव शीघ्रता से किया जाना चाहिए और इसकी श्रद्धा भाव से इच्छा की जानी चाहिए। इस दिशा में यह जानना प्रोत्साहित करने वाला है कि द्विशासन केवल अस्थाई पद्धति होती है। प्रश्न यह है कि कितनी लंबी और कितनी विस्तृत अवधि अस्थाई अवधि होगी। सरकार के द्विशासकीय रूप के प्रारंभ करने का औचित्य इस अनुमान पर आधारित है कि भारत अपनी पूर्णता में उत्तरदायी सरकार की पद्धति को बनाए रखने के लिए इस समय तैयार नहीं है क्योंकि शैक्षिक और राजनीतिक अनुभव का अभाव है, क्योंकि भारतीय निर्वाचकगण कुछ समय के लिए अपनी आवश्यकताओं को बुद्धिमत्ता अथवा प्रभावकारी ढंग से बनाने के लिए अक्षम हैं और अपने प्रतिनिधियों पर प्रभावी ढंग से अधिदेश आरोपित करने में असमर्थ हैं और शिक्षित वर्गों द्वारा पुराने सामाजिक पक्षपातों के कारण जनता के शोषण का राजनीतिक शक्ति के दुरुपयोग से गंभीर खतरा है। यह कहा गया कि इस आधारभूत तथ्य को उत्तरदायित्व की डिग्री और प्रकार में अंतर करना चाहिए जो प्रारंभ से ही लागू की जा सकती है और इसके फलस्वरूप नई पद्धति उदित होगी और यह

आश्वस्त करने के दायित्व को आरोपित करना चाहिए जो अब लोगों को परस्पर मिलाए हुए हैं तथा संतोषजनक स्थानापन्न लोगों को अपना स्थान ग्रहण करने से पूर्व उन्हें पूरी तरह से हटाए हुए नहीं है। दूसरी ओर इस बात पर जोर[1] दिया गया है कि इस बात की आवश्यकता नहीं है कि तब तक प्रतीक्षा की जाए जब तक आधारभूत तथ्य लुप्त हो जाता है, क्योंकि–

> ''सभी देशों में प्रारंभ में उत्तरदायित्व कुछ ही लोगों को सौंपा गया है और कुछ ही शिक्षित अल्पसंख्यकों के हाथ में शासन की बागडोर रही है जिन्होंने स्वाभाविक रूप से शिक्षा के प्रसार के अनिर्णीत होने और इसके फलस्वरूप मतदान करने के विस्तार तक अशिक्षित जनता के हितों की चिंता की है।''

अलबत्ता यह तर्क की परिचित रेखा है जिसे भारत में राजनीतिक उग्र सुधारवादियों और सामाजिक अनुदारवादियों (टोरियों) द्वारा पूर्ववत् प्रस्तुत किया गया है। यदि हम उस कठोर, क्रूर और अमानवीय व्यवहार की दुखद कहानी को अलग कर दें जिसे भारत के उच्च वर्गों ने जनता को प्रदान किया है, तो सच्चाई उनकी ओर है; क्योंकि प्रत्येक देश में ऐसे पददलित समुदाय हैं जो सामाजिक दमन और सामाजिक अन्याय से पीड़ित हैं और फिर भी ऐसा कोई देश नहीं है कि यह सब राजनीतिक शक्ति के बिना ऐसा हुआ हो। परन्तु ऐसे व्यक्ति जो इस तर्क का प्रयोग करते हैं यह भूल जाते हैं कि यदि अन्य देश यथा नीग्रो लोगों के साथ अमरीका तथा हितास के साथ जापान सर्वप्रथम सामाजिक असमानता को दूर किए बिना राजनीतिक सत्ता को अपने हाथ में लिए हुए हैं इसका कारण यह है कि उनके हाथ में सैन्य-शक्ति है। सैन्य-शक्ति तथा नैतिक बल राजनीतिक स्वतंत्रता के दो प्रमुख साधन हैं और जो देश प्रथम प्रकार को उत्पन्न नहीं कर सकता उसे दूसरे प्रकार को उत्पन्न करना चाहिए। इस तरह भारत में यह नितांत सामाजिक समस्या है और इसके समाधान का स्थगन वस्तुत: उस दिन को स्थगित करता है जब भारत किसी अन्य के अधिदेश के बिना अपने ही लोगों के अधिदेश के अधीन स्वतंत्र सरकार बना सकेगा।

---

1. देखिए– गवर्नमेंट ऑफ इंडिया बिल की संयुक्त चयन समिति के समक्ष माननीय श्री बी.जे. पटेल और श्री माधवराव का साक्ष्य, *हाउस ऑफ कामन्स रिटर्न,* 203 सन् 1919, पृष्ठ 106

ग्रंथ-सूची

प्रस्तुत ग्रंथ में लेखक द्वारा जिन पुस्तकों, प्रतिवेदनों और पत्रिकाओं से संदर्भ उद्धृत किए गए हैं उनकी सूची यहां दी गई है।

पुस्तक 2 : ब्रिटिश भारत में प्रांतीय वित्त व्यवस्था का विकास

पुस्तकें, प्रतिवेदन और पत्रिकाएं

- आस्टिन : ज्यूरिसप्रूडेंस, खंड 1 (चतुर्थ संस्करण)
- ब्राइस, जेम्स : दि अमेरिकन कामनवैल्थ, 1910
- बुकानन, डॉ. फ्रांसिस : जर्नी फ्राम मद्रास, खंड 2
- बर्क, सर एडमंड : रिफ्लैक्शन्स आन दि रिवोल्यूशन इन फ्रांस।
- कैलकटा रिव्यू, 16, 1851
- कावेल, हर्बर्ट : दि हिस्ट्री ऑफ दि कन्स्टीट्यूशन ऑफ कोर्ट्स एंड लेजिस्लेटिव अथारिटीज इन इंडिया, कलकत्ता।
- डायसी, ए.वी. : ला ऑफ दि कन्स्टीट्यूशन, (आठवां संस्करण), 1915
- फिशर, एच.ए.एल. : दि एम्पायर एंड दि फ्यूचर, 1916
- फ्रेरे, सर बी : मिनट पेपर्स ऑन दि एक्सटेंशन ऑफ फायनेंसियल पावर्स टू लोकल गवर्नमेंट्स 1860
- घोष, एन. : कम्पेरेटिव एडमिनिस्ट्रेटिव ला, 1918
- हेल्सबरी : लाज ऑफ इंग्लैंड।
- हफटन, बर्नार्ड : ब्यूरोक्रेटिक गवर्नमेंट।
- हर्न : दि गवर्नमेंट ऑफ इंग्लैंड।
- हैंडरिक्स : पार्लियामेंट्री कमिटी ऑन ट्रेड, 1821
- हंटर, डब्ल्यू. डब्ल्यू. : लाइफ ऑफ मेयो, खंड 1
- केलकर, एल. सी. : दि केस फौर इंडियन होम रूल।
- लो. सर सिडनी : दि गवर्नेस ऑफ इंग्लैंड, 1914
- मैन्सफील्ड, सर डब्ल्यू. आर. : मिनट्स पेपर्स ईटीसी आन दी एक्सटेंशन ऑफ फायनेंसियल पावर्स टू लोकल गवर्नमेंट्स, 1867
- मार्टिन, एम. : ईस्टर्न इंडिया, 3 खंड।
- रघुवैयंगर : प्राग्रेस ऑफ दि मद्रास प्रेसीडेंसी, 1893
- रेडलिच, जे. : पार्लियामेंट्री प्रोसीज्युर
- सेलिगमैन, प्रो. ई. आर. ए. : एसेज इन टैक्सेशन, 8वां संस्करण), 1913
- स्ट्रैची, हान. जान : दि एडमि. ऑफ दि अर्ल ऑफ मेयो एज. वायसराय एंड गवर्नर जनरल ऑफ इंडिया; गवर्नमेंट प्रिटिंग प्रेस, कलकत्ता, 1872
- स्ट्रैची, कर्नल आर. : नोट – इन फिनलेज, हिस्ट्री ऑफ प्रोविन्सियल फायनेंसियल अरेंजमेंट्स, 1867
- सायक्स, कर्नल : पास्ट, प्रेजेंट एंड प्रोस्पैक्टिव फायनेंसियल कंडीशन ऑफ

ब्रिटिश इंडिया, जर्नल ऑफ दि रायल स्टैटिसटीकल सोसायटी खंड 23, 1859

- टैम्पिल, सर रिचार्ड : पेपर्स ईटीसी आन दि एक्सटेंशन ऑफ फायनेंसियल पावर्स, 1867
- थार्नटन (एडी) : स्टेटिसटीकल पेपर्स रिलेटिव टू ब्रिटिश इंडिया, 1853
- ट्रेवेलियन : सिस्टम ऑफ ट्रांजिट एंड टाउन डयूटीज इन दि बंगाल प्रेसीडेंसी।
- वेंकटरामैया, वाई. : एंकाउटेंट्स मैन्युअल, मद्रास, 1866
- वाइन वर्ज : सेपरेशन ऑफ स्टेट एंड लोकल ऐवेन्यूज इन कनाडा।
- वैव, एस. : ग्रांट्स-इन-एड, 1911
- वैस्ट : सर चार्ल्स वुड्स एडमिनिस्ट्रेशन।
- रिपोर्ट ऑफ दि सिविल फायनेंस कमिटी आन नेटिव एस्टेब्लिशमेंट एट दी थ्री प्रेसीडेंसीज, 1830
- रिपोर्ट ऑफ दि रायल कमीशन आन डिसेन्ट्रलाइजेशन इन ब्रिटिश इंडिया, 1909
- रिपोर्ट ऑफ दि कमिटी आन दि अफेयर्स ऑफ दि ईस्ट इंडिया कंपनी, 1852
- रिपोर्ट ऑफ दि कमिटी आन इंडियन कन्स्टीट्यूशनल रिफोर्मस, 1918
- रिपोर्ट ऑफ दि जौयन्ट सिलैक्ट कमिटी आन दि गवर्नमेंट ऑफ इंडिया बिल, 1919
- रिपोर्ट ऑफ दि कमिटी अपौइन्टैड बाई दी सेक्रेटरी ऑफ स्टेट फॉर इंडिया आन दि क्वैशचन ऑफ दि सेन्ट्रल एंड प्रोविन्शियल गवर्नमेंट्स इन इंडिया।
- रिपोर्ट एंड एवीडेंस ऑफ दि कमिटी आन ईस्ट इंडिया प्रोडयूस, 1846
- रायल कमीशन ऑन लोकल टैक्शेसन इन इंग्लैंड, खंड 1
- सैकिंड रिपोर्ट ऑफ दि जौइन्ट कमिटी : गवर्नमेंट ऑफ इंडिया एकट, 1920
- रिपोर्ट ऑफ मेजर जनरल हैन कौक आन दि रि आर्गेनाइजेशन ऑफ दि इंडियन आर्मी।
- हाउस ऑफ कामन्स रिटर्न 33, (1860) 307 (1861) 326 (1874) 207 (1919)
- हांसार्ड् पार्लियामेंट्री डिबेट्स, 1868
- एनुअल फायनेंसियल स्टेटमेंट्स फॉर दि आफीशियल ईयर्स, 1860-61 टू 1873-74, कलकत्ता, 1873
- फायनेंसियल स्टेटमेंट्स ऑफ गवर्नमेंट ऑफ इंडिया, 1879-80, 1902-03
- एनुअल फायनेंस एंड रेवेन्यू एकाउन्ट्स ऑफ गवर्नमेंट ऑफ इंडिया।
- लेजिस्लेटिव एसेम्बली डिबेट्स, खंड 3
- मद्रास मैनुअल, खंड 1
- सिविल एकाउन्ट्स कोड
- मौरल एंड मैटीरियल प्रोग्रेस रिपोर्ट फॉर 1882-3
- पार्लियामेंटरी पेपर्स, 1859 : रिपोर्ट ऑफ मेजर जनरल हैनकाक आन दि रि आर्गनाइजेश्न ऑफ दि इंडियन आर्मी

अनुक्रमणिका

पुस्तक 1 : ईस्ट इंडिया कंपनी का प्रशासन और वित्त प्रबंध

अनुक्रमणिका

पुस्तक 2 : ब्रिटिश भारत में वित्त व्यवस्था का विकास

☎ 23320571
23320589
23320576
FAX : 23320582

डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान
DR. AMBEDKAR FOUNDATION

सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्रालय
MINISTRY OF SOCIAL JUSTICE AND EMPOWERMENT
भारत सरकार
GOVERNMENT OF INDIA

निदेशक
DIRECTOR

15, जनपथ,
15, JANPATH
नई दिल्ली - 110001
NEW DELHI-110001

दिनांक – 31.10.2019

रियायत नीति (Discount Policy)

सक्षम प्राधिकारी द्वारा यह निर्णय लिया गया है कि पहले के नियमों के अनुसार CWBA वॉल्यूम के संबंध में रियायत नीति (Discount Policy) जारी रखें। तदनुसार, CWBA इंग्लिश वॉल्यूम (डिलक्स संस्करण–हार्ड बाउंड) के एक पूर्ण सेट की कीमत और CWBA हिंदी वॉल्यूम (लोकप्रिय संस्करण–पेपर बाउंड) के एक पूरे सेट की कीमत निम्नानुसार होगी :

क्र.सं.	सीडब्ल्यूबीए सेट	रियायती मूल्य प्रति सेट
	अंग्रेजी सेट (डिलक्स संस्करण) (वॉल्यूम 1 से वॉल्यूम 17)– 20 पुस्तकें।	रू 2,250/–
	हिंदी सेट (लोकप्रिय संस्करण) (खंड 1 से खंड 40 तक)– 40 पुस्तकें।	रू 1073/–

2. एक से अधिक सेट के खरीदारों को सेट की मूल लागत (Original Rates) यानी रू 3,000/–(अंग्रेजी के लिए) और रू 1,430/–(हिंदी के लिए) पर छूट मिलेगी जो कि निम्नानुसार है।

क्र.सं.	विशेष	मूल लागत पर छूट का प्रतिशत
	रू 1000/– रुपये तक की पुस्तकों की खरीद पर	10%
	रू 1001–10,000/– रुपये तक की पुस्तकों की खरीद पर	25%
	रू 10,001–50,000/– रुपये तक की पुस्तकों की खरीद पर	33.3%
	रू 50,001–2,00,000/– रुपये तक की पुस्तकों की खरीद पर	40%
	रू 2,00,000/– से ऊपर की पुस्तकों की खरीद पर	45%

3. इच्छुक खरीदार प्रतिष्ठान की वेबसाइट : www.ambedkarfoundation.nic.in पर विवरण के लिए जा सकते हैं। संबंधित CWBA अधिकारी / पीआरओ को स्पष्टीकरण के लिए दूरभाष नंबर 011–23320588, पर कार्य दिवसों में पूर्वाह्न 11:30 बजे से शाम 5:30 बजे तक संपर्क किया जा सकता है।

(देबेन्द्र प्रसाद माझी)
निदेशक, डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान

बाबासाहेब डॉ. अम्बेडकर सम्पूर्ण वाङ्मय

ISBN (सेट) : 978-93-5109-149-3

रियायत नीति के अनुसार
सामान्य (पेपरबैक) खंड 01-40
के 1 सेट का मूल्य : ₹ 1073/-

प्रकाशक :

डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान
सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्रालय
भारत सरकार
15, जनपथ, नई दिल्ली – 110 001
फोन : 011–23320571
जनसंपर्क अधिकारी फोन : 011–23320588
वेबसाइट : http://drambedkarwritings.gov.in
ईमेल : cwbadaf17@gmail.com